जैनेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

सम्पादक

सत्यप्रकाश मिलिन्द

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।

प्रकाशक : सूर्य-प्रकाशन,
नई सड़क, दिल्ली ।

मुद्रक : शिवजी मुद्रणालय,
किनारी बाजार, दिल्ली ।

पृष्ठ संख्या : २५६+१६=२७२

प्रथम संस्करण : वसन्त-पंचमी, १९६३.

मूल्य : सात रुपये मात्र

लेख और लेखक

प्रिय मिलिन्द जी,

आपने जैनेन्द्र पर पुस्तक तैयार की है और आज्ञा हुई है कि मैं भी कुछ कहूँ। क्या कहूँ ? लेखक मैं किसी विचार या चुनाव से नहीं बना। असल में जिस में किया-धरा जाता है उस दुनिया के मैं सर्वथा अयोग्य सिद्ध हो चुका था। इस तरह कर्म और घटना के जगत् पर मेरी कोई पकड़ नहीं थी। अब तक भी वैसी पकड़ हो पाई है, इसमें सन्देह है। काम का जो आदमी नहीं होगा, उसके भाग्य में शायद यही है कि वह ख्याल का रह जाये। मेरे साथ ऐसा ही संयोग घटित हुआ। लिखना किसी जानकारी में से नहीं आरंभ हुआ, बल्कि खाम-ख्याली में से जबरदस्ती शुरू हो बैठा। हिन्दी-साहित्य में मेरा प्रवेश अनधिकृत और सर्वथा सांयोगिक था। मुझे खुद इसकी कल्पना भी न थी और आरम्भ आ गया तब भी पता न था। कुछ ऐसा लगता है कि त्रुटि ही आगे जाकर मेरी विशेषता मानी जाने लगी। कार्य-जगत् में जो अनधिकार था, शायद कारण-जगत् में उतरने पर वही अधिकार समझा जाने लगा। समाज हटकर व्यक्ति और भौतिक हटकर मानसिक यदि मेरे लिखने में अधिक आया हो तो इसका कारण मेरी यही असमर्थता थी। बीच में दिन आये कि लम्बे काल तक कुछ नहीं भी लिखा। यानी अपनी लेखनी के प्रति मेरा ध्यान पर्याप्त नहीं रहा। उस रूप में किसी दायित्व को भी मैंने अपने ऊपर अनुभव नहीं किया है। परिणाम उसका इष्टानिष्ट जो भी हुआ हो, लेकिन ऐसा लगता है कि जिस नियति में बंधा था उससे अन्यथा और अनंत्त में कुछ कर नहीं सकता।

आपके प्रति मैं और क्या कह सकता हूँ ? इतना ही है कि जिसने अपने लेख में जो भी कहा हो, अपनी दृष्टि के आधार पर ही कहा होगा। श्रेय भी दिया जा सकता है, उसी भाँति अश्रेय भी दिया जा सकता है। और वह सब ही स ी है। लेकिन आपने यह कष्ट क्यों उठाया और लिखने वालों ने लिखने में समय क्यों गँवाया, मैं ठीक समझ पाता नहीं हूँ। इसलिए यह भी पता नहीं कि मुझे अपने को उस सबके लिए कृतज्ञ मानना चाहिए या क्या ? जो हो आप अपने प्रयत्न में जिस मात्रा तक सफल हो सके हैं, उस तक आप सन्तुष्ट भी होंगे और अपनी ओर देखते हुए मैं आपके सन्तोष पर ईर्ष्या अवश्य कर सकता हूँ।

आपका सस्नेह,

१८-१२-६२ **जैनेन्द्र कुमार।**

सम्पादकीय

जैनेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

"चिन्तन और क्रियाशीलता, दोनों के दर्शन यदि एक व्यक्ति में करने हैं, तो आप जैनेन्द्र जी से मिलिये।" मेरे ये शब्द सुनकर बाहर से आये मेरे एक परिचित बहुत ही चौंके और लगे कहने—"वाह मिलिन्द जी, आप भी खूब कहते हैं। बहते पानी में तो जिन्दगी होती भी है। बरसों तक मौन बैठ रहे जैनेन्द्र जी के साहित्य में आप प्रेरणा और प्रोत्साहन ढूंढने की बात करते हैं? यह भी एक ही रही।" उसी समय मुझे याद आया कि एक बार एक साहित्यकार मित्र ने भी, जिनका जैनेन्द्र जी से खासा सम्बन्ध रह चुका था, उनके बारे में मुझे अपने एक पत्र में लिखा था, "जैनेन्द्र जी के साहित्य से अधिक मुझे उनके व्यक्ति पर कहना है, पर उस कहने में खेद है, मिठास नहीं।" लेकिन दूसरी ओर मेरे कानों में डाक्टर देवराज के ये शब्द बराबर रह रहकर गूंजते हैं कि, "......जैनेन्द्र की प्रतिभा अप्रतिद्वन्द्विनी है। बौद्धिक गहनता और नैतिक सूक्ष्म विश्लेषण में, शायद, हमारे देश का कोई उपन्यासकार उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि और कला युग-युग की जिज्ञासा और वेदना में प्रतिष्ठित है।"

इस प्रकार की विरोधी घटनाओं और आकस्मिक और अप्रत्याशित प्रहारों तथा आशंसाओं ने मेरे इस विश्वास को प्रबलतर बना दिया कि जैनेन्द्र-साहित्य का क्रमिक अध्ययन किए बिना "जैनेन्द्र-पहेली" समझ में नहीं आएगी। मैंने एक जिज्ञासु की भाँति जैनेन्द्र जी से इन प्रचलित धारणाओं को लेकर कुछ जानकारी चाही थी। तो उन्होंने मुझे लिखा था, "मैं जैसे सोच पाता हूँ, उसमें अपने अलावा दोष रखने को कहीं जगह नहीं मिलती है। जमाने को या दुनियाँ को दोष देना अपना क्षोभ उतारना है। मशीनवादी सभ्यता ने मानव-सम्बन्धों में विष डाला है, यह मानकर भी आस्था क्यों खोना?"

मैं इन पंक्तियों को पढ़कर निश्चित अभिमत बना सका कि जैनेन्द्र साहित्य में "तात्त्विक चिन्तन" अधिक है और उनकी साहित्यिक सूक्ष्मता और गहनता की शक्ति अज्ञेय है। लेकिन उन जैसे साहित्यकार, दार्शनिक और विचारक के प्रति कुछेक प्रचलित धारणाएँ उनके व्यक्तित्व अथवा उनकी प्रतिभा को तो ठेस पहुँचाती नहीं।

हाँ, हिन्दी-पाठकों के गम्भीर अध्ययन और ठोस विश्लेषण के लिए एक गहरी चुनौती अवश्य उपस्थित करती हैं।

इन सभी कारणों से मेरे मन में यह विचार प्रबल हो उठा कि हमें जैनेन्द्र-साहित्य का निष्पक्ष और गंभीर अध्ययन करके किसी भी पाठक के आरोपों की रहस्यमयता को अनावृत अवश्य कर देना चाहिये।

जैनेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व का जन्म

जैनेन्द्र के भौतिक स्वरूप को समझने वाले कुछेक व्यक्तियों से मैं एक दिन यों ही प्रसंग छेड़ बैठा कि हमें जैनेन्द्र जी के साहित्य के माध्यम से उनकी मानसिक, सामाजिक और नियतिवादी प्रवृत्तियों को विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कराना चाहिए। इसी ध्येय की पूर्ति को दृष्टि में रखकर मैंने "जैनेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व" में जैनेन्द्र के वास्तविक साहित्यिक स्वरूप को मूर्धन्य विद्वानों के लेखों और उनकी समीक्षाओं के द्वारा उपस्थित करने की चेष्टा की है। ये सभी लेख उन विद्वानों के जैनेन्द्र जी के प्रति उनके अपने ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं और मेरा ध्येय इन्हें संकलित करते समय विभिन्न दर्पणों में जैनेन्द्र जी के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों को ही देखने का रहा है।

जैनेन्द्र की कल्पना को, उनकी भव्य मानवतावादी मूल प्रवृत्ति को और उनके बौद्धिक कर्मलोक के विभिन्न क्रिया-कलापों को समझने की इच्छा से ही मैंने विभिन्न विद्वानों से उनके जैनेन्द्र साहित्य के विषय में विभिन्न मत एकत्रित करके प्रस्तुत ग्रन्थ में उपस्थित कर दिये हैं। इन लेखों से जैनेन्द्र की टेकनीक को, उनके वस्तु-विधान कौशल को और उनकी कला-पटुता को समझने में हमें पर्याप्त सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा ध्रुव विश्वास है।

जीवन-झाँकी

ऐसे साहित्यकार और चिन्तक के कभी-कभी विवादास्पद से व्यक्तित्व को समझने की चेष्टा करते समय आवश्यक हो जाता है कि हम उनके प्रारंभिक जीवन की गतिविधियों पर एक विहंगम दृष्टि डालकर देखते चलें और संक्षेप में उनके जीवन की एक झांकी प्रस्तुत कर दें।

व्यक्ति के निर्माण में उनके माता-पिता का योग अनिवार्य रूप से रहता है। १६०५ में कौड़ियागंज ग्राम में जैनेन्द्र का जन्म रामदेवी बाई जी की कोख से हुआ था। उनके जन्म और प्रारम्भिक जीवन के विषय में हमने उनके मामा स्वर्गीय

महात्मा भगवान् दीन के विचार उनके लेख "बाल जैनेन्द्र" में प्रस्तुत किये हैं। उसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके पिता जी की मृत्यु उनके जन्म के दो वर्ष बाद ही हो गई थी और उनके जीवन-निर्माण में उनकी माता का ही प्रमुख प्रभाव रहा।

जैनेन्द्र-परिवार का परिचय देते हुए महात्मा जी ने एक स्थान पर लिखा है कि—"रामदेवी बाई के कुल मिलाकर छ: बच्चे हुए। तीन छोटी उम्र में चल बसे और तीन आज तक जीवित हैं। दोनों लड़कियाँ बड़ी हैं और लड़का उनसे छोटा। वही छोटा लड़का जैनेन्द्रकुमार के नाम से प्रसिद्ध है और समाज उसे अच्छी तरह जानता है।"

१६०७ में श्रीमती रामदेवी बाई के पतिदेव का देहान्त हो जाने पर जैनेन्द्र का लालन-पालन महात्मा जी की देख-रेख में होने लगा। जैनेन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा ब्रह्मचारी आश्रम जैन गुरुकुल में हुई। यहाँ प्रसंग-वश इस बात का भी उल्लेख कर देना सम्भवत: अनुचित न होगा कि इस साहित्यकार का नाम आनन्दीलाल से जैनेन्द्र होना गुरुकुल की ही देन है। गुरुकुल बन्द हो जाने पर जैनेन्द्र जी ने प्राइवेट विद्यार्थी के रूप में मैट्रिक परीक्षा पंजाब यूनीवर्सिटी से उत्तीर्ण की और इन्टरमीजिएट की पढ़ाई के लिए वे बनारस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गए, लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ होने पर १६२०-२१ में वे पढ़ाई छोड़कर दिल्ली आ गए। कुल मिलाकर वे तीन बार जेल गए।

पहली बार जेल से छूटने के बाद जैनेन्द्र ने दिल्ली में नौकरी की तलाश की, पर उन्हें कोई भी स्थान नहीं मिल पाया। जेल जाने से पूर्व अपनी माता जी की आर्थिक सहायता में जो 'फरनीचर' का काम उन्होंने शुरु किया था, वह भी छूट गया। कई बार मैं एकान्त के क्षणों में सोचता हूँ कि यदि जैनेन्द्र जी को उस समय कोई नौकरी मिल जाती या उनका 'बिज़नैस' चल निकला होता, तो सम्भवत: इस समस्या-मूलक निर्भ्रान्त प्रहरी से हिन्दी-साहित्य सदा-सदा के लिए ही वंचित रह जाता।

गाँधी, शरद् और टालस्टाय की कृतियों से प्रभावित इस निबन्धकार, कहानीकार, उपन्यासकार तथा दार्शनिक के जीवन की कुछेक घटनाओं का विवेचन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्र जी मानव के निर्माण के लिए प्रारम्भ से ही निरन्तर यत्नशील रहे हैं। उन्होंने स्वयं संघर्ष कर सत्य के प्रयोगों द्वारा अपने जीवन को अधिक सार्थक और अन्य व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी बनाने की हर क्षण भरसक चेष्टा की है।

१९२७ में जैनेन्द्र जी अपने मामा महात्मा भगवान् दीन जी के साथ काश्मीर गए थे। उस यात्रा का आँखों देखा हाल, ऐसा लगता है, उन्होंने 'व्यतीत' में प्रस्तुत कर दिया है। वैसे उनके साहित्यिक जीवन का पहला चरण उस दिन उठा था—जब उनकी सबसे पहली कहानी "विशाल भारत" में छपी थी। उस समय जैनेन्द्र को कितना हर्ष हुआ होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उससे पूर्व उन्हें साहित्य के द्वारा एक पाई भी नहीं मिली थी। यहीं से जैनेन्द्र के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ।

कहानीकार जैनेन्द्र

लाख असफलताओं ने जैनेन्द्र के मार्ग को अवरुद्ध किया हो, पर वे हर बार इन अग्नि-परीक्षाओं में कुंदन की तरह चमकते बाहर आये हैं। उनकी अनेक मनो-व्यथाएं और मनोक्षोभ उनकी रचनाओं में अवश्य ही कहीं न कहीं प्रकट हो उठे हैं। उनकी साहित्य की दिशाएँ हैं—उनके उपन्यास, उनकी कहानियां, उनके निबन्ध और उनके दार्शनिक प्रवचन आदि। उनकी इन साहित्यिक उपलब्धियों के एक विशिष्ट अंग 'कहानी' को ही लिया जाये तो हमें पता चलता है कि उनके अनेक कहानी-संकलन प्रकाश में आ चुके हैं। फांसी, वातायन, नीलम देश की राजकन्या, एक रात, दो चिड़िया, पाजेब और जय-सन्धि नामक कहानी-संग्रह तो पाठकों के समक्ष पहले ही आ चुके थे। इधर 'पूर्वोदय' के प्रयास से उनकी कहानियों के आठ संग्रह और भी प्रकाशित हो चुके हैं, जो 'जैनेन्द्र की कहानियां' के नाम से प्रख्यात हैं। जैनेन्द्र की इन कहानियों के विषय में राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने कहा था कि "हिन्दी साहित्य के कथा-क्षेत्र" में रवि और शरत् बाबू को एक ही साथ पाया और वह अब पाया (जैनेन्द्र में)। वे निश्चय ही "कथानक की दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त हिन्दी-कथाकार हैं, जिन्होंने यथेष्ट लोकप्रियता प्राप्त की है तथा जो विशेष अध्ययन की वस्तु माने गये हैं।"

बौद्धिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकार के विचारों से ओत-प्रोत उनकी मनोविज्ञान पर आधारित कहानियों ने जैनेन्द्र को इतना विख्यात बना दिया है। एक आलोचक महोदय का यह कथन सर्वथा सत्य है कि जैनेन्द्र का नारा ही 'कला ईश्वर के लिए' है। वे बहुत प्रबल ईश्वरवादी हैं और कहानियों एवं उपन्यासों में उन्हें अंतिम शरण ईश्वर की ही लेनी होती है।

उपन्यासकार जैनेन्द्र

जैनेन्द्र के उपन्यासों की चर्चा ने उन्हें हिन्दी-साहित्य का प्रख्यात कृतिकार बना दिया है। १६२६ में सर्वप्रथम वे 'परख' के माध्यम से हिन्दी पाठकों के द्वारा परखे गए। उसी साल जैनेन्द्र जी का विवाह भी हो गया और अगले वर्ष उन्हें इसी उपन्यास पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार भी मिल गया। इस प्रकार जैनेन्द्र को पहली बार साहित्यिक कृतियां आय का साधन बनती दीख पड़ीं। १६३२ में उनके उपन्यासों का तांता लग गया। तपोभूमि, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त और जयवर्धन ने हिन्दी-साहित्य की निरंतर श्रीवृद्धि की।

'सुनीता' एक उथल-पुथल सी मचाती आई। उसकी प्रमुख पात्रा 'सुनीता' के अन्तर्द्वंद्व को देखकर मैंने कई बार कोई कड़ी कहीं जोड़नी चाही है, पर मैं असफल रहा हूँ, पर हिन्दी का पाठक उससे बहुत ही प्रभावित हुआ, क्योंकि अपनी व्यथाओं अपने आक्रोशों और अपने भावावेशों को मुट्ठी में भींच कर जिस अद्वितीय प्रतिभा के साथ जैनेन्द्र जी आये थे, उससे ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने पाठक के समक्ष दिल खोलकर रख दिया और उसकी सहानुभूति और सहृदयता को अत्यन्त आसानी से प्राप्त कर लिया। जीवन-संघर्ष की अनेक सीढ़ियों पर कैसे चढ़ा जावे, इसका सरल तरीका आप ढूँढना चाहते हैं तो वकील साहब को 'कल्याणी' में से बुला भेजिये। हिन्दी का पाठक 'व्यतीत' को भी आसानी से विस्मृत नहीं कर सकता। जयन्त और अनिता के प्यार को उपन्यासकार ने अपने ही ढंग से प्रकट किया है और उसकी प्रकाशन-शैली में उसने जीवन की ऊहापोह को एक 'दर्शन' के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। चन्द्री का पदार्पण और कपिला का प्रवेश प्यार की नई मान्यताएँ निर्धारित करने में एक बहुत बड़ी संयोजक कड़ी के रूप में आकर खड़ी हो जाती है। जीवन में हर कर्त्तव्य को आकर्षण-प्रत्याकर्षणों का शिकार बनना होता है। उन्हीं की गतिविधियों को मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं के साथ बांधकर प्रस्तुत करना उपन्यासकार की सफलता है।

इसके उपरान्त जैनेन्द्र जी के मन का दार्शनिक एक साथ सबल हो उठा और वह एक साथ ही साहित्य-सृजन से उदासीन हो गया। कुछ लोगों का कहना है कि जैनेन्द्र ने साहित्य से कमाई की बात को स्वीकार नहीं किया और इसीलिये १२-१३ वर्ष तक उनकी कोई भी रचना हिन्दी-साहित्य के सामने नहीं आ सकी। 'अर्जन' शब्द मूल से मिथ्या है, फिर भी इनके लेखन-कार्य से वह शब्द जुड़ा हुआ है। इसी लिए उन्होंने सोचा कि कमाई ही अगर नहीं करनी तो फिर लिखने का काम भी नहीं करना।

१९५२ में अकस्मात् 'विवर्त्त' के दो परिच्छेद किसी पत्र में छप गये। पाठकों ने इन परिच्छेदों को इतना पसंद किया कि जिज्ञासुओं के आग्रह पर जैनेन्द्र को पुनः साहित्य में आना ही पड़ा।

उपन्यासकार जैनेन्द्र के विषय में मैं बहिन रजनी के मत से पूर्ण रूपेण सहमत हूँ। उनका कहना बिलकुल ही सत्य है कि "जैनेन्द्र सिद्ध कथाकार हैं। वे जो कहना चाहते हैं, उसे प्रभावशाली ढंग से कहने की क्षमता रखते हैं।"

निबन्धकार, वक्ता, चिन्तक, दार्शनिक और विचारक जैनेन्द्र

आचार्य किशोरीलाल मशरूवाला ने एक बार लिखा था कि—"जैनेन्द्र के विचार पढ़कर मैंने ऐसा अनुभव किया जैसा टालस्टाय को पढ़ते समय हुआ था, बल्कि उससे भी विशेष।" यह मत केवल एक ही व्यक्ति का नहीं है, अपितु हिन्दी-साहित्य के कई पाठकों की यही विचारणा है। जैनेन्द्र के निबन्धों को, उनके विचारों को और उनके अभिमतों को समझने के लिए हमें कठिन परिश्रम करना पड़ेगा और उनके साहित्य का गहन अध्ययन करना होगा। इसके लिये जिज्ञासु पाठकों को चाहिये कि वे 'जैनेन्द्र के विचार', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'जड़ की बात', 'पूर्वोदय', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'मंथन', 'सोच-विचार', 'काम, प्रेम और परिवार', 'ये और वे' तथा 'इतस्ततः' का सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण करें।

मैं समझता हूँ कि जैनेन्द्र जी के जीवन में दर्शन पूरी तरह से रम गया है। विचारों के प्रकाशन का उनका अपना ही एक ढंग है। खोया-खोया सा, पर वह उनसे छूटने वाला नहीं है। जैनेन्द्र जी का स्वयं न लिखकर कहानियाँ, निबंध और लेख सीधे टाइपिस्ट को 'डिक्टेट' करते हुये लिखाना भी उनकी अपनी शैली है।

'साहित्य और समाज', 'कला क्या है', 'साहित्य-सृजन', 'साहित्य और नीति' अनेक गम्भीर और विचार पूर्ण विषयों पर जैनेन्द्र के निबन्ध पाठकों के समक्ष आये हैं।

जैनेन्द्र के निबन्धों की अपनी ही एक शैली है, और उन्होंने अपनी लीक खुद बनाई है। भाषा के घिसे-पिटे रूप को छोड़कर जैनेन्द्र ने अपने निबन्धों को नयी और रोचक शैली के द्वारा अधिक लोकप्रिय बना दिया है। उर्दू शब्दों का समावेश भी उनकी भाषा को अधिक जन-प्रिय बना सका है। अंग्रेजी के उन शब्दों का प्रयोग, जिन्हें हम रोज-बरोज़ प्रयोग में लाते हैं, उनकी कृतियों को पाठकों के अधिक निकट लाकर बैठा देता है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग

ने उन्हें और भी अधिक प्रिय बना दिया है।

जैनेन्द्र का उन्मुक्त चिन्तन कभी-कभी सामान्य पाठक को अटपटा-सा लगता है, लेकिन जैनेन्द्र जी के 'सापेक्षतावादी चिन्तन' की अपनी एक परम्परा है और वे अपने मौलिक, दार्शनिक विचारधारा के कारण अन्य लेखकों से कहीं ऊपर उठ गए हैं, भले ही कहीं-कहीं पाठक के लिए वे बेहद दुःसह तक हो गए हैं।

अन्य लोगों की दृष्टि में जैनेन्द्र

जैनेन्द्र जी के साहित्य पर विभिन्न पाठकों और लेखकों ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। आचार्य प्रवर डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा है कि "यहीं से वह तीखापन और धार मिलती है, जो उनकी सबसे बड़ी शक्ति है और जिसके कारण अपने क्षेत्र में आज भी उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।" नगेन्द्र जी द्वारा संस्थापित षट्कोणी तत्त्वों—तेजस्विता, प्रखरता तथा तीव्रता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता तथा व्यापकता—की कसौटी पर जैनेन्द्र जी के साहित्य को कसते हुए एक आलोचक महोदय ने लिखा है कि "ऊपर परिगणित छहों दृष्टियों से यदि हम अपने आलोच्य उपन्यासकार का विश्लेषण करें, तो जैनेन्द्र में तेजस्विता, प्रखरता, गहनता और सूक्ष्मता इन चार गुणों की स्थिति असंदिग्ध है।······जैनेन्द्र की कला में दृढ़ता की स्थिति इसलिए संदिग्ध है कि जैनेन्द्र की निरीहता और नियतिवाद के संघर्ष में यह बात कुछ अधिक जँचती नहीं है। यह बात नहीं कि जैनेन्द्र के विश्वास ढीले और कमज़ोर हैं, पर उनमें कट्टरता की दृढ़ता और शक्ति नहीं है, क्योंकि प्रेम और अहिंसा की बातों से कट्टरता मेल नहीं खाती और व्यापकता का तो······जैनेन्द्र की कला में सर्वथा अभाव है। पर यह अपूर्णता साधारण नहीं है।······व्यापकता और दृढ़ता के अभाव में जैनेन्द्र की कला का यदि मूल्यांकन किया जाये, तो जैनेन्द्र, मैं समझता हूँ, यदि विश्व के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों में अभी नहीं आ पाये हैं तो उस श्रेणी के द्वार पर तो अवश्य ही पहुँच गए हैं।"*

जैनेन्द्र जी के विषय में एक स्थान पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे मुझे बड़े ही सुन्दर लगे हैं। अस्तु इन्हें पाठकों को बिना सौंपे नहीं रह सकता।

"Philosopher Jainendra has—The ablity to state the most abstract ideas in the simplest terms. Even when he borrows an idea or a sumilie—and he is a verocious reader—he dresses it in an original manner."

---

* श्री रघुनाथशरण झालानी—जैनेन्द्र और उनके उपन्यास—पृष्ठ १८९।

अभी १३ नवम्बर को आदरणीय दद्दा (श्रद्धेय श्री बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त) ने मुझे अपने एक पत्र में जैनेन्द्र जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में दो-तीन पंक्तियों में अपने विचार लिख कर भेजे थे। उनकी माप-जोख की तराजू को मैं पाठकों के हाथ में ही सौंपे देता हूँ :-

"जैनेन्द्र जी मेरे स्वजन जैसे हैं। वे लेखिनी के धनी हैं और हिन्दी-साहित्य की उनसे श्रीवृद्धि हुई है। हिन्दी के कथा-साहित्य को उन्होंने नया मोड़ दिया है। उनकी पैठ गहरी है, जो उन्हें चिन्तक की कोटि में पहुँचाती है। मेरी कामना है वे दीर्घायु हों।"

प्रस्तुत संकलन

जैनेन्द्र जी की साहित्यिक दिशाओं और उनकी कृतियों को लेकर मत-भेद हो सकता है, पर मेरा प्रबल विश्वास है कि मत-भेद में ही तो जीवन की गति सन्निहित है। कुछ भी हो इतने सबल और सार्थक साहित्य के स्रष्टा के प्रति हम मौन नहीं बैठ सकते। इसी ध्येय से मैंने इन लेखों को संकलित किया है। सभी विद्वानों, समीक्षकों और विचारकों का, चाहे उनके लेख मुझे इस समय नहीं मिल पाये हैं, मुझे आशीर्वाद और स्नेह मिला है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

"**जैनेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व**" जैसी भी बन पड़ी है, आपके समक्ष है। अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन में से ये क्षण निकालकर इसको प्रस्तुत करना मेरी अपनी धुन की सफलता है—मैं इसे श्लाघा नहीं, कटु सत्य मानता हूँ। इसके विभिन्न लेखों के लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से जैनेन्द्र-साहित्य का अध्ययन किया है। अस्तु, पठनीय और मननीय होते हुए भी उनका दायित्व मूलतः उन्हीं का है। फिर भी मैं उनके आभार से उऋण नहीं हो सकता। एक बात और—इस पुस्तक की भूलें मेरी ही हैं और इसकी सफलताएँ आपकी उपलब्धियाँ। यदि किन्हीं भाई के लेख में छपाई की कोई भूलें रह गई हों तो उनके लिए मैं क्षमा-याचक हूँ।

बिड़ला लाइन्स,
दिल्ली।
. २. १९६३

—मिलिंद

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
२८-१२-१९६२.

जैनेन्द्र जी मुख्यतः गाँधी-युग के लेखक हैं। यों प्रेमचंद भी उस युग के लेखक हैं, पर उनकी अपेक्षा में, जैनेन्द्र की विशेषता यह है कि जहाँ प्रेमचन्द आदर्शों को बहुत कुछ ऊपरी या बाहरी स्रोतों से लेते प्रतीत होते हैं वहाँ 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि का लेखक आदर्शों का अन्तरंग अन्वेषक है—वह उन्हें आन्तरिक इच्छा-शीलता की प्रक्रिया से प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टि से जैनेन्द्र का आदर्शवाद आधुनिक है—आधुनिक बौद्धिक चेतना को स्पर्श करने वाला। कलाकार के रूप में श्री जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य को, निश्चय ही, नया मनोवैज्ञानिक आयाम दिया। उनकी नितान्त सीधी और सूक्ष्म भाषा, सचेत प्रयोग पर आधारित न होते हुए भी आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कथाकारों में उनका व्यक्तित्व निजी व निराला है, और उनका स्थान असंदिग्ध। उनकी कला और शिल्प उनकी संवेदना की अकृत्रिम, सहज अभिव्यक्ति हैं।

जैनेन्द्र जी ने कहानियाँ तथा नाटक भी लिखे हैं, सब अपनी विशेषता लिए हुए। उनके 'टकराहट' एकांकी की कक्षा का, सांस्कृतिक-आत्मिक संघर्ष का सशक्त चित्रण करने वाला हिन्दी-नाटक मैंने दूसरा नहीं देखा।

—देवराज

डाक्टर वृन्दावनलाल वर्मा

जैनेन्द्र जी से सान्निध्य

लगभग तीस वर्ष हुए जब श्री जैनेन्द्रकुमार जी से मेरी पहली भेंट हुई। वह श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास चिरगांव गये थे। वहां से झांसी आये। पहली भेंट में ही मेरे ऊपर प्रभाव हुआ। बात करते-करते कुछ मनन करने लगते थे। दृष्टि ऊपर उठ जाती थी, फिर बात करने वाले पर।

उनके मैंने कई उपन्यास पढ़े। एक तो उन्होंने उसी समय, पहली भेंट की घड़ी में, भेंट किया था।

इसके बाद भी अनेक बार उनसे भेंट करने का मुझे सुअवसर मिला। एक बार वह विख्यात समाजसेवी और प्रसिद्ध कवि श्री वियोगी हरि जी के साथ ही मेरे घर पधारे। खूब बातें हुईं। बड़ा आनन्द रहा। फिर संध्या की बेला एक स्थान पर उनका और श्री वियोगी हरि जी का स्वागत-समारोह हुआ। भाषण हुए। श्रोता आनन्द मग्न थे।

मैं तब गद्गद् हो गया, जब दिल्ली नगर-पालिका के हिन्दी संघ वालों ने १९६२ ई० की ९ जनवरी के दिन मेरा ७४ वां जन्म-दिवस मनाया। समारोह के अध्यक्ष श्री जैनेन्द्रकुमार जी थे। समारोह सन्ध्या समय हुआ था। मैं दिन में ही उनके निवास-स्थान पर मिलने के लिए जा पहुँचा था। ऐसे मिले, ऐसे मिले—लिपटे रहे एक दूसरे से कई क्षण—कि इन दोनों की आँखें झलक आईं।

उपन्यासकार बड़े कुशल, गम्भीर विचारक और बहुत ही स्नेहिल हैं श्री जैनेन्द्रकुमार। परमात्मा से प्रार्थना है कि वे शतायु हों।

—

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी

जैनेन्द्र जी का साधुवाद

"....जैसा कि नाम से भी स्पष्ट है, जैनेन्द्र जी जैन हैं। उनके नाम और धर्म में एक सांस्कृतिक गरिमा है। एक धार्मिक सम्प्रदाय के अंगीभूत होते हुए भी वे एक प्रबुद्ध कलाकार हैं। साम्प्रदायिक रूढ़ियों में कला का स्फुरण नहीं होता, फिर जैनेन्द्र जी में कलात्मकता कैसे आ गई ? वस्तुतः वे किसी सम्प्रदाय में सीमित नहीं हैं। उनकी चेतना जीवन्त है। जिस धर्म में प्राणिमात्र के लिए अहिंसा और प्रेम है, वह तो विश्व धर्म है, वही अपनी व्यापकता में साम्प्रदायिकता से मुक्त होकर असीम सृष्टि और असीम युग में सर्वात्म हो जाता है। जैनेन्द्र जी शरीर की तरह एक सम्प्रदाय में आकर भी आत्मा की तरह देहातीत अथवा सम्प्रदाय-मुक्त हैं। उनके धर्म और कला में कोई विरोधाभास नहीं है। धर्म में जो उदारता है, वही तो कला में विश्ववेदना और संवेदना बन गई है।

धर्मात्मा होते हुए भी जैनेन्द्र जी नैतिक शास्ता अथवा ज्ञानोपदेशक नहीं हैं। उनकी संवेदना में प्राणियों की प्राकृतिक दुर्बलताओं के लिए सहानुभूति और आत्मीयता है। वे अपनी ही तरह सबके प्रति ईमानदार हैं। एषणाओं और दुर्बलताओं से परिचित होते हुए भी उनमें निर्लोभ और त्याग है। एक शब्द में वे उत्सर्गशील मनुष्य हैं। अभाव-ग्रस्त के लिए वे निःस्व और दिगम्बर हो सकते हैं। मैं नहीं जानता कि साहित्यकारों में जैनेन्द्र जी जैसे आत्मत्यागी कितने लोग हैं।

जैनेन्द्र जी के सान्निध्य में वही आश्वस्ति मिलती है जो परमात्मा के सायुज्य में मिलती है। मैं उनकी दीर्घायु की कामना करता हूँ और यही सदिच्छा करता हूँ कि पृथ्वी उनके जैसे सहृदयों का विश्व कुटुम्ब बन जाय।"

———

श्री सियारामशरण गुप्त

दुर्लभ व्यक्तित्व

"···जैनेन्द्र जी के सम्बन्ध में आप जो निबन्ध-संकलन प्रकाशित करने जा रहे हैं, वह यास स्तुत्य है। हृदय से मैं उसकी सफलता चाहता हूँ।

पर उन जैसे साहित्यकार पर कुछ लिखूँ, इस योग्य मेरी शारीरिक स्थिति नहीं है। वे मेरे लिए साहित्यिक-मात्र नहीं हैं, आत्मीय और पारिवारिक भी हैं। उनके घर में उनके अग्रज के रूप में मैं ठहरता हूँ। वैसा ही सम्मान भी वहां पाता हूँ। श्रेष्ठ साहित्यकारों में सम्भवतः वही ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके लिए आप—आप मुझे नहीं कहना पड़ता। कह नहीं सकता, अपने किस पुण्य से मुझे उन जैसा भाई मिला है। सारी भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य का परिचय न होने पर भी मेरी धारणा है कि उनकी जोड़ का प्रातिभ व्यक्तित्व अन्यत्र दुर्लभ है। मुझ जैसे सामान्य ज्ञान के व्यक्ति को उन्होंने अपना आन्तरिक स्नेह दिया है, यह बात मुझे प्रायः विस्मय से अभिभूत करती रहती है, पर उनके कृतित्व के विषय में मेरी उपर्युक्त धारणा, जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ, निरपेक्ष ही है।······।"

राजा राधिकारमणप्रसादसिंह

जीवन के एक विशिष्ट कलाकार

श्री जैनेन्द्र जी की लेखनी अपने ढंग की अनूठी है। साहित्य के चमन में वह-वह गुल खुल-खिल उठे कि क्या कहे कोई !—

'किसी में रंग व बू ऐसा न पाया,
चमन में गुल बहुत गुजरे नजर से।'

जीवन की वृत्तियों के अन्तस्तल में डूबकर वह जो मोती सँजो पाए, उनके निखार के क्या कहने ! इनकी प्रतिभा जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर ही रंग नहीं चढ़ाती; वरन् मनोविश्लेषणात्मक दायरे के अन्दर जीवन-दर्शन की जो सार्वभौम रूप-रेखा का एक रहस्यमय संसार है, उसे भी विश्लेषित एवं परिचालित करती है।

श्री जैनेन्द्र जी जीवन की अतल गहराई तक पैठकर इसके प्रत्येक कोने-कोने को इसके प्रत्येक रेशे-रेशे को—भली-भाँति टटोल लेते हैं और सत्य-स्वरूप जो कुछ हाथ आता है, उसे अपने पात्रों के शील-विशेष में पिरो देते हैं। इनकी करुणात्मक प्रतिभा तंत्रशास्त्र-सम्मत है। इच्छाएं जीवन में बड़ी बलवती हैं। मन की इच्छाओं के ताने-बाने में बँधकर यह जीवन रात-दिन क्या-क्या अंगड़ाइयाँ ले रहा है—लेता रहेगा निरन्तर। श्री जैनेन्द्र जी के प्रायः सभी पात्र इन इच्छाओं की वर्त्तुल भाव-गति की द्वन्द्वात्मक स्थिति से लड़ते और जूझते हैं। यहाँ श्री जैनेन्द्र जी फ्रायड के सिद्धान्त पर भी अपना एक नया रंग चढ़ाते हैं।

इनकी प्रतिभा मानव के मनःजगत् तक ही सीमित नहीं, वरन् मानव के आत्म-जगत् तक पहुँच कर उसके आध्यात्मिक तत्त्वों की रसात्मक अन्तश्चेतना की पूरी दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत करती है। यही इनकी निराली प्रतिभा की अनूठी देन है।

इनके भिन्न-भिन्न पुरुष और नारी पात्रों के रूप और नाम की तह में जाने पर गुणनफल रूप में केवल एक स्त्री रह जाती है और दूसरा रह जाता है पुरुष। प्राणी के प्राण में बहुत गहरे जाकर जैसे सब बाह्य रूप-विधान सतह पर ही छूट जाते हैं। केवल दो ही तत्त्व—स्त्री और पुरुष—शेष रह जाते हैं।

सुनीता हरिप्रसन्न के साथ बिल्कुल नग्न होकर भी अपने सतीत्व की मर्यादा में पूर्ण रूप से जीवित और संयमित है। सुनीता तन को नग्न कर मन की नग्नता

को प्रेम के पर्दे में छिपाना चाहती है, पर उसका प्रेम छल और प्रतारणा की रेत पर सिर धुन कर रह जाता है। यहाँ मानव मन की कितनी बड़ी विवशता है !

श्री जैनेन्द्र जी की दृष्टि में आदमी का मन भी अपना पूरा नहीं हुआ करता। श्री जैनेन्द्र जी खुद कहते हैं कि धन मेरा नहीं है, मन कुछ मेरा है।

इनके पात्र वासना की पुकार को स्वीकार करते हुए भी इससे ऊपर उठने की कोशिश करते हैं। श्री जैनेन्द्र जी के एक ही नारी पात्र को जब हम टटोल कर निरखते हैं तो पाते हैं कि उस एक ही नारी विशेष के हृदय में विश्व का सम्पूर्ण नारी-हृदय अपनी असीम सुषमा, अपार करुणा, अथाह प्रेम एवं अलौकिक त्याग, तपस्या और सेवा की मधुर भावना से संचालित हो धड़क रहा है। यहाँ श्री जैनेन्द्र-जी की आत्मनिष्ठा, उनकी आत्मा विश्वात्मा में परिवर्तित हो उठती है, जिसके सार्वभौम रूप पर—उसके हास्य-रुदन की कलात्मक रुनझुन के रसात्मक सम पर—विश्व-हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। श्री जैनेन्द्र जी की सुनीता सबकी सुनीता बन जाती है और हरि प्रसन्न के मन-सिन्धु में लहराती वासना का असह्य उफान समस्त मानव-मन की नाचती हुई वासना-नर्त्तकी का वह नग्न चलचित्र है, जहाँ कलाकार केवल कला-स्रष्टा मात्र ही न रहकर जीवन-सत्य का एक निरपेक्ष दार्शनिक द्रष्टा बन बैठता है। यहाँ हम श्री जैनेन्द्र जी में एक महान् कलाकार और एक सफल दार्शनिक के दोहरे व्यक्तित्व का प्लाटिनम धातु की तरह निरपेक्ष निर्वाह पाते हैं।

तुलसी की सीता, शेक्सपियर की डेस्डीमोना और श्री जैनेन्द्र जी की सुनीता एक ही सितार के तीन ऐसे तार हैं, जिनमें जीवन-सत्य का एक ही राग शाश्वत रूप से लहरा रहा है। महान् कलाकार की भावाभिव्यक्ति जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति का एक पूर्ण माध्यम हुआ करती है। इस दृष्टि से श्री जैनेन्द्र जी जीवन के एक विशिष्ट कलाकार हैं।

हाँ, श्री जैनेन्द्र जी की एक अपनी शैली भी है जो उनकी लेखनी के निखार में चार चाँद लगा देती है। वह मनोवैज्ञानिक कथाकार ही नहीं, एक कलात्मक शैलीकार भी हैं और एक-एक का जवाब है, दोनों हैं लाजवाब !

महात्मा भगवानदीन

बाल जैनेन्द्र

जैनेन्द्रकुमार के बालकपन पर कुछ लिखना बिल्कुल अधूरा रह जायेगा, अगर उनके माँ-बाप को बिल्कुल प्रकाश में न लाया जाय। मेरा तो यह ख्याल है कि उनको जितना प्रकाश में लाया जायगा, उतना ही जैनेन्द्रकुमार को समझने में आसानी होगी। पर यहाँ तो हम उनका उतना ही परिचय देंगे, जितनी यहाँ जरूरत है।

जैनेन्द्रकुमार की माता का जन्म खाते-पीते घराने में हुआ था और अगर उन दिनों लड़कियों की तालीम या ऊंची तालीम बुरी नजर से न देखी जाती होती, तो वे उस योग्य ज़रूर थीं कि बड़ी आसानी से ऊंची से ऊंची डिग्री पा सकती थीं, क्योंकि घर में साधनों की कमी न थी। यह ठीक है कि उन दिनों लड़कियों को विद्या नहीं दी जाती थी और अपढ़ भी रखा जाता था, पर उन्हें मूर्ख या अज्ञानी कभी नहीं रखा जाता था। घर के काम से वे खूब वाकिफ होती थीं। और अदब-शासन कला बुरी चीज नहीं है, तो यह उन्हें काफी से ज्यादा सिखा दी जाती थी। बारह वर्ष की लड़की भी बेवा होकर, अगर उसे मौका दिया जाय तो बड़ी दूकान संभाल सकती थी, जमींदारी संभाल सकती थी, और अगर वे ग़रीब घराने में पदा हुई हों तो अपने खाने-पहनने का इन्तज़ाम कर सकती थीं। यही वजह थी कि जैनेन्द्र कुमार की माँ को जब जैसा अवसर मिला, उन्होंने उस अवसर पर अपने आपको उसके क़ाबिल साबित कर दिखाया।

यों जैनेन्द्रकुमार एक बड़ी योग्य माता की देन हैं।

जैनेन्द्रकुमार के पिता अपने हाथ-पांव पर भरोसा करने वाले घराने में पैदा हुए थे। उस घराने के लिहाज से जितनी तालीम मिल सकती थी, उतनी तालीम उन्होंने जरूर पाई। पटवारी का इम्तहान पास थे, पर हाथ-पाँव पर भरोसा करने वाले होने की वजह से पटवारी का काम कभी किया नहीं। हाँ, कुछ दिनों स्टाम्प्स-फरोशी जरूर की। पर वह नौकरी नहीं थी। उससे घर का मामूली काम चलता था, पर ज्यादह काम तो उसी से चलता था जो वह अपने हाथ-पाँव की मेहनत से कमाते थे। वह अपनी क्लास में हिसाब में सबसे अव्वल थे। कहानी कहते थे तो सीन खड़ा कर देते थे। उनकी कहानी सुनने में ऐसी अच्छी लगती थी जैसी मुंशी अजमेरी की। दोनों की कहानियाँ हमने सुनी हैं। जैनेन्द्रकुमार के पिता को अगर

अवसर मिलता तो वह अच्छे साहित्यकार सिद्ध हो सकते थे और अच्छे इंजीनियर भी।

यह थे जैनेन्द्रकुमार के पिता और उनकी इस देन से जो भी आज तक हमने पाया, वह इतना नहीं है कि हमें कुछ अचरज हो।

जैनेन्द्रकुमार का जन्म सन् १९०४ की सकट चौथ को हुआ। अभी नाम रखने का दिन भी न आया था कि बाल-जैनेन्द्र के माता निकल आई। इतना ही अच्छा हुआ कि वह बहुत ज़ोर की न थी, पर वह दृश्य हमारी आंखों के सामने है जब बाल-जैनेन्द्र अपनी कोहनी खाट पर टेक कर, बड़ी कोशिश से हाथ उठाकर और सिर्फ कलाई पर हाथ मोड़कर अपने चेहरे पर की मक्खी उड़ाता था। हो सकता है उस काम में उसके लिये बहुत बड़ी कोशिश हो रही हो, पर हमारे लिये तो वह तमाशा ही था। उन दिनों हम १९ वर्ष के थे, पर किसी वजह से सोहर जाने से न रुक सकते थे। इसलिये हम और जैनेन्द्रकुमार की मां दोनों ही घंटों बाल-जैनेन्द्र के यह खेल देखा करते थे। हम चाहते तो मक्खी उड़ा सकते थे और कभी-कभी उड़ा भी देते थे, पर मुँह पर पड़ी मक्खी को तो उड़ाता देखने में ही मज़ा आता था। बाल-जैनेन्द्र की उस समय की हरकतों को देखकर हम न जाने अपने मन में क्या-क्या सोचा करते थे। खैर, छटे दिन नाम रखने का वक्त आया और पंडित ने यह भविष्य-वाणी की कि बाल-जैनेन्द्र अपने बाप के लिये बहुत भारी साबित होगा। उसका यह कहना था कि बाल जैनेन्द्र अपने बाप की निगाहों से उतर गये और सन् १९०७ में जब वह बीमार पड़े और बाल-जैनेन्द्र को उनकी गोद में दिया गया तो वह उसको थोड़ी देर ही ले पाये थे कि उनको कुछ तकलीफ शुरू हुई और उन्होंने तुरंत ही बाल जैनेन्द्र को यह कहकर कि यह मुझे खाकर ही रहेगा उनकी मां के सुपुर्द कर दिया और उसके कुछ महीनों के बाद वह सचमुच ही चल बसे।

जैनेन्द्रकुमार इस तरह बाप के गुण ही विरासत में पा सके, और कुछ तो क्या, उनका प्यार भी उन्हें न मिला। पर जिसके भाग्य में प्यार बदा है, वह उसको क्यों न पाये ? बाप का प्यार न मिला तो मामा के इतने प्यारे बन गये कि १५ वर्ष की उम्र तक वह यह नहीं समझ पाये कि मामा उनके मामा हैं या उनके बाप।

सन् १९०९ में ही जैनेन्द्रकुमार अपनी माँ समेत अपने मामा के घर पहुँच गये और वहाँ इतने एकमेक हो गये कि रिश्तेदारों को छोड़कर कोई कभी यह जान ही न पाया कि उनके बाप जीवित नहीं हैं।

जैनेन्द्रकुमार की दो बहनें हैं, दोनों ही बड़ी हैं। उनमें से एक तो इतनी बड़ी है कि वह जैनेन्द्रकुमार को इतना प्यार करती है जितना प्यार शायद उनको

माँ से भी न मिला होगा। जब जैनेन्द्रकुमार छोटे थे, तब उनकी बड़ी बहन उनके लिये अपने खिलौने और अपनी खाने-पीने की चीजें ऐसे ही सेंत कर रखती थीं, जैसे माँ बेटे के लिये। इन बहनों की शादी बड़ी होते हुये भी इसलिये न हो पाई थी कि वह हमेशा अपनी नानी के पास रहीं और उनकी नानी बहुत छोटी उम्र की शादी के खिलाफ थीं। हाँ, छोटी बहन की शादी उन्हीं दिनों हुई थी, जब जैनेन्द्रकुमार सोहर में थे।

जैनेन्द्रकुमार पर बाहरी असर जितना माँ और मामा का है, उतना ही असर उनकी बड़ी बहन का भी है। उनकी बड़ी बहन आज जीवित हैं और ५० से ऊपर होते हुए भी बालकों जैसा स्वभाव रखती हैं। हो सकता है जैनेन्द्रकुमार ने अपनी बड़ी बहन से बहुत कुछ लिया हो।

हमारा यह ख्याल है कि जो आदमी बचपन में जितना भोला होता है, उतना ही बड़ेपन में उसे होशियार होना चाहिए। असल में भोलापन माने—सच और झूठ में भेद न करना, सभी को सच समझना और हर सीख को लेने के लिए तैयार रहना। ऐसे भोले बालकों के साथ कोई आदमी धोखेबाजी करके उनको बेहद बुरा बना सकता है और अगर वही बालक किसी भले आदमी के पाले पड़ जाए तो बहुत भला बन सकता है। अब जैनेन्द्रकुमार के बचपन के भोलेपन का कुछ हाल सुनिये।

एक बार बाल-जैनेन्द्र को जोर का पेशाब लगा। माँ और मामी दोनों ही घरेलू काम में इतनी लगी हुई थीं कि एक-दो बार तो इनकी बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया कि यह क्या कह रहे हैं, और जब ध्यान दिया तो व्यंग और गुस्से से भरा हुआ। बाल जैनेन्द्र ने पूछा—

अम्मा मुत्ती कहां करूं ?

कर ले चूल्हे में।

बाल-जैनेन्द्र को व्यंग और गुस्से से क्या लेना। वह सीधे चूल्हे पर पहुँचे और बड़े आराम के साथ पेशाब कर आये। मामी ने देखा तो हंस पड़ीं और उन्हें पकड़ कर अपनी जीजी यानी उनकी माँ के पास ले गई। वह भी यह सब सुन कर हँस दीं। इन्हें गले लगाया और कुछ समझा दिया। मामला यहीं तक न रहा। जब उनके मामा घर आये तो उनकी माँ ने शिकायत की, शिकायत में उनसे यह कहा कि देखो इसने आज चूल्हे में पेशाब कर दिया। उन्होंने ज्यादह पूछताछ तो की नहीं, उनके एक चपत जड़ दिया। यह थोड़े से रोये, उसके बाद फिर चूल्हे में पेशाब करने की बात उन्हें कभी न जंची और कभी माँ या मामी के धोखे में न आये।

मामा को यह बहुत प्यारे थे। मामा ने प्यार में इनका नाम बंदर रख छोड़ा

था और बन्दर नाम रखने की वजह यह थी कि बन्दर के नाम से पुकारे जाने पर यह जो ऊँ ऊँ की ग्रावाज निकालते थे वह बिलकुल बन्दर से मिलती-जुलती होती थी। मामा की बन्दर की ग्रावाज पर यह इतने लागू थे कि सोते हुये भी जाग पड़ते थे। ग्रौर इसकी वजह यह थी कि तब इन्हें या तो कुछ खाने खेलने की चीज मिलती थी ग्रौर ऐसा न हुग्रा तो गोदी में कुछ दूर टहलने का मौका तो मिलता ही था। मामा भी इनको ग्रजब ढंग के मिले थे जो रात को दो बजे भी इन्हें जगाकर गोदी में टहलाने ले जाते थे। इस सब प्यार का एक नतीजा ग्रौर हुग्रा। एक मरतबा इनकी माँ की रजाई पर कोयले की एक चिन्गारी गिर पड़ी थी, ग्रौर उसमें इतना सुराख हो गया था जिसमें बाल-जैनेन्द्र की ग्रंगुली जा सकती थी। बस ग्रब इनका यह हाल था कि जैसे ही बन्दर ग्रावाज सुनी ग्रौर इन्होंने ग्रपनी ग्रंगुली रजाई के उस सुराख में इसलिये डाली कि उसे बड़ा करके मामा को देखूँ। पर उससे तो उल्टा सुराख बन्द हो जाता था ग्रौर फिर यह जोर लगाते थे। ग्रौर इस तरह सुराख यहाँ तक बड़ा कर दिया गया कि यह बन्दर की ग्रावाज सुनकर फौरन ही जाग जाते थे ग्रौर कोशिश करके बड़ी तेजी से ग्रपना सिर उसमें होकर निकाल लेते थे ग्रौर तब ऊं ऊं कहते थे, क्योंकि यह मनबहलाव का खेल बन गया था, इसलिये रजाई के उस सुराख की मरम्मत नहीं की जाती थी।

कुछ दिनों बाद जैनेन्द्र कुमार ग्रपनी सूझबूझ से काम लेने लगे। मामा के साथ रहने के यह बड़े शौकीन थे, इसलिए जब मामा खाने बैठते थे, तो यह उनके जूतों पर जा बैठते थे, वह इस दूरनदेशी से कि मामा जब बाहर जायेंगे तो जूते पहनेंगे ही ग्रौर बस फिर हम उनके साथ हो लेंगे। पर जब मामा को यह पता चला तो उन्हें एक दिन इन्हें धोखा देने की सूझी ग्रौर वह जूता पहने बगैर दूसरे रास्ते से चल दिए। जब काफी से ज्यादा देर हो गई तब बाल-जैनेन्द्र तलाश करते हुए ग्रन्दर ग्राये ग्रौर लगे ग्रपनी माँ से पूछने कि मामा कहां हैं? बस यह जवाब सुनकर कि मामा तो बड़ी देर से चले गये, वे माँ ग्रौर मामी पर पिल पड़े कि उन्हें यह सब क्यों नहीं बताया गया। खैर उन्होंने तो माफी माँगकर समझा-बुझाकर उनसे पीछा छुड़ाया, पर मामा से जो यह रूठे तो तभी मनें जब उन्होंने यह कह दिया कि ग्रब वह वैसा नहीं करेंगे ग्रौर उन्होंने ग्रपना वचन निभाया।

बाल-जैनेन्द्र ने कहीं किसी से सुन लिया या शायद सीधे किसी ने उनसे यह कह दिया कि रुपया बो देने से उग जाता है, उसका पेड़ खड़ा हो जाता है ग्रौर उसमें रुपये लगते हैं। बस ग्रब क्या था, बड़ी बहन की गुल्लक खोल उसमें से एक रुपया निकाला ग्रौर बाहर किसी पेड़ के नीचे बो ग्राये। उसे कुछ दिनों पानी भी देते रहे। होनहार की बात कि कुछ ही दिनों बाद उनके मामा वहाँ से चल दिये ग्रौर

उस जगह को हमेशा के लिए छोड़ दिया। एक मरतबा इस रुपया बोने की घटना के पांच-छः महीने बाद, इनके मामा जब रेल से कहीं जा रहे थे तो यह उनके साथ थे। जब वह स्टेशन आया, जहाँ इन्होंने रुपया बोया था तब अपने मामा से बोले, "मैं यहां उतरूँगा।"

मामा ने पूछा, "किस लिए"। बोले, 'मैंने यहाँ रुपया बो रखा है, अब वह उग आया होगा।"

मामा यह सुनकर हंस दिये, पर यह उनकी हँसी पर उन्हें इस तरह देख रहे थे, मानों कह रहे थे कि हमारे मामा इतना भी नहीं समझते !

एक दिन का जिक्र है किसी वजह से घर में एक बूँद दूध न था। बाल-जैनेन्द्र ने माँ से दूध मांगा। उन्होंने कह दिया बेटा दूध तो नहीं है, मिठाई ले लो, मठरी ले लो, फल ले लो; पर बाल-जैनेन्द्र किसी तरह राजी नहीं हुए, वह दूध के लिये ही हठ करते रहे। और जब माँ ने फिर यही कहा कि बेटा दूध घर में नहीं है, कहां से लाऊँ ? तब आप बोले कि दूध टट्टी घर में बखेरने के लिए है और मेरे पीने के लिए नहीं। घर का घर यह सुन कर हँस पड़ा, क्योंकि बाल-जैनेन्द्र टट्टी घर में बखेरे हुये फिनायल को ही दूध समझे हुये थे। उन्हें जितना ही यह समझाने की कोशिश की गई कि वह दूध नहीं है, उतना ही उनके गुस्से का पारा चढ़ता गया। आखिर में रूठ कर बाहर बरामदे में जा बैठे, और फिर पड़ौस से दूध आने पर ही माने।

घर में इनसे छोटा बच्चा कोई न था। इसलिए इनको सब ही का प्यार मिलता था। यह प्यार से अघाये हुए थे, इसलिए प्यार उँडेलना चाहते थे। अब यह उँडेलें तो किस पर ? पड़ोस में भी इनसे छोटा कोई बच्चा न था, पर इन्हें तो कोई चाहिये ही। एक दिन एक पिल्ला पकड़ लाये। बस फिर क्या था, उस पर इतना प्यार उँडेला गया कि वह किं-किं करके इनसे अपना पीछा छुड़ाने की कोशिश करने लगा। पर यह कब छोड़ने लगे, कभी उसको कुछ खिलाना, कभी ग्लास से पानी पिलाना, कभी उसे उठाकर सुलाना, कभी गोदी लेना और कभी उसके पंजों से तंग आकर उसे छोड़ देने पर, गिर जाने पर फिर उसे प्यार से उठाना और थपथपाना, चारपाई पर सुलाना। घंटे डेढ घंटे में ही वह पिल्ला इनके प्यार से ऊब गया और इनसे पीछा छुड़ाकर भाग गया। यह उसके पीछे बहुत भागे, पर वह हाथ न आया। घर के और लोगों को जरा भी उस पिल्ले से प्यार होता, तो हो सकता था कि वह फिर पकड़ लिया जाता। पर वैसा न हुआ, इसलिए इनका यह शौक एक दिन और वह भी एक घंटे से ज्यादा न चला।

हम बहुत सोचने पर भी यह नहीं बता सकते कि बाल-जैनेन्द्र को और बच्चों की तरह भूख का ज्ञान क्यों नहीं था। भूख तो बच्चों के साथ-साथ जन्म लेती है।

इनके साथ उसने जन्म लिया या नहीं, यह पता नहीं। कोई यह न समझे कि इन्हें भूख ही नहीं लगती थी और यह खाने के लिये कोई चीज़ ही नहीं माँगते थे या यह कि बहुत छुटपन में भूख से कभी रोये ही नहीं। नहीं-नहीं, यह छुटपन में भूख से ऐसे ही रोते थे जैसे कि और बच्चे। पर जब यह छः बरस के थे, तब स्कूल से ११ बजे जब यह बहुत भूखे लौटते थे तो खाना नहीं माँगते थे। माँ से आते ही बस यह कहते थे कि माँ मेरे पेट में दर्द होता है। मां इन्हें खूब पहचानती थी कि यह दर्द नहीं है, भूख की पुकार है और वह इनके दर्द का वही इलाज करती थी कि इनको खाना खिला देती थी और इनका दर्द ठीक हो जाता था। भूख से जो तकलीफ इनके पेट में होती थी, उस तकलीफ का नाता यह भूख से जोड़ना पसन्द नहीं करते थे। उसका ज्यों का त्यों हाल अपनी माँ को बता देते थे। दूसरे शब्दों में भूख का नाम इन्होने दर्द रख छोड़ा था और दर्द का दूसरा नाम वेदना है। और दार्शनिकों की बोली में भूख प्रतिकूल वेदना के सिवाय और है ही क्या ? यों अगर पढ़ने वाले चाहें तो बाल-जैनेन्द्र को बाल-दार्शनिक भी कह सकते हैं।

घराने के रिवाज के मुताबिक इनका विद्यारम्भ संस्कार, आ, ई से न होकर अलिफ़, बे, ते, से हुआ और होनहार की बात कि सात बरस की उम्र में ही यह एक ऐसे गुरुकुल में दाखिल हो गये, जहाँ क़, ख़, ग़, ज़, नागरी अक्षरों में शामिल समझे जाते थे। इनका शीन क़ाफ ऐसा ही दुरुस्त है, जैसा फारसी-दाँका। इनके मामा के घराने का भी शीन क़ाफ दुरुस्त था, क्योंकि उस घर में औरतों को छोड़कर सभी फारसी पढ़े थे और अब तीस-पैंतीस बरस से दिल्ली में रहने की वजह से उस शीन क़ाफ को कोई नुकसान नहीं पहुँचा है और यह उर्दू साहित्य में इसी वजह से काफी रस ले लेते हैं।

कहीं ऊपर यह कहा गया है कि यह १५ बरस तक अपने मामा को अपना पिता ही समझते रहे। इसकी एक वजह तो यह थी कि जब यह चार बरस के थे तब इनके घर में इनके एक ममेरे भाई का जन्म हुआ। वह जब बोलने के काबिल हुआ तो इनकी देखादेखी अपने बाप को मामा कहकर पुकारने लगा। इस बारे में घर में से किसी ने ध्यान नहीं दिया और कोई रोकथाम भी न की गई। अब इनके लिए कोई मौका ही न रह गया कि यह मामा और बाप में कोई भेद कर सकें और कभी-कभी अपने ममेरे भाई को अपनी माँ का दूध पीते देखकर तो इन्हें यह शक ही न रह गया कि इनका ममेरा भाई इनका सगा भाई नहीं है। दूसरी वजह यह हुई कि सात बरस की उम्र में बाल-जैनेन्द्र जैसे ही गुरुकुल में दाखिल हुये तो चार बरस का ममेरा भाई भी इनके साथ था। यह दूसरी बात है कि दोनों एक क्लास में नहीं थे। बस एक दिन १५ बरस की उम्र में जब जैनेन्द्र ने गुरुकुल का प्रवेश रजिस्टर देखा और उसमें

अपने बाप के नाम की जगह प्यारेलाल लिखा पाया और संरक्षक की जगह अपने मामा का नाम पाया, तब पता लगा कि मामा, मामा थे; बाप नहीं थे।

कहीं ऊपर हम यह भी कह आये हैं कि बाल-जैनेन्द्र को अपना प्यार उँडेलने के लिए घर में कोई न दीखता था। इसलिए संग साथ में जब इनका ममेरे भाई का जन्म हुआ तो इनकी खुशी का ठिकाना नहीं था। अगर इनका बस चलता तो उसी वक्त उसे अपने पास ले आते और क्या अचरज कि उसे कुछ खिलाने में लग जाते। क्योंकि गुरुकुल में यह अक्सर दूर से अपने भाई को ताका करते थे और जब वह इनकी तरफ देखता था तो दोनों मुस्करा देते थे और फिर यह मुस्कराहट हँसी में तबदील हो जाती थी।

होनहार की बात कि गुरुकुल में भी इनसे छोटा सिर्फ इनका ममेरा भाई ही था, बाकी सब बड़े थे। गुरुकुल की स्थापना सन् ११ में हुई थी और उसके शुरू के पाँच ब्रह्मचारियों में से यह भी एक थे।

जैनेन्द्र का गुरुकुल-जीवन

"जैनेन्द्र" यह गुरुकुल का दिया हुआ नाम है। सन् ११ को वैसाख सुदी तीज से पहले जैनेन्द्र का नाम आनन्दीलाल था।

गुरुकुल में सन् ११ के खत्म होते-होते ४० ब्रह्मचारी हो गये थे। उन ४० में सिर्फ एक ही विद्यार्थी था जो इतना ही कुशाग्र-बुद्धि था जितना जैनेन्द्र, और उसका नाम था रामेन्द्र। गुरुकुल के अधिष्ठाता लीक-लीक चलने वाले आदमी नहीं थे। वह मौके-मौके पर वही करते थे जो उनको ठीक सूझता था। गुरुकुल का आम नियम यह था कि सुबह चार बजे उठना और रात को नौ बजे सो जाना। पर जैनेन्द्र और रामेन्द्र इन दोनों ही के लिए यह काम मुश्किल ही नहीं, असंभव थे। इनको नौ बजे तक जगाना इतना ही बुरा काम था, जितना किसी को रस्सी बांधकर खड़ा रखना और चार बजे उठाना उतना ही मुश्किल काम था, जितना खाली बोरे को खड़े रखने की कोशिश करना। देर से उठने और जल्दी सो जाने के ऐबों (अगर यह ऐब हैं) के साथ-साथ इन दोनों में पढ़ने-लिखने के अनेक गुण थे, इसलिए यह दोनों चार बजे उठने और नौ बजे सोने के अपवाद बनाये गये और इस अपवाद की वजह से इनके साथी ब्रह्मचारी इनसे कोई डाह नहीं करते थे। इनका आदर करते थे, और इनको ठेकेदार के नाम से पुकारते थे। ठेकेदार यों कि यह अपना पाठ शाम को जब सुना दें तभी से यह सोने के लिये आजाद थे। उठने के लिये यों आजाद थे कि गुरुकुल की खास क्रियाओं में यह ठीक वक्त पर शामिल हो जाते थे। गुरुकुल की पढ़ाई-लिखाई में जैनेन्द्रकुमार को सिर्फ होशियार ही नहीं कहा जा सकता, काफी से ज्यादा होशियार कहना पड़ेगा, क्योंकि उम्र के लिहाज से तीसरी क्लास में सबसे अव्वल

आने पर भी सिर्फ इस वास्ते यह चौथी क्लास में नहीं चढ़ाये गये थे कि चौथी क्लास की पढ़ाई का बोझ उस उम्र के बालक के लिये, गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता की नज़र में काफी से ज्यादा था। हमें याद है कि यह सुनकर जैनेन्द्र को काफी तकलीफ हुई थी, पर मर्जी के माफिक घूमने-फिरने के आनन्द में वह तकलीफ जल्दी ही भुलाई जा सकी थी।

एक बार मुख्य अधिष्ठाता का एक हल्का-सा चपत खाकर यह बुरी तरह बिगड़े थे, और वह इस वजह से कि जिस बात के लिये इन्हें सज़ा मिली थी, उसमें उनका कोई कसूर नहीं था। इन्होंने अपनी सफाई देकर यह पूरी अच्छी तरह साबित कर दिया कि उनको जो चपत लगा है, वह एक बेकसूर को लगा है। मुख्य अधिष्ठाता एक समझदार आदमी थे, उन्होंने इनसे माफी मांगी। जिसके जवाब में यह बोले, "आप के माफी मांगने से जो चपत मेरे लग गया है वह बेलगा हुआ तो नहीं हो सकता ?"

इस पर अधिष्ठाता जी बोले, "तो फिर भाई चपत की जगह चपत मारलो।"

इसके जवाब में इन्होंने कहा कि ऐसा करना तो और भी बुरा होगा, और ऐसा करने से भी मुझको लगा हुआ चपत बेलगा हुआ कैसे हो सकता है। आखिर फैसला इस बात पर हुआ कि अधिष्ठाता जी आइन्दा इस बात का बहुत ख्याल रखेंगे कि किसी बेकसूर को छोटी से छोटी सजा भी न दी जाय। जब का यह जिक्र है, उस वक्त जैनेन्द्रकुमार का नवां बरस चल रहा था।

यह हम कह ही चुके हैं कि जैनेन्द्रकुमार पढ़ाई-लिखाई में सबसे आगे थे। छः महीने पढ़ने-लिखने से छुट्टी पाकर और अपना समय खेल-कूद में बिताकर भी किसी से पीछे नहीं रहे। यह सब तो था, पर बोलने और लिखने में यह अपनी क्लास में आखिरी सिरे पर थे। यह ठीक है कि यह अपनी क्लास में सबसे छोटे थे, पर इससे क्या। क्लास में जब सबसे अव्वल थे तो बोलने और लिखने में भी अव्वल होना चाहिये था। इनकी क्लास में यह नौ बरस के थे और बाकी सब बारह और तेरह के बीच के थे। थोड़ा-थोड़ा तो सभी बोल लेते थे, पर उनमें से तीन-चार तो ऐसे थे जो अचानक दिये हुये विषय पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बोल सकते थे। उनमें से एक ब्रह्मचारी ने तो एक मशहूर उपदेशक के व्याख्यान का खंडन पांच मिनट की तैयारी के बल पर सभा के मंच से किया था। पर इन सब बातों का कभी कोई असर जैनेन्द्रकुमार पर नहीं हुआ। वह गुरुकुल की सभा में कभी एक मिनट बोल कर नहीं दिये और न कभी गुरुकुल के हाथ लिखे मैगज़ीन में अपने नाम से एक लाइन दी। अध्यापकों और लोगों ने कभी-कभी मजबूर भी किया, पर मुख्य अधिष्ठाता ने उन पर कभी कोई ज़ोर नहीं डाला।

और ब्रह्मचारियों के लिहाज़ से इनकी खुराक काफी कम थी। इतनी कम थी

कि चिन्ता का विषय बन गई थी। पर गुरुकुल के डाक्टर ने यह समझदारी ही की कि इनको बीमार नहीं समझा और उसकी एक वजह यह भी थी कि इस कम खुराकी में भी इनका एक साथी था, और वह इनसे भी कहीं आगे था। वह तो दिन भर में पतली-पतली चार रोटियों से ज्यादा नहीं खाता था, दूध भी बहुत ही कम पीता था। पर उसकी कम खुरी की वजह यह थी कि वह तीन-तीन चार-चार रोज़ टट्टी नहीं जाता था। पर जैनेन्द्र के साथ तो यह बात नहीं थी। यह ठीक है कि गुरुकुल का खाना काफी भारी होता था, पर वह तो सभी के लिये था। उसकी उम्र के और बाद आये छोटे ब्रह्मचारी भी जैनेन्द्र से सवाया और ड्योढ़ा खा सकते थे। बस कम खाने की बात को सिर्फ इसलिये चिन्ता की बात नहीं समझा गया कि खेलकूद में जैनेन्द्र पूरा हिस्सा लेते थे और अगर सब में अव्वल नहीं थे तो सब से पीछे भी नहीं थे।

गुरुकुल में शतरंज खेलना मना न था। मना कैसा, एक तरीके से खिलाया जाता था। और उसे किसी हद तक जरूरी समझा जाता था। हां, उसके दिन और वक्त नियत थे। शतरंज के खेल में जैनेन्द्र कई अध्यापकों से भी अच्छा खेल लेते थे।

किसी वजह से जैनेन्द्रकुमार को अपनी तालीम पूरी किये बिना गुरुकुल छोड़ना पड़ा और सन् १८ में मास्टर बलवंतसिंहजी के पास बिजनौर में रहकर पंजाब मैट्रिक की तैयारी की। और जिस साल गांधीजी के पकड़े जाने की वजह से दिल्ली में गोली चली, उसी साल पंजाब मैट्रिक का इम्तहान दिया और इत्तफाक से दिल्ली टाउन हाल पर जिस वक्त गोली चली थी, उस वक्त चौदह बरस के जैनेन्द्रकुमार वहीं मौजूद थे और उस गोली-कांड को ऐसे देखते रहे मानों उसके लिये वह एक मामूली खेल था।

मैट्रिक करने के बाद वह बनारस यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गये और सन् २० में जब असहयोग आन्दोलन ज़ोरों के साथ शुरू हुआ, तब इन्होंने अपने मामा को एक पत्र लिखा कि वह कालेज छोड़कर आन्दोलन में हिस्सा लेना चाहते हैं। जिसके जवाब में उनके मामा ने लिखा कि होना तो यह चाहिये था कि तुम मुझे खबर देते कि तुमने कालेज छोड़ दिया है, न कि यह कि तुम मुझसे कालेज छोड़ने की इजाज़त चाह रहे हो। इस खत को पाकर इन्होंने वही किया जो करने के लिये वह खत उन्हें भिड़क रहा था। जैनेन्द्रकुमार का इस वक्त सोलहवां वर्ष चल रहा था।

जैनेन्द्रकुमार का इससे आगे का जीवन बालकपन की हद से परे चला जाता है, इसलिये इसको हम यहीं खत्म करते हैं।

श्री हिमांशु जोशी

बर्फ़ से ढकी एक झील : एक साहित्यकार

बर्फ़ीली पहाड़ों से घिरी एक झील। हिम की सफ़ेद झीनी से ढकी रहने के कारण जिसकी गहनता का अंकन सरल नहीं। किसी हद तक सम्भव नहीं कहा जाय तो सम्भवतः अत्युक्ति न होगी।

कहते हैं लोगों ने अपनी बौद्धिक सामर्थ्य के अनुसार चट्टानें खुरच-खुरच कर, मन के मुताबिक नाना प्रकार की राहें निकाल लीं। कुछ रहस्य तक पहुँचे, कुछ नहीं पहुँचे। कुछों ने गगन-भेदी उद्घोष किया—हाँ, वे पहुँचे, वे समझे। हो सकता है कुछ समझ भी गए हों। कुछ न भी समझे हों। वस्तुतः दोनों ने दो ओर-छोर थाम लिए।

धवल स्वच्छ खादी के वस्त्र, हौले-हौले बोलना, हौले-हौले चलना, हौले-हौले सोचना।—लेकिन सोचना हर घड़ी, हर समय। अधखिचड़ी बाल, माथे की मोटी-मोटी सिलवटें, धोती कुरता और लोई। कुर्ते में हल्के से काले बटन, जेबी घड़ी (शायद अब हाथ की हो गई है), आँखों पर काले फ्रेम का चश्मा—जो बाबा आदम के जमाने से चला आ रहा है। करघे के कपड़ों के साथ घर में किसी ने नाइलोन के रंगीन मौजे खरीद कर धर दिए हैं न। बस, अब दिनों, महीनों वे ही चलेंगे। बार-बार विचार आता है—ये अच्छे नहीं। पर जब सामने रख दिये तो फिर। पसन्द अपनी नहीं, दूसरों की जो है। क्या किया जाय। गांधी बाबा का अहिंसक मार्ग जो अपनाया है।

बहुत वर्ष पहले एक कहानी पढ़ी थी—खेल। लेखक का नाम था जैनेन्द्र कुमार। तब अच्छी लगी थी शायद। बालू के नन्हें-नन्हें घर तब अच्छे लगते थे। अब बचपन के खेलों की तरह 'खेल' भी भूल गया। हाँ, वह याद है—'कागा चुन-चुन खाइयो ···ओह जाह्नवी।' अबोध कील की तरह मन में ऐसी गड़ी कि बस गड़ी रही। फिर जमूरे से भी निकाले निकली नहीं। टूट अवश्य गई। लेकिन टूटे काँटे का तरह···। मैं दिनों तक उसके बारे में सोचता रहा। सोचता रहा—ओह, कैसी अबूझ फूहड़ लड़की।···पिया मिलन की आस···। और अनगिनत टूटते कौवे···।

हुँ, यह भी कोई कहानी है। आदमी को जो परेशान कर दे। साहित्य का पर्याय क्या परेशानी है। फिर क्या यह साहित्य है। वस्तुतः कुछ और है। मेरा मन

तब भी यही कहता था और आज भी। लेखक ने यह कैसे लिखी होगी। जाह्नवी उसकी क्या लगती होगी। जाह्नवी को तो मैं जानता हूँ। शायद और भी बहुत से लोग बहुत-सी जाह्नवियों को जानते होंगे···। जब भी कभी सोचता हूँ मन अनायास उदास हो आता है—हुँ···कागा···। हुँ।

'तुमने मेरा कौन-सा साहित्य पढ़ा है ?'

'जी जाह्नवी पढ़ी है।'

"और ?"

"जी जाह्नवी !"

"और।"

"जी जाह्नवी।" मैं चौंक पड़ता हूँ—"जी नहीं, नहीं, कालेज के दिनों बहुत सी किताबें पढ़ी थीं—'त्याग-पत्र था।' वह, बीते दिन वाला 'व्यतीत' था। वह कट्टो ! जी नहीं 'परख' और तिन्नी वाली—जी।"

"तुम करते क्या हो आजकल ?"

"बस, कुछ नहीं। जाह्नवी लिखता हूँ। जी नहीं। जी नहीं। कहानियां लिखता हूँ —। लिखता तो हूँ, पर समझ में नहीं आता कैसी लिखता हूँ। समझिए बन्द अंधेरे कमरे में चक्कर काटता हूँ।"

"हाँ, वस्तुतः ऐसा ही है।' दार्शनिक भाषा में उत्तर आता है—"समझ न आना भी एक तरह से आना ही है।"

पीले सूरज वाले जाड़ों के ठण्डे दिन हैं। नीला कमरा नीले परदों से घिरा है। फर्श पर जूट की नीली बिछावन है। नीला सोफा, तख्त पर नीली चादर और फुंके बैलून की तरह नीला तकिया है—नीले अजगर की तरह लेटा। यह दरियागंज के किनारे ऋषि-भवन है। बाहर फैज बाज़ार की दोहरी सड़क पर मोटर-कारों की कतारें भागी जा रही हैं। घर-घर-घर धड़-धड़ करती फटफटियों की आवाज, खिड़की की राह बेरहमी से भीतर बैठकर कान के पर्दों को बेध रही हैं। सामने पाँवों के पास नीली अलमारी के नीचे एक गोल-गोल नीला ग्लोब रखा है। धरती की प्रतिमूर्ति है। लोग कहते हैं धरती घूमती रहती है, दिन रात चौबीसों घण्टे। पर एक ग्लोब है। घूमता भी नहीं। उदास मुँह लटकाए। ऊपर धूल की हल्की तह जमी है। ग्लोब भी साढ़े बाईस अंश का तिरछा कोण बनाकर घूमता तो क्या होता।

मैं सामने की ओर देखता हूँ।—दो-तीन और स्वनामधन्य साहित्य-सृष्टा बैठे हैं। बड़े-बड़े मोटे हैं। नहीं, ये साहित्यकार नहीं। साहित्यकार तो मुसीबत में रहते हैं। दुबले-पतले होते हैं।

मैं जिज्ञासु निरीह बालक की तरह उस बर्फ से घिरी नीली झील की थाह लेने

की कोशिश कर रहा हूँ। नहीं, नहीं, जिसकी अपनी ही थाह नहीं। जो सड़कों पर दिन भर भ्रमित-सा भटकता है, राजधानी की बड़ी-बड़ी ऊँची दीवारों से टकराता है, गिरता है, फिर उठता है, घड़ी भर किसी घने पेड़ की छांह पर बैठकर माथे पर उभरा पसीना पोंछता है, फिर आगे की राह टटोलता है।—भला यह क्या थाह लेगा।

"काम क्या करते हो ?"

"समझिए कोई नहीं। कहानियां लिखकर जी लेने की सोचता हूँ। और—।"

सामने से ठहाका उठता है।—जैसे बर्फ से ढँकी झील पर विशाल पत्थर लुढ़क-ढुलक कर धमाके से गिरा हो।

"कहानियाँ लिखकर—।" फिर सन्नाटा छा जाता है।

अधखिचड़ी बालों पर परेशानी से हाथ फिरता है। माथे पर मोटी-मोटी सिलवटें उभरती हैं। चेहरे पर धूप-छाँह की तरह कोई विचार आता है, फिर विलीन हो जाता है। ओंठ किंचित् खुलते हैं, फिर भिंच आते हैं। चश्मे की ओट में घिरी आँखों पर अजब-सा सूना भाव उभर आता है, फिर ओझल हो जाता है "क्या कहा ? कहानियाँ लिखकर।"

\+ \+ \+

लगता है ऋतु बदल गई है अब, किन्तु दिन-रात की वही भागम-भाग। आदमियों के जंगल में कहीं मैं खो न जाऊँ।—डर लगता है। पसीने से भीगा शरीर जैसे मोम की तरह गल रहा है। मैं शीशे के सामने खड़ा होता हूँ। देखता हूँ—शरीर दिन-प्रति-दिन छीजता जा रहा है। मेरे सचित सपन-सुहाने आकाश कुसुम की तरह अदृश्य हो रहे हैं। मैं कहानियाँ लिखता हूँ। बस, कहानियाँ लिखूँगा। मैं समझौता नहीं कर सकता। घर वापिस नहीं जा सकता।

हाँ, फिर वही कमरा है।—नीलम की तरह नीला। वैसे ही चुप खड़ा नीला ग्लोब। नीली छत, नीली दीवारें, नीले पर्दे।

—कैसी बात है। परमात्मा ने मनुष्य को एक मुँह दिया है तो दो हाथ भी तो ! ...

—आदमी जितनी मेहनत करता है, हमेशा उससे कम पारिश्रमिक पाता है।—

"—तुम्हारे घर में कौन है ?"

मैं जैसे जगता हूँ—' मां है।" बड़ी मुश्किल से कह पाता हूँ। मेरा जीवन न मालूम क्यों खिन्न हो आता है। ग्लोब पर फिर मेरी पलकें चिपक पड़ती हैं। मैं विस्फारित विवश नेत्रों से देख रहा हूं—ग्लोब घूमता क्यों नहीं।

"कहीं एप्लाइ किया है ?"

"जी हां। रेडियो में वायस-टैस्ट होने वाला है।···और···और···।"

"अमुक सम्पादक से तुम मिले। अमुक-अमुक स्थानों में तुम्हारी रचनाएँ छप सकती हैं। छपना प्रतिबिम्ब है। जब तक छपेंगी नहीं, तुम कैसे जान सकते हो कि तुम कैसा लिखते हो।" टाल्स्टाय, प्रेमचन्द आदि बहुत से साहित्यकारों के बहुत से दृष्टान्त आते हैं।—"प्रेमचन्द से जब मैं मिला तो ऐसा ही कुछ मैंने भी कहा था।"

मैं दृष्टान्तों से ऊब चुका हूं। चलने लगता हूं।

"तुम्हारे हाथ में क्या है ?"

"जी, कुछ नहीं, कुछ नहीं।" मैं खिसिया कर कहता हूं।

"कुछ तो है।"

"जो हूं हूं—कुछ नहीं।"

"अरे, वाह कुछ क्यों नहीं।"

"जी, यों ही कुछ लिखा था। बस यों ही।"

"दिखलाओ।"

क्या करूं मुझे सूझता नहीं। क्षण भर किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़ा रहता हूं। कैसे कहूं कि यह पढ़ने योग्य कहानी नहीं है।—ऐसा भी कहीं हो सकता है।

"अच्छा छोड़ जाओ। हम देखेंगे। तीन बजे आना। ७।३६ हमारे घर।"

मैं बाहर 'घोड़े वाले पार्क' में पड़ा-पड़ा जेठ-आषाढ़ के तपते तीन घंटे गुज़ार देता हूँ।

तीन बजने वाले हैं। समय की ओर से मैं बहुत सतर्क हूं। न तीन बजने से एक मिनट कम हो, न अधिक। ७।३६ के दरवाजे खटखटाता हूँ।

"भई, कहानी देख गया। अच्छी है। अमुक सम्पादक के पास जाओ। कहना उन्होंने भेजा है। कहना कि वह मुझे फ़ोन कर लें।"

"जी यह तो कुछ नहीं। यह भी कहीं छप सकती है ?"

"चच्···अ ! तुम कैसे कहते हो।"

o o o

"इन्हें जानते हो ?" दीवार की ओर इंगित है। एक चित्र टंगा है—रंगीन। शोभियाना। कपास की तरह खिली दाढ़ी, खादी की लोई ओढ़े।···सुन्दर काला फ्रेम। फ्रेम के ऊपर सुनहरे तारों की चमचमाती माला पड़ी है, जो नीचे तक लटक रही है। गांधी जी के चित्र के अलावा बस यही एक चित्र है जो नीली दीवार पर टंगा है।

यह आदमी अवश्य कोई दार्शनिक है। जोरदार है। मैं देखते ही समझ गया।

"ये आजकल हमारे यहां आए हुए हैं। मैं लगभग महीने भर के लिए यूरोप जा रहा हूँ। तब तक इनके लेखन आदि में सहायता कर दो।"

फिर मेरे चेहरे का भाव पढ़ने का प्रयत्न किया जाता—'अरे, इन्हें महात्मा जी कहते हैं।"

मेरी समझ में नहीं आता। महात्मा जी तो एक ही हैं जो दीवार की दूसरी ओर बैठे हैं—खद्दर की चादर ओढ़े।

हां, फिर बतलाया जाता है—इन्हें महात्मा भगवानदीन जी कहते हैं।

मुझे अपनी अल्प बुद्धि पर तरस आता है। मैं इतना भी नहीं जानता।

"अच्छा, तुम उनसे मिल जाओ।···अरी, कक्कू इन्हें पहुंचा दो।"

नन्हीं कक्कू रास्ता बतलाती है। एक मकान के आगे खड़ा कर देती है।

खुरड़ी खटिया पर विराजमान दीवार वाले चित्र की प्रतिमूर्त्ति देखता हूँ, तो अपनी आँखों पर मुझे विश्वास नहीं हो पाता। फ्रेम वाले आदमी और बिना फ्रेम के आदमी में तीन और छः का अन्तर है। कृशकाय, घुटा हुआ सिर, कपास की तरह खिली दाढ़ी नदारत।···चारपाई की बग़ल में भरी हुई पीक-दान।···

मैं लौट जाता हूँ। अपनी असमर्थता प्रकट करता हूँ। बीमारी का बहाना बनाता हूँ और फिर हफ्तों तक उधर झाँकने का नाम तक नहीं लेता।

× × ×

झमाझम पानी गिर रहा है। बरखा की तिरछी बौछारें पड़ रही हैं। सड़कें नहरों का काम दे रही है। मैं पानी में डूबा गली-गली भटक रहा हूँ। चलते-चलते सहसा पाँव ठिठक पड़ते हैं।

चारों ओर अनन्त, असीम जल ही जल। लहरें ही लहरें। कहीं कोई किनारा नहीं। मेरे पंख थक गए हैं। मैं फिर जहाज़ की ओर लौटता हूँ।

"कहो हज़रत क्या हाल है?" वही सदा की स्वाभाविक अम्लान मुस्कान। "क्या कर रहे हो आजकल?"

"बस यहीं···।"

मालूम है इस व्यक्ति ने झूठ बोला था। वक्त पर काम नहीं आया था, फिर भी···चन्द दिनों बाद······।

"···भई देखो, इतने तुम्हारे खाने में खर्च होंगे। इतने कपड़े-लत्ते में। और जेब खर्च इतने में आसानी से चल सकता है।······तो घर के लिए दस रुपए तो बचा ही सकते हो न।···"

"···मैं भी कभी ऐसे ही घर से निकल पड़ा था। दिल्ली छोड़कर कलकत्ता गया था। दो पैसे का इत्ता बड़ा तेल का पराठा हावड़ा स्टेशन पर खाया था,

आज भी याद है। लेकिन मैं रीता लौट आया था···माँ के पास। इकलौता बेटा जो था न!···तुम्हारी तरह।"

मैं पीछे मुड़कर देख रहा हूँ। आज कितना समय बीत गया। धूल से ढंका ग्लोब आज भी वहीं पर है, उसी तरह। धरती अपनी परिधि पर न मालूम कितनी बार घूम गई। कितने बसन्त, कितने पतझड़ बीत गए। दुनिया कहाँ की कहाँ चली गई।

जोशी आफिस का काम ही नहीं देखता, घर का भी एक सदस्य है।

मैं रात को देर तक पढ़ता हूँ। अतः सुबह आफिस पहुँचता हूँ तो आँखों में तनिक ललाई झलकती है।

"क्यों भई, खैरियत तो है। घर से कोई चिट्ठी-विट्ठी तो नहीं आई?"

"नहीं तो।" बिना पूछे ही मैं कहना शुरू कर देता हूँ—"रात को पढ़ते-पढ़ते पता ही नहीं चला कब कितना समय बीत गया। किताब खतम होने पर होश आए कि रात के चार बजे हैं।"

चार, छः, दस, बारह बजते जा रहे हैं। समय बीतता जा रहा है। दिन बीतते जा रहे हैं।

"—भई, इन्हें जानते हो।" ये···कहानियाँ लेख वगैरह लिखा करते हैं।"

"— भई, वारान्निकोव, ये··· ।" वारान्निकोव हँस कर कहते हैं कि वे मुझे बहुत पहले से जानते हैं।

"—सत्यकाम ये··· ।"

"... आज रेडियो में जोशी की कहानी आने वाली है। क्यों भई।" रेडियो के पास चार-छः जने खड़े हैं—यह आकाशवाणी दिल्ली है—बच्चों का कार्यक्रम—सूहो का सितार—लिखने वाले हैं··· ।

"—तुम घर जा रहे हो। पैसे-वैसे हैं कुछ या यों ही?···भई, सुनना भगवती जी—कुछ है तुम्हारे पास।"

—सोचता हूँ कभी-कभी पैसा-वैसा क्या है। सब लोग पारिवारिक भावना लेकर रहें, साथ रहें—आश्रमों की तरह। लेकिन सिद्धान्त और यथार्थ।···

× × ×

शरद् की धुली चाँदनी में, वर्षा की बौछारों में, उमड़ते-उमड़ते झंझा वार्ता में, यानि कि हर ऋतु हर मौसम में मैंने इस बर्फीली झील को देखा है। लेकिन कभी विचलित नहीं पाया। तूफान आते हैं और निकल जाते हैं। हिम-मंडित ज्वालामुखी की तरह शान्त।···सतह पर लहरें भी शायद किसी ने न देखी होंगी। एक सनातन भाव, एक सनातन विचार—पार्क पर खड़ी मूर्ति की तरह।

न जाने कौन-सी विदेश-यात्रा है। तैयारी हो चुकी है। शिशिर के दिन हैं। धुंधला है। कुहासा है। लोग फूल मालाएं लिए कार की ओर बढ़ रहे हैं। लेकिन यह क्या—

यह कौन-सा कुर्ता पहन लिया। आस्तीन पर से बिल्कुल फट गया है।

—अरे भई, सब ठीक है। क्या धरा है कपड़ों में।

फूलों से ढंकी देह, फटा कुर्ता, विदेश यात्रा।···एक साहित्यकार—हिन्दी का···। प्रेमचन्द की पीढ़ी का।

और याद आता है। बहुत वर्ष पूर्व हुए एशियाई लेखक सम्मेलन के दिनों में देखता हूँ—

—भई, पालम जाना था, रूसी डैलिगेशन को लेने।

"लेकिन—कार से एक भला मानुष दब गया। बीच सड़क पर बेचारा घबराकर भागने लगा। गाँव का मालूम होता है।···"

सुना, कार रोकी। दुर्घटना-ग्रस्त आदमी को अस्पताल में भरती करवाया। खुद पुलिस के पास पहुँचकर अपनी रिपोर्ट दर्ज करवाई। ड्राइवर को भी बख्शा नहीं।

फिर—

"भई···प्रदीप···। जोशी कोई है।"

"···।"

"भई सम्मेलन जाना था। कुछ पैसे-वैसे हैं।"

"·········!"

"कुछ तो होंगे।"

"·········।"

"बस, बस। इतने से काम निकल जाएगा। बहुत हैं।"

कहते हैं साहित्यकारों ने साहित्य की दौड़ में ही भाग नहीं लिया, बल्कि कारों की दौड़ में भी। मैं ऐसे हज़ारों को जानता हूँ जो सीलन भरे कुएँ से निकल कर आलीशान फ्लैटों में चले गए हैं।

बहुत से धीर-गम्भीर, सुधी सज्जन भी इस 'स्पुतनिक-युग' में पीछे नहीं रहे हैं। आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक हर तरह की प्रतिष्ठा की ऐसी मजबूत किलेबंदी की है कि प्रलय का ज्वार भी उन्हें ढहा नहीं सकता।

लेकिन देखता हूँ। सोचता हूँ—आज भी वही किराये का नीला कमरा है। वही नीले पर्दे, वही धूल से ढंका नीला ग्लोब। वैसा ही। रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं।

दिनों-महीनों में आज भी कभी उधर जाता हूँ—उस गली से होकर गुजरता हूँ। देखता हूँ—सब कुछ वैसा ही है—जैसा दो साल, दस साल, बीस साल पहले था।

दुनिया की दौड़ में कौन आगे निकलता है—रुकने वाला या भागने वाला। ग्लोब या पृथ्वी··· ! साहित्यकार या साहित्य कार।··· सफ़ेद बर्फ़ानी चादर से ढंकी एक झील । एक साहित्यकार ···।

"—भई झील की गहराई तुम जानते हो !"

"नहीं-नहीं ! हिम से ढँके पानी की गहराई नापना अपने वश की बात नहीं।"

—o—

डाक्टर राजेश्वर गुरु

जैनेन्द्रकुमार : व्यक्तित्व दर्शन

'परख' और 'सुनीता' के लेखन से प्रारम्भ करके गांधीवादी-सर्वोदयी दर्शन की मंज़िल तक का पथ एकदम ऋजु नहीं दीख पड़ता। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के कर्त्ता के साथ मानवतावादी, आदर्शोन्मुखी दार्शनिक का मेल ठीक-ठीक नहीं बैठता, यह अनेक तार्किकों का मत है। किन्तु सही बात यही है कि घोर व्यवहारिक यथार्थ की संकुलता के बीच से ही आदर्श अपना रास्ता बनाकर चलता है। यों भी कह सकते हैं कि यथार्थ की दृष्टि जितनी गहरी और घनी होगी, आदर्श की कान्ति उतनी ही प्रखर और आकर्षक होगी। जो जीवन को जितनी ही मज़बूती से पकड़ेगा, आस्था से ग्रहण करेगा, वह उतनी ही दृढ़ता से, उतने ही विश्वास के साथ जीवन के यथार्थ को कह पायेगा और आदर्श को छू सकेगा। सोचें, तो जान पड़ेगा कि इस उपलब्धि के लिए आवश्यकता एक अद्भुत बौद्धिक संतुलन की है, जो यथार्थ को चिपचिपाहट और आदर्श को आकाश कुसुमता के खतरे से बचाए रह सके। अगर कहें कि जैनेन्द्रकुमार का व्यक्तित्व ऐसे ही संतुलन का व्यक्तित्व है, तो संभवतः यह उनका सबसे सच्चा परिचय होगा।

अपरिचय में ज्ञान अधूरा रह जाता है, अति-परिचय में वह रागात्मक हो उठता है। मैं जैनेन्द्रकुमार से परिचित हूँ, इतना ही कि उनके बारे में निकटता से जान सका हूँ, इतना अधिक नहीं कि उनकी बात को लेकर एकदम भावुक हो उठूँ। दो दशाब्दियाँ होने आई हैं, जब उनके साथ उनके निवास-स्थान पर ठहरने का अवसर मिला था। तब श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान जीवित थीं। वे भी मेरे साथ थीं। दूसरी बार कोई पाँच वर्ष पूर्व वे भोपाल आये थे और तब दो दिन उनके साथ रहने का अवसर आया था।

इन दो सम्पर्कों मे विभिन्न सूत्रों से जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में अपनी निजी धारणा बनाने में सहायता मिली। जब मैं प्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिख रहा था, तब प्रेमचन्द सम्बन्धी उनके लेख को लेकर कुछ पत्र-व्यवहार भी मेरा जैनेन्द्र जी से हुआ था। उनको जानने में यह प्रसंग भी उपयोगी सिद्ध हुआ।

विस्तृत परिचय देना आसान हुआ करता है। विस्तार से कही बात सत्य को कम से कम स्थूल रूप में रखने में तो सफल हो जाती है, लेकिन जहाँ विस्तार की

गुंजाइश न हो, जो कथनीय है उसे सूत्र में कहने के अतिरिक्त कोई चारा न हो, वहां कठिनाई खड़ी हो जाती है। जैनेन्द्र जी के सम्बन्ध में यही संकट है। उनका व्यक्तित्व सूत्रात्मक है, सूत्र के सहारे ही उनके विस्तार को समझना होगा। उनके बाह्य की सरलता और अन्तर की गम्भीरता उनके परिचय के चारों ओर परिधा-सी खींचे रहती है, जिन्हें लाँघकर भीतर पहुँच पाना सर्वथा आसान नहीं होता।

जो मितभाषी हो, जिसका मौन उसकी मुखरता से अधिक वाचाल हो, जो रूप से अरूप और दृश्य से अदृश्य तक फैल सकने वाली दृष्टि लिए हुए हो, जो वर्तमान के क्षितिज पर किसी भविष्य का आलोक द्रष्टा हो, उसे एकदम सामान्य विधि से पहचानना, परखना संभव नहीं होता। मैं जब-जब जैनेन्द्रजी के बारे में सोचता हूँ, तो मेरे सामने प्रशान्त महासागर का चित्र साकार हो उठता है।

यह कथन स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। जैनेन्द्रजी की महासागरता इसमें है कि अपनी अभिव्यक्ति में भी उतने ही अगम्य, दुस्तर हैं। उनके भीतरी आड़ोलन अभिव्यक्ति में जैसे सकुच जाते हैं। लेकिन कोई कहे कि भीतर रत्न नहीं हैं, तो लगेगा कि अवगाही अभी अबोध है। हाँ, यह ठीक है कि इन रत्नों की परख सर्व-सुलभ नहीं है।

यह निर्विवाद है कि जैनेन्द्रजी मूलत: विचारक हैं। उनका कथाकार उनके बुजुर्ग विचारक का पल्ला पकड़कर चलता है। जहाँ कथाकार पर यह विचारक हावी नहीं हुआ है, वहाँ जैनेन्द्र की कृति कथा-साहित्य का गौरव बन गई है। लेकिन अनेक प्रसंगों में जैनेन्द्र का विचारक कथाकार को एकदम अपने नियंत्रण में रखने की कोशिश में कथा-रस में व्याघात पहुँचाता जान पड़ता है। फिर भी यह सत्य है कि जैनेन्द्र के समस्त व्यक्तित्व का रहस्य उनके विचारकत्व में है। जिसने जैनेन्द्र के विचार एकत्र किए थे, उसने यह मान लिया था कि जैनेन्द्र का विचारक रूप ही उनका प्रकृत रूप है।

जैनेन्द्र का कथा-साहित्य विद्रोह का साहित्य है। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को समाज की वेदी पर बलि होते देखकर क्षुब्ध हो उठता है, उसका विद्रोह तेजस्विता के साथ मुखर हो उठता है। उन्होंने समाज में गिरी हुई नारी की जैसी हिमायत की है, वैसी किसी क्रांतिदृष्टा की कृति और वाणी में ही संभव है, पर समाज से एकदम इन्कार करके, उसको आमूल नया बनाने की कोशिश करने वाला समाज की साधारणता के साथ मेल न खा सकने के कारण समाज से दूर जा पड़ता है। यहीं उस व्यावहारिकता की आवश्यकता पड़ती है, जो गाँधी जैसे क्रांति दृष्टा में मिलती है। बाद में जैनेन्द्र ने गांधीवाद को स्वीकार किया है, किन्तु गांधीवाद का व्यावहारिक पक्ष जिस सामंजस्य को साधकर चलना चाहता है, वह जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में नहीं

भी मिलता। तभी उनकी कथा-कृतियाँ एक बेचैनी-सी जगाकर रह जाती हैं। तभी लगता है कि उनकी कट्टो, उनकी सुनीता, उनकी मृणाल उनके विरुद्ध एक आरोप-पत्र, एक अभियोग-पत्र लिए जनता की अदालत में खड़ी हैं। जैनेन्द्र ने यद्यपि इन बेज़-बानों को सहनशीलता के माध्यम से वाणी प्रदान तो की है, किन्तु उनके प्रति सहानु-भूति-संवेदना जैसी कुछ, जितनी कुछ जगनी चाहिए, वह जग नहीं पाती।

और विचारक जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में आलोचक कहता है कि उनकी प्रक्रिया मात्र मंथन की प्रक्रिया है, किन्तु मंथन जब तक नवनीत न दे पाये, उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। अगर दर्शन में साधना और सिद्धि जैसी स्थितियाँ संभव हैं, तो कहेंगे कि जैनेन्द्र का विचारक अभी साधक है।

संभवतः बात ऐसी कुछ भी हो सकती है, जैसी आचार्य विनोबा भावे के सम्बन्ध में कही जाती है। सर्वोदयी दर्शन को व्यवहार में फैलाने का प्रयत्न विनोबा कर रहे हैं, किन्तु निहित स्वार्थ ढंग-ढंग से बाधाएँ खड़ी कर रहे हैं। तभी एक सहज सत्य लोगों को अत्यन्त स्पन्दित नहीं कर पा रहा है। संभवतः भौतिकता के निविड़ वातावरण में सर्वोदयी दर्शन की विचारधारा अभी गरम तवे की बूँद बनी हुई है। लेकिन भौतिकता का अतिरेक एक दिन स्वयं जब आध्यात्मिकता के लिए विकल हो उठेगा, उस दिन सम्भवतः जैनेन्द्र की वाणी का मर्म जन-मानव अधिक समझ पायेगा।

जैनेन्द्र कथाकार हैं, विचारक हैं, दार्शनिक हैं।

प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त

जैनेन्द्र : उपन्यासकार

तप-विह्वल, खद्दर-भूषित, अहंकार से किन्चिन्मात्र छुए एक युवक कलाकार की मूर्ति हमारे मन में उठती है। उसमें सरलता है, उत्साह है, लगन है, विचार-मौलिकता है। उच्च कलाकार के उसमें स्वाभाविक गुण हैं। कुछ ही वर्षों में उसने हिन्दी के कहानी-संसार में अपना स्थान सुरक्षित बना लिया है। क्षितिज से उठकर वह नक्षत्र आकाश में ऊँचा पहुच गया है। क्या है उसका भविष्य ? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है।

अब तक उसके दो कहानी-संग्रह—'वातायन' और 'एक रात'—और तीन उपन्यास निकल चुके हैं—'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र।' आज हम उसके व्यक्तित्व को भूलकर केवल उसके तीन उपन्यासों की 'परख', करेंगे। 'सुनीता' की प्रस्तावना में उपन्यासकार ने लिखा ही है : 'पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। जैसे सृष्टि ईश्वर को छिपाये है, वैसे मैं भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा हुआ हूँ—'।

इन शब्दों के पीछे जैनेन्द्र कलाकार के अनेक गुण छिपे हैं–सरलता, मौलिकता और शब्दों के आडम्बर को चीरता हुआ शॉ सरीखा उनका सुपरिचित 'अहंभाव'।

जैनेन्द्र छोटा पट-चित्र पसंद करते हैं। दो-एक मनुष्य-भावनाओं को लेकर ही वह गहरे से गहरे जाने का प्रयत्न करते हैं। 'परख' और 'सुनीता' के कथानक में एक प्रकार की समानता भी है। एक स्त्री के चारों ओर दो पुरुषों के जीवन-स्वप्न केन्द्रित हैं। कभी-कभी ऐसा भान होता है कि जैनेन्द्र की कला उपन्यासकला नहीं, वरन् गल्प-कला है, क्योंकि जीवन के किसी लघु अंग की विवेचना ही उन्हें अधिक पसंद है। जैनेन्द्र मनुष्य के अन्तर्भावों के विश्लेषण में बहुत दूर जाते हैं और उनकी कला में हमें जीवन की जटिलता का भास होता है, इसी कारण उनको सफल उपन्यासकार कहा जा सकता है। कला का कोई एक स्थायी स्वरूप नहीं। युग और व्यक्ति-विशेष के साथ उसके बाह्य रूप में परिवर्तन आ जाता है।

'सुनीता' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र स्वयं कहते हैं : 'पुस्तक में मैंने कोई लम्बी-

चौड़ी कहानी नहीं कही है। तीन-चार व्यक्तियों से मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कन्वास की ज़रूरत मुझे नहीं लगी, थोड़े में सब कुछ को क्यों न दिखाया जा सके ?'

जैनेन्द्र का संसार मानो अँधियारे आलोक से झिलमिल है। एक प्रकार का कुण्ठित, अवसाद भरा यहां का वायुमण्डल है। खुले ग्राम, खेत, हवा इस व्यथा-भार से दबे निम्न श्रेणी के मध्य वर्ग को नसीब नहीं। इस चित्रपट पर जैनेन्द्र के कठिन जीवन की स्पष्ट छाप है। 'सुनीता' में अवश्य हम कुछ खुली-सी हवा में साँस लेते हैं। नहीं तो 'परख' की काश्मीर-सुषमा में भी हर्ष और उल्लास का नाम नहीं। मध्य वर्ग के डूबते प्राणी ही निरन्तर इस जग में तैरते-उतराते हैं। कट्टो का भग्न घर जहां अधपकी जामुन पेड़ से अनायास ही पट-पट गिर पड़ती हैं; सत्य का 'दीवारों से घिरा' अँधेरा कमरा; सुनीता का सन्नाटे भरा घर जहाँ पिस्तौल का शब्द भी वायु में गूँज कर खो जाता है; प्रमोद की बुआ की कुण्ठित कोठरी—व्यथा-भार से दबे इस वायु-मंडल के बादल मानो अब बरसे, अब बरसे !

'सुनीता' में जो चित्र वनाने का प्रयत्न हरिप्रसन्न कर रहा है, वही जैनेन्द्र के हृदय की पीड़ा है। शब्दों में उसे व्यक्त करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं। 'हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिये वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिये है, उसके लिए वह गाँठ है। यह चित्र हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है।' यह जैनेन्द्र के लिये भी लागू हो सकते हैं।

जैनेन्द्र के प्लॉट सीधे-सादे होते हैं। वे स्वयं ही कहते हैं। 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।' वे मानव-स्वभाव की बहुत उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझाने में लगे हैं। 'परख' में सत्यधन खोटे निकले। कट्टो से वचनबद्ध होकर भी वे सुख और वैभव की ओर ढुलक पड़े। शरत्चन्द्र की 'अरक्षणीया' में यही चित्र भयंकर होकर दुःसह दुःखदायी हो जाता है। अरक्षणीया का अपने मुख पर वह टिकली और काजल लगाना कितना असह्य हो उठता है ! 'सुनीता' और रवि बाबू के 'घरे-बाहरे' में विद्वानों ने समता देखी है। एक स्त्री कुछ विचित्र ही ढंग से दो मित्रों को पास लाती है और दूर करती है। 'सुनीता' का पूर्ववर्त्ती भाग उच्च और मजी कला का नमूना है। पिछले भाग में कलाकार कथा का प्रवाह ठीक-ठीक निभा सकने पर भी अपने मंतव्य में कुछ अस्पष्ट है। यह भी कह सकते हैं कि वह अधिक गूढ़ हो गया है। 'त्याग-पत्र' अपने लक्ष्य में अविराम और अचूक धार में बहा है। भाग्य की-सी कठिनता और अनवरतता इसके कथानक में है। इस प्रबल प्रभाव का विराम जीवन की चट्टानों पर टकराकर

भग्न होने में ही है।

जैनेन्द्र के वस्तु-भाग में कलाकार बहुत आगे रहता है। हमारी आंखों की ओर नहीं रहता। निरन्तर वह अपने पात्रों के भावों का विश्लेषण करने में निमग्न है। 'परख' में अवश्य अनेक नाट्य-दृश्य हैं, जिनमें हम कहानीकार को भूल-से जाते हैं।

जैनेन्द्र के पात्रों में चार पुरुष और तीन स्त्री विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्यधन और बिहारी, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न इस प्रकार आमने-सामने रखे गये हैं कि एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश पड़े। जैनेन्द्र मनुष्यों का चित्रण करते हैं। देवता और दानवों में उन्हें विश्वास नहीं। 'परख' की भूमिका में आप लिखते हैं, 'सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थल पर, समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है—और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम और पशु से ऊपर।'

फिर भी हमें जैसे लगता है कि सत्यधन अपने आदर्श से गिर गये, जीवन की 'परख' में पूरे नहीं उतरे और बिहारी कुछ अपने से भी ऊँचा उठ गया। सत्यधन की भाँति ही 'परिणीता' में शेखर अपने वचन से डिगकर पथभ्रष्ट हो गया था। दूर आलोक देखकर पतंग के समान वह उधर ही ढुल पड़ा। बिहारी का चरित्र कट्टो ने खूब समझा है।

'तुममें तो कुछ समझने को है ही नहीं। जो बाहर है, वही भीतर है। भीतर भी वही विनोद का झरना झरता रहता है, जिसका आधा जल आँसू का और आधा हँसी का है, और जिसमें से हर बात आर-पार दिखाई देती है।'

श्रीकान्त और हरिप्रसन्न भी इसी प्रकार एक-दूसरे की स्निग्ध सौम्यता और उग्र तेजस्विता को और भी गहरी दिखाते हैं। श्रीकान्त हमको बंगाल के अमर कलाकारों का अपने नाम के अतिरिक्त भी और कारणवश स्मरण दिलाता है। उसके चरित्र में वही गंभीर सरलता है, जो हमें बड़े साहित्य के पात्रों में मिलती है। हरिप्रसन्न अग्नि के समान प्रखर और प्रचण्ड है। गौरमोहन का उसे सूक्ष्म रूप समझना चाहिये। क्रान्ति के युग का वह प्रतिनिधि है। वह कहता है—'आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुयेंगे। सनातन और अनन्त को भी हम चखेंगे। तुमने बनी-बनाई राह सामने कर दी है। वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और यह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर संतुष्ट पारिवारिक-जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है।'

इन पात्रों के चरित्र में कठोर मनोवैज्ञानिक सत्य है। इनका स्थान हमारे

साहित्य में चिर-स्मरणीय होगा। जैनेन्द्र की तीन स्त्री पात्र कुछ और भी रहस्यमयी और गहन हैं। जैनेन्द्र ने यह अवश्य समझ लिया है कि स्त्री एक अबूझ पहेली है। यहीं उनके चरित्र मार्मिक हैं। यद्यपि कभी-कभी उनकी स्त्री-पात्र ऐसे व्यापार भी कर डालती हैं, जो सहज बुद्धि की समझ में नहीं आते।

कट्टो उनकी स्त्री पात्रों में पहली होती हुए भी गम्भीरता लिये है। बड़ी भावुकता से जैनेन्द्रजी ने 'परख' कट्टो को समर्पित किया है।

'मेरी कट्टो, तुमने कुछ नहीं लिया—यह तो ले लो। यह तुम्हारे ही लिये है। देखो, इन्कार न करो, टालो मत। अपने को तुमने विधवा ही रखा, इसको सधवा बना दो। अपने चरणों में आने दो।—' रवि बाबू ने अपनी एक कहानी में पुराने भारतीय कारीगरों का वर्णन किया है। वे तलवार के एक ही वार में फल ऐसा काट देते थे कि दो टुकड़े होकर भी वह एक-सा लगता था, जब तक कोई उसे हिलाये-डुलाये नहीं। कट्टो के जीवन में हँसी, खेल, विनोद इसी प्रकार भरा था, किन्तु पीड़ा के एक ही प्रहार ने उसका विनोद गांभीर्य से काट कर अलग कर दिया। कट्टो का चरित्र जैनेन्द्र-साहित्य का एक उज्ज्वल नक्षत्र है। न जाने कहाँ से उसमें इतनी समझ, गम्भीरता और बलिदान-शक्ति आ गई!

'सुनीता' रहस्यमयी है। उसको समझना कठिन है, किन्तु हमारी पूरी सहानुभूति उसके साथ है। नवीनता की खोज के आक्षेप से अपने को बचाते हुए जैनेन्द्रजी ने हमसे कहा था कि 'सुनीता' में भारतीय स्त्री का पातिव्रत्य पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कोई भी बलि उसकी शक्ति के बाहर नहीं। श्रीकान्त उससे कह गये थे कि हरिप्रसन्न को रोकना ही होगा। उसे रोकने के लिए सुनीता ने अपने स्त्रीत्व तक की बाज़ी लगा दी। मिश्र देश की Sphinx और सुप्रसिद्ध चित्र Mona Lisa के समान रहस्यमयी इस नारी के मन में न जाने क्या मधुर पीड़ा-मिश्रित भाव छिपे हैं! लौह तीली के समान वह कठिन है और कितनी भी झुक जाने पर नहीं टूटती।

'त्याग-पत्र' केवल एक स्त्री—मृणाल अथवा प्रमोद की बुआ—की जीवनकथा है। गहरा और कठिन अवसाद मृणाल के मन पर जमा है। भारतीय समाज की कड़वी और सच्ची आलोचना, 'त्याग-पत्र' में है। यह आलोचना सुनने और समझने का साहस सबमें होता भी नहीं। मृणाल की विचारधारा शायद हम न ठीक-ठीक समझें; किन्तु कितना अभिमान और आत्म-सम्मान उसके मन में है। कट्टो और सुनीता से भी अधिक वह हमारे मन को विचलित और व्यथित कर देती है।

जैनेन्द्र हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक हैं। रूढ़ियों पर उन्होंने कठिन प्रहार किये हैं। किसी सरल, स्वच्छ, आकर्षक जीवन की खोज में वह निरत हैं, किन्तु शायद उन्हें इस अँधियारे में अपना पथ स्पष्ट नहीं सूझता। 'मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती

थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिये, कुछ करना चाहिये। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है, समाज ग़लत है, जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा। पर क्या-क्या ? वह क्या है, जो भवितव्य है और जो कर्त्तव्य है ?'

अथाह सागर की भाँति जीवन हमारे सामने हिलोर मार रहा है। उसका आर-पार कुछ नहीं सूझता : 'समंदर है। अपनी नन्हीं-नन्हीं कागज़ की डोंगी लिये उसके किनारे खेलने के लिये आ उतरते हैं। पर किनारे ही कुशल हैं, आगे थाह नहीं है।' ऐसी अधिकतर हमारी मनोवृत्ति है। जैनेन्द्र आगे बढ़ गये हैं; किन्तु पृथ्वी उनके पैरों के नीचे से भी निकल रही है। 'उस सागर की लहरों का अन्त कहाँ है ? कूल कहाँ है ? पार कहाँ है ? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँख के ठहरने को कोई सहारा नहीं है। क्षितिज का छोर है, जहाँ आसमान समंदर से आ मिला है, वहाँ नीला अँधियारा दीखता है। पर छोर वहां भी नहीं है। वहाँ छोर तो हमारी अपनी ही दृष्टि का है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूल विस्तीर्णता है।'

जैनेन्द्र की भाषा के अनेक गुण इस अवतरण में हैं। सादगी, गान्धी के 'नव-जीवन' का स्मरण दिलाने वाली; काव्य तक उठने की क्षमता; एक खटकने वाली कृत्रिमता—जैसी कोई अच्छा बड़ा मनुष्य तुतलाने का प्रयास करता हो ! 'किन्तै' 'ठैरा' 'समंदर' हमारे कान को नहीं सुहाते। 'परख' से 'त्याग-पत्र' तक जैनेन्द्र की शैली खूब परिमार्जित हो चुकी है। वह अधिक प्रवाहमयी है और प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकी है। 'परख' में बहुधा काव्य का आनन्द उनकी भाषा हमें देती है; किन्तु यह स्वाभाविक है कि कथावस्तु में अधिक प्रवाह आने पर गद्य-काव्य की कुछ हानि हो।

जैनेन्द्र कलाकार अपनी रचनात्मक शक्तियों पर आज पूर्ण रूप से अधिकारी हैं। 'परख', 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' का मनन कम से कम यह हमें बताता है। भविष्य में हिन्दी उनसे बहुत कुछ आशा कर सकती है। मध्याह्न में पहुँच कर यह नक्षत्र ज्योति से हमारा जग भर देगा।*

('नया हिन्दी साहित्य' से साभार)

*प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त की आज से २२-२३ वर्ष पूर्व की गई यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुकी है।—सम्पादक

आचार्य डाक्टर नगेन्द्र

'त्यागपत्र' और 'नारी'

प्रेमचन्द जी के सभी उपन्यास हिन्दी के मूर्धन्य पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

समय और सुविधा को देखते हुए यहाँ मैं श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' उपन्यासों को लूँगा। ये दोनों उपन्यास मुझे काफ़ी प्रिय हैं। इनमें कुछ इस प्रकार की समता और बिषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

त्यागपत्र और नारी दोनों ही में एक नारी की कहानी है। त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और नारी जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है। दोनों ही हमारे सन्मुख एक अभुक्त वासना लिये आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह उनके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है। पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवं पति की यन्त्रणाएँ इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का संचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता, और वह एक उद्दाम तीव्रता लिये झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानों चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही एक तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंगमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गाँव वालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिये जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती, जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़ एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है— वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है, परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल थामले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिये उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गई; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है, जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ बिल्कुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में गाँधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते हैं। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं—

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल जाता है।"

—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुख है। किसी को दुख ही दुख हो तो वह ज़िन्दा कैसे रहे? आज तो पूरा उपाय करने की सोच ली है। आनन्द इसमें भी है।"

—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाय तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनों उपन्यासों में आत्म-व्यथा में जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया

है। कष्ट के कारणों से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर, उसमें आनन्द की भावना करना अहिंसा है; और अहिंसा यह सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त में जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने में अपनी मुक्ति समझती है। जमुना में यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है, परन्तु दोनों के दृष्टि-कोणों में एक अन्तर है—नारी की विचार-धारा में समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु त्यागपत्र में यह बात नहीं है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने में भी वह समाज-नीति का उल्लंघन न कर पाये। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमें पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज है। इसके विपरीत त्यागपत्र में सामाजिक मानों की अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते हुये भी मृणाल अपने प्रति सद्-व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है और उत्तेजना में आकर नहीं, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन में प्रवेश करना शायद आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते हैं, परन्तु सियारामशरण जी समाज की मर्यादा-भंग करना श्रेयस्कर नहीं मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु-शैली से समझिए—

सबसे पहले दो नारियाँ अपने जीवन का संघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन में प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किस में है—विवाह की मर्यादा में, या प्रवृत्ति के उपभोग में? प्रत्यक्ष रूप में यही धारणा होती है सियाराम-शरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष में हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मंजिल है। त्यागपत्र और नारी का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नहीं आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमें मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पड़ेगा, क्योंकि त्यागपत्र और नारी स्पष्टतः ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका—विशेषकर त्यागपत्र का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है?

त्यागपत्र के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि नारी में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है : मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहिली मंज़िल तो आप को पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहाँ आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पारकर जैसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन

का समाधान ढूँढ़ने में व्यस्त दिखाई देते हैं ! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँच कर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : "कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों ? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है······इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ ?' यहाँ आकर अधिकाँश संक्रान्ति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गाँधी-नीति के प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उसके घट में उतर जाता है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरणजी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है, परन्तु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरण जी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों--पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलॉसफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न क्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूँढ़ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुये और सियारामशरण जी प्रवृत्ति से लड़ते हुये।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तित्वों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्र जी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिये, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरणजी में अधिक आत्म-निषेध होना उतना ही स्वभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिये सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व का अङ्ग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना

सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसलिये अपने प्राप्य के लिये उनको सियारामशरण की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसीलिये जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिये अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहंकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल हैं। इसीलिये उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहाँ तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं। निदान त्यागपत्र में जहाँ तीव्रता है वहाँ नारी में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनों का सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी त्यागपत्र की शैली में तीखापन और वक्रता है, नारी की शैली में कोमलता और सरलता है। त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और नारी की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल उठती है। त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है, उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुंह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तक़लीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाय, तो आपको कैसा लगेगा? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएँ ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्म-व्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव नारी की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है। उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं। नारी की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहाँ तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुक़दमे कुछ कम होते तो अच्छा था, क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा लेते हैं। नारी की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहां पाठक

का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

त्यागपत्र में जब मृणाल पति के घर से निकल कर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भांति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षित मध्य-वर्गीय बाला के लिये यह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिये किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुन्जाइश नहीं थी ? यह सन्देह एक बार जरूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिये असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनाशील मन अतिशय संवेदनाशील हो गया है। बस, उस आख़िरी धक्के से वह एक बार कुछ समय के लिये समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिये तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियां फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं ! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेन्ज का परिणाम भी हो सकती है !! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नारी में भी एक स्थल सन्देहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिये, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा-विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकर जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं; प्रभाव को तीव्र करने के लिये उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिये सवेदना के मापक रूप में सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वह प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से स्तीफ़ा दे देते

हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसीलिए जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हंसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम नारी में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिये आप वह स्थल ले सकते हैं जहां एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिलकुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिये। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ, प्रवेश करता है।

त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और नारी का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

डाक्टर प्रभाकर माचवे

जैनेन्द्रजी का जयवर्धन

प्रारम्भिक

सन् १९३७ में 'जैनेन्द्र के विचार' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसका सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया था। उसमें एक विस्तृत भूमिका थी और अन्त में विशद टिप्पणियां भी दी गई थीं। वह पुस्तक अब अप्राप्य है। जैनेन्द्रकुमार पर शोध और अनुसंधान करने वाले तक उस पुस्तक का उल्लेख नहीं करते हैं और उसके विषय में नहीं जानते हैं। बाद में उस भूमिका के कुछ अंश जैनेन्द्र जी के 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय' नामक पुस्तक की भूमिका में फिर से छपे हैं। जैनेन्द्रकुमार के साहित्य को पढ़ने और उसका रस ग्रहण करने वालों को उपर्युक्त दोनों पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहियें। जैनेन्द्रकुमार पर एक निबन्ध मासिक 'हंस' में स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के आग्रह पर मैंने सन् १९३६ में लिखा था, जो जीवन-सुधा में यशपाल जैन ने पुनर्मुद्रित किया। वह भी इस दृष्टि से विद्यार्थियों को पढ़ना चाहिये कि लेखन और लेखक के बीच में जिस इकाई की जरूरत इधर अधिकाधिक अनुभव की जा रही है उसका उत्तम प्रमाण उस लेख में दिखाया गया था। 'त्याग-पत्र' के मराठी अनुवाद की भूमिका में मैंने जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास पर पुनः एक लेख मराठी में सन् ४१ में लिखा और दो वर्ष पूर्व 'इलस्ट्रेटेड वीकली आफ् इण्डिया' में 'माई फेवरिट आथर' सीरीज में एक अंग्रेजी लेख मैंने लिखा। यह पंक्तियाँ उन पाठकों के लिये लिखी जा रही हैं, जिन्होंने यह सब न पढ़ा हो। जिन्होंने पढ़ा हो उन्हें शायद द्विरुक्ति दिखाई दे, ऐसे पाठकों के प्रति क्षमा-प्रार्थी हूं।

जैनेन्द्रकुमार का जीवन

जैनेन्द्रकुमार के जीवन में कोई असाधारणता नहीं। अलीगढ़ जिले में कौड़ियागंज में १९०५ में जन्म, शिक्षा ब्रह्मचारी आश्रम जैन गुरुकुल में। सबसे बड़ा प्रभाव उनकी माता का जान पड़ता है, जो बड़ी समाज-सुधारक और धर्म परायण स्त्री थीं। दूसरा प्रभाव कच्ची उम्र में सत्याग्रह संग्राम में शामिल होकर जेल जाने का है। तीन बार जेल गये। गांधी, टालस्टाय, शरद, दस्तावस्की—ये प्रिय लेखक पढ़े और उनका प्रभाव उन पर पर्याप्त मात्रा में है। गांधी नीति को उन्होंने अपने जीवन का एक अनिवार्य अंग बना लिया है—या यों कहें कि अपने जीवन और

चिन्तन की नौका के लिये उन्होंने गाँधी के ध्रुव-तारक को आधार मान और सब आधार छोड़ दिये हैं। यों अ-विशिष्ट-सा उनका जीवन है—क्रिया के क्षेत्र में, सफलता की दिशा में शून्य, परन्तु चिन्तन के क्षेत्र में उतना ही क्रियाशील।

जैनेन्द्रकुमार : साहित्यिक कृतित्व

१. निबन्धकार

यों व्यक्ति जैनेन्द्र की सहजशालीन, सरल, मिलनसार, अन्तर्मुखी मूर्ति से हम लेखक जैनेन्द्र को भिन्न नहीं पाते। बल्कि दोनों एकाकार हैं, यही उनकी विशेषता है। लेखक जैनेन्द्र कई तरह से हमारे सामने आते हैं : प्रश्नोत्तर-कर्त्ता, वक्ता, चिन्तक, दार्शनिक, निबन्धकार, कहानीकार, उपन्यासकार। उनमें से पहला रूप वाङ्मय का, यानी बोले हुये शब्द का है, लिखे हुये शब्द का कम। अतः उसे अत्यन्त मार्मिक और चुटीला होने पर भी हम यहाँ इस प्रसंग में छोड़ देंगे। दार्शनिक जैनेन्द्र के बारे में कई मत-भेद हैं। कोई उन्हें अनेकान्तवादी मानते हैं और कई सर्वोदयी; कोई उनकी दार्शनिकता को केवल एक ऊपर से ओढ़ा हुआ मुखोश (मास्क) मानते हैं। परन्तु यह सही है कि उनका स्वभाव चिन्तनशील अधिक है, वृथा-भावुक कम है, और वे सदा समस्याओं के मूलाधारों के अन्वेषण में लगे रहते हैं, यह सभी मानते हैं। 'अज्ञेय' ने अंग्रेजी त्यागपत्र की भूमिका में लिखा कि जैनेन्द्र 'आध्यात्मिक अदूरदर्शिता (स्पिरिचुअल मायोपिया) से पीड़ित हैं।' शब्दों में खोना या उनके सजाव-सिंगार में रस लेना उन्हें कभी नहीं भाया। बल्कि 'होने' की समस्या के आगे 'हो सकने' की कमज़ोरी को भी वह भूल गये। 'होना चाहिए' और 'है' कि बीच का व्यवधान कम से कम करने की ओर उनका सारा विचार और लेखन लगा है।

२. कहानीकार

वैसे सर्वसाधारण पाठक उन्हें गम्भीर या प्रसन्न निबन्धकार की अपेक्षा कहानी लेखक के नाते विशेष जानते हैं। उनकी कुछ कहानियाँ, जैसे वह है या तत्सत्, साधु की हठ, पत्नी, एक रात, मास्टर जी, अपना-पराया आदि, जो सदैव याद रक्खी जायेंगी। जीवन की साधारण घटनाओं को या मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को लेकर वे उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं जिसे आदि-कथा के नित्य-रस का क्षेत्र कह सकते हैं: नीलम देश की राजकन्या, परदेशी, बाहुबली आदि उनकी ऐसी कहानियाँ हैं। वह चाहते तो रूपक-कथाएँ और 'फेबल्स' भी बहुत अच्छी लिखते। भारतीय कथा का मूल उत्सव ही है जो पंचतंत्र, जातक कथाएँ, लोक-कथाएँ। वहाँ देश-काल की सीमाएँ क्षीणतर हैं। पक्षी, पशु, पेड़, नदी, पहाड़ भी बोलते हैं, और मनुष्य जैसे बहुत क्षुद्र लग आता है उस विराट् सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में। वह है भी नगण्य। यदि श्रेष्ठ है तो केवल आत्म-शक्ति के कारण!

३. उपन्यासकार

आदि-कथा का यही बीज जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की भी मूल प्रेरणा है। 'परख' से 'जयवर्धन' तक उनके नौ उपन्यासों में पुरुष और नारी, व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और परिवार, परिवार और राष्ट्र, और अन्ततः व्यक्ति और विश्व (जय जगत) तक के सम्बन्धों को उनके मूलभूत आधार-शील एकांशों में विश्लेषित करके रख देना उनका प्रधान कार्य है। इसीलिये वह घटनाओं को घटनाओं के नाते महत्त्व नहीं दे सकते। इतिहास उनके लेखे निरा सहारा है। वैसे ही हर क्षण इतिहास है। चरित्र भी निमित्तमात्र है। चरित्र, शीलनिरूपण के अर्थ में नहीं, चौकोर व्यक्तित्व के अर्थ में।

एकाध कट्टो या मृणाल बुआ, कल्याणी या हरिप्रसन्न, 'व्यतीत' का नायक कवि-कप्तान या एक जयवर्धन उभर कर उनकी उपन्यास सृष्टि में से बाहर कभी-कभी पाठक-रसिक की स्मृति से जैसे एकाकार हो जाते हैं। वे घनीभूत हो जाते हैं। फिर भी लेखक का उद्देश्य पात्रों को यथाशक्य निराकार और वायवी रखना है। घटना या प्रसंग नहीं, चरित्र या पात्र नहीं, तो आखिर जैनेन्द्र के उपन्यास किस कारण से महत्वपूर्ण हैं, लोकप्रिय हैं, संस्मरणीय हैं ?

उपन्यास का माध्यम जैनेन्द्र ने चुना है किसी विचार-विश्लेषण, विचार परिप्रेषण के लिए। वे ऐसे त्रासद विचार हैं जिनसे लेखक छुट्टी नहीं पा सकता, या यों कहें कि मानवमात्र छुट्टी नहीं पा सका है। वही आर्य सत्य 'दुक्ख' है, जिसके पीछे गौतम सिद्धार्थ बने, वही हर मानव की सूली है जिसे ईसा की भाँति ढोना ही पड़ता है। वही महावीर की करुणा का विषय था, वही कारण था जिसने गाँधी को आर्त बनाया और नोआखाली की खाक छानने के लिए बाध्य किया, वही कारण है कि विनोबा भूमि के भिक्षु बन उठे···।जैनेन्द्र के मन में भीतर कहीं वही मानव-जाति के मूल में सदा सप्रश्नता लिए हुए रमने वाली व्यथा है। उसी में से उनके उपन्यास की ऐसी विचित्र परिस्थितियाँ उभरती हैं कि श्रीकांत और सुनीता, प्रमोद और मृणाल, कल्याणी और असरानी मिलते हैं और फिर भी नहीं मिल पाते, जैसे प्रत्येक व्यक्ति उसी व्यथा-मूल की खोज में हो।

जयवर्धन की विशेषताएं

'जयवर्द्धन' उपन्यास तक आते-आते जैनेन्द्र की लेखनी परिपक्व और प्रौढ़ हो गयी है। यह विचार प्रधान उपन्यास है, भविष्यवादी उपन्यास है, यहाँ देश-काल की चेतना को शून्यतम बनाने के लिए एक काल्पनिक भावी समय और एक विदेशी पत्रकार-दार्शनिक की उद्भावना की गयी है। इस उपन्यास को 'यूटोपिया' और 'ऐरेव्होन', 'ब्रेव नियू वर्ल्ड' और 'शेप आफ् थिंग्ज टु कम्', 'नियू एटलान्टिस' या

१९८४ की कोटि में रखना उसके साथ अन्याय करना होगा। उपन्यासकार यह नहीं चाहता कि कोई भावी भारत या विश्व के समाज का नक्शा प्रस्तुत करे। उपन्यासकार के निकट शाश्वत मानव सम्बन्ध ही प्रधान विषय है, समाज-राजनीति के क्षण-क्षण परिवर्तनीय इन्द्रधनुषी रंग नही। अतः वह मुख्यतः 'पाप' की समस्या यानी बदलते नैतिक मूल्यों में उसकी परिवर्तनशील परिभाषा की समस्या; और मानव मात्र के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्रता, अहिंसा, कर्तव्य, अहम्, त्याग, यथार्थ, आदर्श, आदि प्रधान प्रेरणा-तत्वों के ताने-बाने में उलझता है। इसी कारण से जयवर्धन का मूल्यांकन उसके चिन्तनशील पक्ष को सामने रखकर मुख्यतः किया जाना चाहिए। वह निरा उपन्यास नहीं, विचारों का उपन्यास (नावेल आफ् आइडियाज) है।

कथानक

इस दृष्टि से देखने पर कथानक बहुत संक्षिप्त हो जाता है। विलबर शैल्डन हूस्टन अमेरिका के एक पत्रकार-दार्शनिक कूटनीतिज्ञ थे, जो २००५ ईस्वी में दुबारा भारत आये। पहले १९९५ में भी आए थे। उनकी डायरी के रूप में यह उपन्यास है। जयवर्धन राज का शीर्षस्थ व्यक्ति है। वह आचार्य की पुत्री इला के साथ रहता है। दोनों में विवाह नहीं हुआ है। राज्य में इस विषय को लेकर तरह-तरह के प्रवाद हैं। रूढ़ि-पंथी स्वामी चिदानन्द इसे भारतीय-संस्कृति के प्रति जयवर्धन की अवज्ञा मानते हैं। प्रगतिशील नेता नाथ आदि रूढ़िपंथियों का दमन चाहते हैं। इला के पिता आचार्य जेल में हैं, चूँकि वे अराजकवादी है! जयवर्धन बेहद लोकप्रिय हैं, यद्यपि उसके ऊपर तरह-तरह के क्षेत्रों से घोर विरोध के आक्रमण भी होते रहते हैं। उपन्यास का अन्त जयवर्धन और इला के विवाह से होता है। "सबेरे पाया गया, जयवर्धन नहीं है!" ही अन्तिम सूचना है। जय को अनुभव होता है कि सारा बखेड़ा उसी के कारण से फैले 'कल्ट आफ़ दि पर्सनैलिटी', व्यक्ति-पूजा और विभूति-पूजा के सारे आडंबर के कारण है। यह अन्त कुछ आश्वस्त नहीं करता। समस्याओं का यह समाधान अति सरल हो जाता है।

चरित्र-चित्रण

मुख्यतः जयवर्धन, आचार्य, इला, स्वामी ये प्रधान पात्र हैं और अन्य गौण पात्रों में नाथ, लिज़ा आदि उभरते हैं। हूस्टन का पात्र भी एक अन्तः सूत्र की तरह बिखरा हुआ है, परन्तु फिर भी प्रधान टक्कर जय और आचार्य के विचारों में ही है, और वह संघर्ष मौलिक है। मानो भौतिकवाद व विवेकवाद एक ओर और आध्यात्मिक अनुभूतिवाद दूसरी ओर के बीच संघर्ष हो। मानों विचार और आत्म-ज्ञान के बीच संघर्ष हो। 'हो पाने' और 'हो जाने' के बीच संघर्ष हो। वही इस पुस्तक की मूल भित्ति है। इला के सम्बन्ध एक काल्पनिक दीवार या अवरोध पैदा

करते है। यों चरित्र-चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म तरल और मनोहारी हुआ है। उनके विवरण के विस्तार में जाना पुस्तक के महत्व को कम करना है।

कथोपकथन

घटना को अप्रधान बना देने पर चरित्र-चित्रण का आधार कथोपकथन मात्र रह जाता है। जैनेन्द्र जी उस कला में निपुण हैं। उन्हें बोले हुए शब्द पर बड़ा प्रभुत्व हासिल है। भाषा में संयम की महत्ता वे समझते हैं। कम-से-कम शब्दों में बड़ा अर्थ-विस्तार भर देते हैं। मसलन एक उदाहरण काफी होगा—

मैंने खोलकर झल्लाते से हुए कहा, 'क्या है ?'

"पानी चाहिए।"

मैंने कहा, 'पानी दुनियाँ में कहीं नहीं है कि इस तरह दुपहरी में घुसे चले आते हो और नींद हराम करते हो।'

आने वाले ने कहा, "और कुछ खाने को होगा ?"

"मुझे बुरा लगा।" झिड़कने को थी कि उसने कहा, "जल्दी करो, वक्त कम है।"

कहकर दरवाजा धकेल कर वह बिना मुझे ध्यान में लिये अन्दर आ गया। मुझे लगा, मैं चिल्ला उठूँगी।

उसने कहा, कहाँ है पानी ?

मैं कुछ न बोल सकी। तभी उसने एक ओर रक्खा हुआ घड़ा देखा और जाकर अपने आप गिलास में पानी ले लिया। वहीं पास सीधी खाट खड़ी थी। नीचे डालकर उस पर बैठते हुए कहा, "लाओ, जो हो ले आओ।"

मैं उसे देख रही थी। सोचती थी अब चीखी अब चीखी !

उसने कहा, 'देखो नहीं। खाली पानी औगुन करेगा। जाओ कुछ ले आओ।"

मैं अब भी सोच में थी। आने वाले की सूरत मुझे अच्छी नहीं लगी। कोई उचक्का-सा मालूम होता था। मैं बढ़ने को हुई कि जाकर बापू से कहती हूँ।

उसने कहा, "देर होगी तो पानी ही पीकर जाना होगा। पर उपासा हूं, सिर्फ पानी औगुन करेगा, जो हो सो ला दो और जल्दी।"

मैंने कुछ नहीं कहा और आगे बढ़ गई। बापू एक छोड़ अगले कमरे में थे। चना-गुड़ बीच में ही रखे थे। कुछ लेकर वापस आई, उसे दिए। और उन्हीं पांव लौटती बापू को कहने को बढ़ गई। (पृ० १३५)

चित्र की प्रभावोत्पादकता

भाव की गहनतम अनुभूति केवल चित्र द्वारा प्रेषणीय की जा सकती है।

शब्द वहाँ कथ्य नहीं कहते, केवल चित्र देते जाते हैं। जैनेन्द्र की शैली की यह विशेषता है कि चरम मर्मानुभूति के क्षण कथन अथवा वर्णन द्वारा नहीं दिये जाते, वातावरण द्वारा उपस्थित किए जाते हैं। पृ० १२८ पंक्ति ११ से आरम्भ होकर पृ० १३० पंक्ति १८ तक चलने वाला अतीत का खण्ड-चित्र इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इन पंक्तियों की शक्ति अनुपम है और पाठक का चित्त विदग्ध हुए बिना नहीं रहता।

भाषा

आक्षेप हुआ कि जैनेन्द्रकुमार की भाषा इस उपन्यास में कृत्रिम है, वह अंग्रेजी ढंग की हो गई है। शायद एक कारण तो यह है कि सारा वर्णन एक अमरीकी की डायरी से लिया गया है। दूसरे मानसिक व्यापारों की तरलता की अभिव्यंजना के लिए ऐसे नवीन भाषा प्रयोग अनिवार्य हो जाते हैं। क्रियापद के प्रयोग में सकर्मक की उपेक्षा अकर्मक का अधिक उपयोग है। सीधे प्रत्यक्ष के स्थान पर अप्रत्यक्ष और सांकेतिक प्रयोग अधिक है। यह सब स्थान, व्यक्ति और मानसिक वातावरण की आवश्यकता के अनुसार हुआ है, इस सब में औचित्य ही है, ऐसी मेरी मान्यता है। खड़ी बोली को लचीला और सहज-ग्राह्य बनाने का जितना प्रयत्न जैनेन्द्रजी की गद्य-शैली में पाया जाता है, शायद ही अन्यत्र कहीं हो। जहाँ नये भाव या नयी कल्पनाएँ आयीं, वहां संस्कृत ठूंस देने वाले अन्य लेखक तो कई हैं; परन्तु बिना क्लिष्ट, कर्णकटु, अपरिचित तत्समों पर भार डाले, गहरे और सूक्ष्म विचारों को सरल शब्दों में व्यक्त कर पाना आसान काम नहीं हैं। सूत्रात्मकता के आग्रह में कहीं-कहीं भाषा का आशय-पक्ष बहुत झीना हो गया है, यह सही है।

उपन्यासकार का उद्देश्य

भाषा चूंकि विचारों की वाहिका मात्र है, जयवर्धन की प्रधान उपलब्धि उसमें का विचार धन है। पूर्व और पश्चिम में राजनीति को लेकर जो तनाव है, उसका हल उपन्यासकार 'मानव नीति' के पुनर्प्रतिष्ठापन से चाहता है। इसी चिन्ता में से राजनीति की मूलभूत एकांगिता प्रकट होती हैं :

"हम राजनीतिक यही भूलते हैं। आगे के नक्शे बनाते हैं, जैसे भविष्य को मुट्ठी में लेंगे। मुट्ठी खुली अच्छी। तब उंगलियां कुछ कर भी सकती हैं। बंद मुट्ठी कभी धमकाती थी। आज वह बंद दिमाग की निशानी है···तुम मुझे पूर्व का कहते हो, विलबर, पर पश्चिम क्यों मुझसे अलग है? पश्चिम का यह मानना ही उसका दोष है। क्यों नहीं देखते हम कि पूर्व-पश्चिम संकेत भर हैं, संज्ञा नहीं। जाकर कहो पश्चिम को कि जयवर्धन उनका भी है और दुनियां में वह फांक नहीं चाहता। देखते हो कि मैं राज पर हूँ, पर राज का नहीं हूँ, मन का हूँ। भारत का पक्ष मेरा

है, इसे आशा सच ही मानना। मैं मानव हूँ और सही तो मानव का पक्ष ही मेरा है। विश्व का पक्ष उससे दूसरा नहीं हो सकता, और तभी तक मैं भारत के राज्य के साथ हूँ जब तक वह उस टेक के साथ है। मैं कहता हूँ कि कुछ बड़ी ताकतें मिलकर अपने को विश्व नहीं मान सकतीं। बल्कि मुकाबले में निरा एक व्यक्ति मानव-प्रतिनिधि के रूप में खड़ा होकर न्याय के साथ कह सकता है कि विश्व का पक्ष उसकी निकटता के साथ है, संगठित शक्ति के साथ नहीं। मेरी ओर से जाकर विलबर, पश्चिम को कहो कि अणुभय गया, तो क्या उनके अन्दर दर्प बैठा ही रहेगा? अंकों की भाषा वह छोड़ें। कूटनीति का भरोसा छोड़ें। समझें कि दुनियां इस महाब्रह्माण्ड में करण से भी तुच्छ है। इस निरहंकारिता को अपने सारे मन के भीतर रमा कर वे राजनीति को चलाना सीखें, तब वह मानवनीति होगी। उसी में से मानव-हित का अभ्युदय सिद्ध होगा।''

स्थान-स्थान पर भारत की अखण्डता और एकता पर बहुत सुन्दर भाष्य हैं। यथा उपन्यास के आरम्भिक अध्याय के प्रथम परिच्छेद में। जैनेन्द्र ने केवल उपदेशक की भूमिका नहीं ली है। वे प्रश्न के अन्य पहलू भी समझते हैं और उन्हें स्पष्टतः सामने रखते हैं। **उदाहरणार्थ इन्द्रनाथ का पृष्ठ ३५२ पर बयान।**

जगह-जगह पर लेखक के मन मे गाँधी नीति और उनके विचारों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। युद्ध और शान्ति, लोकसत्ता-राजसत्ता, सत्ता के केन्द्रीकरण-विकेन्द्रीकरण आदि पर बहुत अच्छी विचारोत्तेजक चर्चाएं हैं।

उपन्यासकार के विचार-सूत्र

उपन्यासकार के विचार-सूत्र उनके आरम्भिक अपने अक्षरों में लिखे वक्तव्य में कुछ संक्षिप्त रूप से आ गये हैं। पुस्तक ऐसे सूत्रों का भण्डार है। उदाहरण किसी पृष्ठ पर मिल जायेंगे।

कई सूत्रों में बड़ी साहित्यिक विशेषता है। उदाहरणार्थ :

''शायद जीवन एक तनाव है, समाधान वह नहीं है। विरोध को भीतर लेकर जीना होता है। चाहते हैं वह हो नहीं पाते। यही चाह की कीमत और मुसीबत है।'' (पृष्ठ ४१)

''तत्त्व ही स्थिर है, जीवन को चंचल होना होता है।'' (पृ० ४६)

''शब्द सूचक है…वह सिद्ध बनता है तब मौन इंगित् से बोलता है।'' (पृ० ४६)

''संयम ही आदमियों के बीच बड़ी बाधा है। प्रेम में संयम हारता है, इसी से प्रेम बड़ा है।'' (पृ० ५६)

''जानना पाना नहीं है। इसलिए एक को पा लोगे तो उसमें से दुनिया को

ज्यादा जान सकोगे। सब जानकर किसी को न पाया तो कुछ न पाया, कुछ न जाना।"

"यह नेहरू का चमत्कार किसका था? क्या उनका अपना था? या उस गाँधी का था जो नेहरू के दिमाग में न सही दिल में तो धड़कता ही था। विचार के और काम के गांधी को नेहरू दिमाग से हटा सकते थे। पर प्यार के गाँधी की धड़कन तो नेहरू के अन्दर कभी चुप नहीं हो पाती थी।" (पृ० ५६)

"जगत सब पीछे हो, आत्मा पहले।" (पृ० ११४)

"वह अर्थ-रचना जो हर दो पड़ोसियों को एक हित में मिलाये, राज्य के किए हो नहीं सकती। राज्य चाहे तो भी उसे सींच नहीं सकता। कारण, राज्य मशीन है और केन्द्र है और यह रचना इतनी आत्मिक और विकेन्द्रित होगी कि स्वयं आदमी हो रहेगा। हर आदमी अपना केन्द्र और जग का केन्द्र।" (पृ० १२०)

"कर्म का मूल अकर्म ही है। उसी तरह जैसे नारियल पर के जटाजूट और उसके बाद पत्थर से खप्पर का मूल्य यही है कि भीतर गरी हो। गरी अकर्म है, कर्म तो वह जटाजूट ही है।" (पृ० २२१)

कई दार्शनिक और समाज-वैज्ञानिक सूक्तियाँ उदाहरण के तौर पर दी जा सकती है—

"मनुष्य से बड़ा न सत्य है न विचार।"

"ईश्वर नहीं हो सकता जो मनुष्य से विमुख हो, है तो वह मानव में।" (पृ० १२)

"समाधान एक ईश्वर है। बाकी उलझन है, प्रश्न है, क्योंकि खंड है। दीखने में तो इसलिए कि वह होने से कम है।" (पृ० २६)

"आसमान में उड़ने फिरने से हम बड़े नहीं हो जाते। यह तो वही हुआ कि गीध सोचे कि मैं ऊँचा हूँ।" (पृ० ५८)

"जगत अर्थ पर नहीं, पुण्य पर चलता है।" (पृ० ११६)

"प्रेम ही पास रखें, शेष सब दूर कर दें, तो लगता है कुछ नहीं रह सकता जो आदमी को न मिल आये।" (पृ० १६०)

"स्टेट कैपिटैलिज़म कैपिटैलिज्म का बुरे से बुरा रूप है।" (पृ० २६१)

"इतिहास का सार तब प्राप्त हुआ मानना चाहिए जब मानव-विकास का ग्राफ ही मानो उससे उदित होता दीखे।" (पृ० ३१५)

"जनतंत्र क्या दलाधीन ही रहेगा?" (पृ० ४२४)

ऐसे अनेक स्थल दिये जा सकते हैं। प्रायः प्रति पृष्ठ उनसे भरा है।

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला का विकास

मैंने सन् १९४० में 'साहित्य-संदेश' के अक्टूबर-नवम्बर विशेषांक में "जैनेन्द्रकुमार: दो दृष्टिकोण" नामक लेख में तब तक प्रकाशित जैनेन्द्र जी के उपन्यासों के बारे में लिखा था—

"साधारण पाठक जैनेन्द्र जी का कोई भी उपन्यास पढ़ने बैठता है तो पहले तो उसे पूरी किताब पढ़ जाने पर ऐसा लगता है कि जैसे वह किसी भूल-भुलैया में घूम आया हो। उसे उनकी भाषा बड़ी रहस्यमयी लगती है। उसे उनके पात्र अशरीरी जान पड़ते हैं। उसे उनके उपन्यासों में कथानक का एकदम अभाव लगता है। उसे उनके बीच-बीच में बोये हुए दार्शनिक पैरेग्राफ़ से एक दम विरक्ति होने लगती है। वह किताब एक अजीब झुँझलाहट और बेचैनी से खत्म करता है। उसके मन में एक प्रश्न-सा उठता है कि क्या लेखक कुछ और कहना चाहता था? मुझे लेखक से और कुछ चाहिए था, और कुछ-कुछ अधिक स्पष्ट विवरण! पर लेखक है कि वह पाठक की पकड़ में नहीं आने पाता। वह हवा बन जाता है, यानी आसमान में चक्कर काटते रहता है। और पाठक को मिट्टी की मूरतों से मुहब्बत है, उन्हीं में आज तक वह रमा है।

"पाठक की शिकायत सच मान ली जाय तो हम जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में आखिर पाते ही क्या हैं? अगर उसमें प्लाट नहीं है, पात्र नहीं है, मनोरम भाषा नहीं है, जीवन का स्वाभाविक चित्रण नहीं है, तो आखिर वह क्या चीज है जो पाठक को बरबस जैनेन्द्र का उपन्यास पूरा पढ़ जाने के लिए बाध्य करती है? मैंने अभी तक जैनेन्द्र के एक भी उपन्यास को एक बार हाथों में लेकर जो पूरी तरह पढ़ न गया हो, ऐसा समझदार और सुरुचिशील पाठक नहीं देखा। माना वे उपन्यास पाठक की बौद्धिक कुतूहलमयी शंकाशील वृत्ति को चुनौती देते हैं। माना कि वे उपन्यास पाठक की मान्य धारणाओं के प्रति विद्रोह करते चलते हैं; माना कि जैनेन्द्र बिल्कुल जोश-हीन और किन्हीं (विकृत) आलोचकों की दृष्टि से 'गूढ़' और बिल्कुल नीरस उपन्यास लिखते हैं—तो फिर वह क्या चीज है जो उनके पाठकों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ाये जा रही है? वह कौन-सा तत्व है जो लेखक जैनेन्द्र के उपन्यासों की आत्मा और भित्ति है।"

"मेरा संक्षेप में उत्तर है कि जैनेन्द्रकुमार हमारे युग की मांगों का उपन्यासकार है। उपन्यास के विकास में घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यासों का, यानी 'भूतनाथ' और 'रंगभूमि' और 'तितली' और 'श्रीकान्त' का युग अब समाप्त हो चुका। अब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का युग आया है। अब उपन्यास गलियों में नहीं भटकते, वे मनुष्य की आत्मा में प्रवेश कर चुके हैं। वे 'जेम्स जाइस' और 'लारेंस' की तरह मनोलोक के छाया-प्रकाश की झांकी लेना चाहते हैं। जो उपन्यास मानव-

मन का, व्यक्ति का, सामाजिक मन से यानी समष्टि से जो संघर्ष नित्य-प्रति चल रहा है, उसके प्रतीक हैं, वे ही उपन्यास आधुनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अब सिर्फ मुन्नू मियाँ और छन्नू मियाँ इन दो भाइयों में मुर्ग-बटेर की तरह खून-खराबी तक की लड़ाई हो जाने पर ही हमारा दिल पिघले इतने नाट्य-बुद्धि के और बच्चे हम नहीं रहे। अब हम (हिन्दी के साधारण पाठक) व्यक्ति के मनोविश्लेषण की सूक्ष्म बातों को भी समझ सकते हैं। अब हम समाज में गुप्ततः और स्पष्टतः बढ़ती हुई विचारधाराएँ भी गुन सकते हैं। और इसी से अब हमें सिर्फ 'किस्से' नहीं चाहिए; न ही हमारे लिए 'फसाने' काफी हैं। हमें चाहिए उपन्यास! सही मानों में उपन्यास वे जो समस्यामूलक हों।

"जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की विशेषता यह है कि वे समस्यामूलक होते हैं। वे किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर चलते हैं। अतः उनके पात्र अशरीरी हो जाते हैं। वे पात्र स्वयं अमूर्त और अपूर्ण, अतः सजीव प्रश्नचिह्न होते हैं। लेखक उन सजीव प्रश्नचिह्नों को पूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य देता है। वह उनके बीच में किंकर्त्तव्य-विमूढ़, मतिचकराया-सा खड़ा है। और वह जैसे राह नहीं जानता। वह राह पाठक सुझाए। उनके उपन्यास इसी कारण अधिकतर प्रश्नान्त हैं—न सुखान्त, न दुःखान्त ही पूरी तरह।"

"वह उपन्यासगत प्रश्न अथवा समस्या एक व्यक्ति की अकेले की नहीं, जमाने की और हर एक व्यक्ति की होती है। 'परख' की बाल-विधवा और अन्तिम अंश 'सुनीता' की पति-समर्पित ब्याहता जो पति की इच्छा के लिये ही एक गुमराह को, एक 'सेक्स' के प्रति कुंठित व्यक्ति को, मानवी बनाना चाहती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल बुआ जो पति के यहाँ आश्रय नहीं पाती और नैहर से ठुकरायी जाती है तिस पर भी आत्मा जिसकी अव्यभिचरित है; और 'कल्याणी' की वह अजीब नायिका जो पति के हाथों ताड़न भी प्रसाद रूप में ग्रहण करती है, उससे छूटना चाहती है, फिर भी नहीं छूटती और एक ऐसे आदर्श के लिये अपने आपको होम देती है, जो आदर्श वह खुद जानती है कि प्रायः असाध्य है। यह सब उज्ज्वल आत्माएँ किसी एक आदर्श की ओर सशक्त संकेत करती हैं—जहाँ नीति की मर्यादा आज के क्षुद्र जातीय नीति-बन्धनों की तरह बन्धनरूप न होकर आत्म-निर्णीत होगी। वे चारों नारी-चरित्र वर्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट हैं, फिर भी प्रेम से (यानी अहिंसा से) उसी में से राह निकालना चाहती हैं। परिणाम स्पष्ट है कि वे 'फ़ेल' होती हैं वे टूटते हुए तारे की तरह एक उज्ज्वल प्रकाशपुंज छोड़ कर अपनी-अपनी समस्या के दुष्ट आवर्त में बलि हो जाती हैं। और कौन हृदय-हीन होगा जो आकर यह कह दे कि यह बलिदान अर्थहीन है? बलहीन और प्रभावहीन है?"

"परन्तु बात असल में यह है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की 'अपील' हृदय को लक्ष्य करके होती है। वे एकदम मर्मस्थल कुरेद देते हैं। वे समस्या को श्रद्धापूर्वक सुलझाना चाहते हैं। न तो वह उसे टाल ही देना चाहते हैं कि अन्य बातों में यानी घटना-चरित्र या वर्णनों की बारीकी में पाठक का चित्त उलझा दिया जाय और मूल प्रश्नों को टाल दिया जाय; और न वे विध्वंसक बुद्धिवादी की तरह उस समस्या को मिटा देना ही चाहते हैं। वे अतिशय नम्रतापूर्वक और आग्रह-पूर्वक समस्या की गाँठ की तह-पर-तह खोलते चले जाते हैं। मगर गाँठ बहुत पक्की है। वह उनसे पूरी तरह खुलती नहीं। और पाठक से मदद की वे बीच ही में पुकार करके उपन्यास को समाप्त कर देते हैं।"

"साधारण पाठक जैनेन्द्रजी के उपन्यासों से बुद्धिमान आलोचक की तरह केवल उलझन में नहीं पड़ जाता वरन् विचारोत्तेजन पाता है। वह उसमें आदर्श के प्रति एक सशक्त इंगित पाता है—'परख' में आध्यात्मिक विवाह का, 'सुनीता' में पराकाष्ठा के आत्मिक पातिव्रत्य का, त्यागपत्र में समाज की मान्यनीति के प्रति विद्रोह का और 'कल्याणी' में पुनः हमारे नारी-समाज के घर और बाहर के सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत पाता है; साथ ही रूढ़ सामाजिक संस्कारों के रूढ़-नीति-बन्धन, रूढ़-विवाह-पद्धति, रूढ़ क्रांतिकारिता और स्त्रियों की स्वतन्त्रता वगैरह की सच्ची जांच पाता है। वह उनके उपन्यासों में एक ताजा, प्रसन्न शैली एक प्रवाह पाता है—जो अन्य कई हिन्दी लेखकों में दुर्लभ है। वह उनके उपन्यासों में गति और निर्भयता, बल और उर्ध्वगामिता पाता है। वह उनमें करुणा का पोषण और युग-युगान्त व्यापी सत्यों की पुनर्स्थापना पाता है। वह उनमें एक सुसंगति पाता है : एक खोज कि नारी सचमुच में क्या है और क्या होनी चाहिये ? संक्षेप में, वह उनके साहित्य में गांधी-युग की एक झलक पाता है।"

इसके बाद जैनेन्द्र जी ने 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' लिखे। ये भी काफी रोचक उपन्यास थे। 'व्यतीत' जब रेडियो पर प्रसारित किया गया तो उसने कई श्रोताओं को बहुत आकर्षित किया। बुद्धिवाद के अतिरेक और खोखलेपन पर, जिसमें असंगति हो ऐसे अराजकवादी की वाणी और करनी के वैषम्य पर, इन उपन्यासों में व्यंग था, परन्तु मानवीय सहानुभूति से वे कहीं खाली नहीं थे।

'जयवर्धन' उनका नौवाँ और नया उपन्यास है। इसकी विशेषता यह है कि जिसे जर्मन भाषा में 'काल की आत्मा' (ज़ाइटजीस्ट) या युग सत्य कहते हैं, उसका प्रतिबिम्बन या प्रतिफलन इस उपन्यास में है। बल्कि यों कहें कि उपन्यासकार की प्रतिभा इसमें काल-जयी होने का प्रयत्न करती है। इस धरती से बँधे हुये संकल्प इस धरती से ऊपर होने का निरन्तर यत्न कर रहे हैं; इस वर्तमान में स्थित होने पर

भी वर्तमान से परे जाने का यत्न यहाँ स्पष्ट है। वस्तुतः भूत का कितना अंश है जो वर्तमान हो गया है, कितना अंश है जो अब निर्जीव-निष्प्राण बन चुका है—इसका ऊहापोह चिदानन्द के प्रसंग में जयवर्धन में आया है; भविष्यत् का भी कितना है जो ज्यों-का-त्यों लिया या सहा जा सकेगा, यह प्रश्न नाथदंपति के प्रसंग में उठाया गया है और जिसको हम 'प्र' प्रत्यय से विभूषित बनाकर विशेषार्थिनी गति कहते हैं, उसके भी मूल में जाने का जैनेन्द्रजी ने प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से जैनेन्द्रजी के इस उपन्यास की गम्भीर महत्ता है।

पश्चिम के साहित्य में उपन्यास की आज की दशा अच्छी नहीं। जे० एम० कोहेन अपने 'ए हिस्ट्री आफ वेस्टर्न लिटरेचर' में फ्रांस के सार्त्र-मालरां-कैमू, जर्मनी के बेग्रेन-ग्रुएन-मान और आस्ट्रिया के कापका आदि की चर्चा करने के बाद लिखते हैं: "The novel has died a victim to the loss of an agreed picture of the Universe, which has faded with the stifling of Christianity by non-dogmatic idealism and crude materialism." जब पश्चिम में उपन्यास की यह स्थिति है, पूर्व में और विशेषतः भारत में उपन्यास की गति अधिकाधिक विचारात्मकता की ओर बढ़े इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जापान में 'सेटिंग सन' जैसे उपन्यास की बेहद लोकप्रियता भी इसी दिशा की ओर इंगित करती है। जैनेन्द्रजी के उपन्यास की पीठिका जीवन-दर्शन है। बल्कि उपन्यास-कला और जीवन-दर्शन विषयक दृष्टिकोण यहाँ एकाकार हो गये हैं।

समकालीनों की प्रतिच्छाया

प्रश्न उठाया गया है कि क्या जयवर्धन में जवाहरलाल नेहरू और आचार्य विनोबा भावे के ही विचारों का प्रक्षेपण या प्रतिन्यास मात्र नहीं है?

श्री लक्ष्मीनारायण भारतीय ने 'नई धारा' में एक लेख में "जयवर्धन: एकवैचारिक समालोचन" में कहा है—

"उपन्यास का कालक्षेत्र आज से करीब पचहत्तर-अस्सी साल के बाद का है और यद्यपि 'जयवर्धन' उस काल के विचार का प्रतिनिधित्व, लेखक की आकांक्षा के रूप में, प्रकट करता है, फिर भी उसमें आज के जवाहरलाल जी के व्यक्तित्व का और आचार्य में गाँधी जी के व्यक्तित्व का दर्शन होता है। गाँधी जी अब नहीं रहे। जवाहरलाल जी का व्यक्तित्व किस दिशा में मोड़ना मंगलकारी हो सकता है, यह शायद लेखक की आकांक्षा है, परन्तु यह मिलान संकेत-रूप में ही मानना चाहिये। जय को पढ़ते समय तो जवाहरलाल का अन्तर्दर्शन प्रकट होता है, फिर भी जय उन्हें आदर्श प्रदान करने की दृष्टि से आगे बढ़ गया है। आचार्य की उज्ज्वल मूर्ति में भी बापू की झाँकी कुछ प्रकट होती है, लेकिन उनसे आचार्य का उत्तर-जीवन-कार्य कोई

मेल नहीं खाता। उधर स्वामी एक परम्परा के प्रतिरूप बनते हैं, इसलिये "साँवरेन्टी कहीं है तो धर्मनीति के ही नियमों के साथ है", इसे वे आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। साथ ही, कुछ दृश्य कट्टरता पर भी सहज व्यंग्य लेखक ने कर दिया है और प्रगतिशील दल की विचलित स्थिति प्रकट करके दूसरे पक्ष का व्यंग्य भी उसमें जोड़ दिया है। फिर भी यह उपन्यास किसी व्यक्ति या प्रसंग की पूर्णछाप या प्रतिरूप नहीं और पुस्तक समाप्ति के अनन्तर पाठक पात्रों से अधिक विचार-विवेचन में ही लीन हो जाता है। जय का राज्यत्याग एक बड़ी घटना होने के कारण वही सामने आती है। सारे विचार-विवेचन के लिये उसे केन्द्रीय पात्र चुना गया है। लेकिन जय का पात्र कहीं पर भी छोटा नहीं बनने दिया गया यह स्पष्ट एवं संकेत-पूर्ण भी है।

"यही विचार-विवेचन 'वर्त्तमान' को पार करके 'भविष्यत् की संभावनाओं' की ओर भी इंगति करता है। वह कहता है, "राज्य की ओर से जितने उदासीन रहेंगे और जनशक्ति में आस्था रखेंगे, उतने ही दंड-शक्ति के भरोसे चलने वाले राज्यतंत्र को अनावश्यक बनाते जायेंगे।" यह किसी घटना-क्रम की नहीं, विचार-विकास की ही संभावना है। आज संसार में जो वैचारिक संघर्ष चल रहा है, उसके द्वारा नवयुग की गर्भ-वेदना तीव्रतम हो रही है। साथ ही एक भूलभुलैया भी विचारक को अपने भीतर लेकर उसे भटका रही है, क्योंकि राजनीति ने सबको आक्राँत कर दिया है। सब पर वह हावी है। चेतन भी राज्यशक्ति के कारण जड़ बन रहा है। यह प्रवाह मानवता और नैतिकता के लिए कहीं अभिशाप ही न साबित हो, ऐसा भय विचारकों को होने लगा है। इसलिए लेखक उस परदे को चीर कर, फिर चाहे वह लोक-कल्याणकारी राज्य का परदा हो या समाजवादी राज्य का हो, या साम्य-वादी राज्य का हो, हर प्रसंग पर या तो राज्यशक्ति की मर्यादाएँ स्पष्ट करता है या उसके विलयन की ही आकाँक्षा। जय के भीतर का संघर्ष इसी का प्रतीक है। इसलिए जय एक 'प्रतीक' बनता है, जिसकी परिणति राज्यत्याग में होती है। राज्य "केंद्रित है, कार्मिक है, नैतिक नहीं, तो युद्ध भी उसके साथ अनिवार्य है", कहकर वह युद्ध और राज्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्पष्ट करता है एवं उसके साथ का अलगाव भी तीव्रता से प्रकट करता है।"

भव्य मानवतावादी उपन्यास

उपन्यास का प्रधान विषय जयवर्धन का कर्मायुक्त व्यक्तित्व न होकर उसके भीतर का मनुष्य है। अन्ततः राजनैतिक-सामाजिक समस्याएँ जो उठती भी हैं, वे जय के भीतर के मनुष्यत्व के सामने गौण और व्यर्थ हो जाती हैं। अन्ततः जो भी राज और समाज के सवाल हैं, उन सब का परम उद्देश्य मनुष्य को महत्तर और बृहत्तर मनुष्य बनाना है। यदि वह नहीं हो पाता है, तो सत्ता के केन्द्रीकरण-

विकेन्द्रीकरण की सारी चर्चा बे-मानी हो जाती है।

जैनेन्द्रजी के इस नव्य मानवतावादी उपन्यास में आज की सामाजिक, राजनीतिक उलझनों का मूल 'स्टेट' और स्टेट के समानार्थक बन जाने वाले या बनाये जाने वाले व्यक्तित्व-पूजक अन्धश्रद्ध जनसाधारण और उनकी म्रियमाण विवेक-शक्ति में देखा है। यदि जन-जन के भीतर का मनुष्यत्व जागृत हो जाय, तो अन्ततः किसी 'तन्त्रात्मक जनतन्त्र' या उसके पर्याय के रूप में सुझायी जाने वाली कल्याणप्रद तानाशाही की जरूरत बनी भी रहेगी क्या ? इन्हीं सब बातों के संकेत जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास में दिये हैं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से, मेरे मत में, हिन्दी में यह पुस्तक एक नया मोड़ उपस्थित करती है। इधर उपन्यास क्षेत्र में आंचलिकता या प्रादेशिकता अथवा भौगोलिक वैशिष्ट्य को बहुत प्रधानता सामाजिक यथार्थवादियो ने दी है। समाजवादी देशों में ऐसे लेखन की बड़ी प्रतिष्ठा भी है। लेकिन उस आंचालिकता के यथार्थ की अपनी सीमाएँ हैं। उन चित्रों का महत्त्व किसी 'लैंडस्केप' या 'स्नैपशॉट' का सा है। एक और चित्रकला होती है, जो अतीन्द्रिय का मूर्त-विधान करना चाहती है। कई तरह के नाम उन शैलियों को आधुनिकतावाद के अन्तर्गत दिये गये हैं। कोणवादी, बिम्बवादी, उत्तर बिम्बवादी, अतियथार्थवादी, रचनात्मकतावादी (कंस्ट्रक्टिविस्ट) इत्यादि। कविता के क्षेत्र में नये-नये शैली-प्रयोग भारत की भाषाओं में प्रतिष्ठित हो रहे हैं—हिन्दी में भी अब उन्हें उतनी शंका की दृष्टि से शायद नहीं देखा जाता। कथा उपन्यास में भी नवीनता—शैलीगत तथा आशयगत—जिन लेखकों ने हिन्दी को दी, जैनेन्द्र जी उनमें प्रधान हैं। जयवर्धन हिन्दी का एक आधुनिकतम उपन्यास है; इसमें मनोविश्लेषण के लिये मनोविश्लेषण नहीं है; संज्ञा-प्रवाह के लिए संज्ञा-प्रवाह नहीं है। सब अन्ततः एक प्रमुख केन्द्रीय उद्देश्य, मानव की प्रतिष्ठा, के लिये है।

उपन्यास का उपन्यास-तत्व

अन्त में पुनः प्रश्न उठ सकता है कि जयवर्धन को उपन्यास कहां तक माना जाय ? विश्वसाहित्य में, अन्य कई भाषाओं में, ऐसे दार्शनिक वाद-विवाद-प्रधान उपन्यास हैं। कई आधुनिक उपन्यासकारों ने ऐसी ही मौलिक नैतिक समस्याओं को लेकर लिखा है। परन्तु सर्वत्र उपन्यास की रोचकता को अक्षुण्ण रखने के लिये संकेत के रूप मे ही ये दार्शनिक प्रश्न उन कहानियों में आये हैं, वे प्रधानता नहीं पा सकते हैं। जयवर्धन के लेखक का मूल उद्देश्य शायद उपन्यास-कला की छटा दिखाना नही है। उसके मन में सम्प्रति जो बड़े प्रश्न दुनिया को और भारत को सता रहे हैं, उनका विवेचन करना है। कहानी, पात्र, घटनाएँ उससे गौण हो गयी हैं सही, पर मूल दृष्टि से उपन्यास में उपन्यास-तत्त्व की कमी नहीं है। पाठक को लेखक की रचना

किस उद्देश्य से लिखी गयी है, यह समझ कर अपनी सहानुभूति उसे देनी चाहिये। सहानुभूति के बिना रसोद्बोधन सम्भव नहीं है और तब जयवर्धन से साधारण पाठक को भी प्रभूत रसोपलब्धि हो तो उसमें आश्चर्य नहीं। इस पुस्तक की विशेषता और अपील अन्य प्रकार की, अन्य स्तर की है। मैं समझता हूँ कि अतिभौतिकतावाद से त्रस्त विदेशी की दृष्टि में भारत की महत्ता की खोज में यह विचार-मंथन की उपलब्धि विशेष सार्थक है। पूर्व और पश्चिम के बीच आज जिस विचार-सेतु के निर्माण की आशा की जा रही है, उस दिशा में पुस्तक बहुत महत्त्व की है। यह कई दिनों तक बार-बार पढ़ी जायगी और उसका महत्त्व भविष्य में और भी निखरेगा; चूँकि इस ग्रन्थ में भविष्यवाणी का-सा गुण है, जो श्रेष्ठ कलाकृति की एक प्रधान कसौटी है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी में उपन्यासकार जैनेन्द्र की ख्याति एक विचारक और चिंतक के रूप में अधिक है। उनकी रचनाओं में शुद्ध साहित्यिक गुणों के अतिरिक्त उनके विचारों और दार्शनिकता को भी ढ़ूंढ़ने की चेष्टा की गई है। यों तो प्रत्येक लेखक में कुछ-न-कुछ बौद्धिक विचारणा रहती है, परंतु कुछ लेखकों में वह इतनी प्रमुख होती है कि उसी के आधार पर उसकी समस्त कृति का संघटन होता है और कभी कभी तो एक विशेष विचारधारा के निर्देश के लिए ही उस रचना का निर्माण किया जाता है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में आरम्भ से ही एक बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टि-कोण रहा है। उनकी परवर्ती कृतियों में तो दार्शनिकता इतनी प्रमुख हो गई है कि उनका साहित्यिक स्वरूप ही गौण हो गया है। साधारण विचारकों की भांति जैनेन्द्र जी के विचार उनकी कृतियों में सरलतापूर्वक नहीं ढ़ूंढ़े जा सकते। उनमें एक अस्पष्टता रहा करती है और पाठकों के विशेष परिश्रम करने पर ही उनके विचार-सूत्र उपलब्ध होते हैं। उनके विचारों की यह रहस्यात्मकता या स्पष्टता किस कारण है, यह कहना कठिन है। कदाचित् जैनेन्द्र जी रचना के प्रभाव को तीव्र करने के लिए एक अनिर्दिष्ट विचारणा उसमें मिला देते हैं। कभी-कभी कला में अस्पष्टता भी आकर्षण का हेतु बन जाती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्यिक रचनाओं में वस्तु-चित्रण और भाव-चित्रण ही मुख्य होते हैं। यदि उनमें प्रत्यक्ष रूप से विचार-धारा का संयोग करा दिया जाता है, तो रचना में उपदेशात्मकता आ जाने का भय रहता है। कदाचित् इसी उपदेशात्मकता के आरोप से बचने के लिए जैनेन्द्र जी अपने उपन्यासो में जो दार्शनिकता उपस्थित करते हैं, वह अस्पष्ट और रहस्यात्मक रहा करता है।

जैनेन्द्रजी एक भावुक कथाकार हैं; अतएव उनके विचारों में भी भावुकता का होना स्वाभाविक हैं। जब कोई विचारधारा भावना पर आश्रित हो जाती है, तब उसके तार्किक पक्ष को अथवा प्रमाण-प्रमेय संबंध को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र जी की दार्शनिक अस्पष्टता का यह भी एक कारण है। अधिकतर उनकी कृतियों में भावुकता का इतना सशक्त प्रवाह है कि उनकी मूलवर्ती विचार-धारा उक्त भावुकता में ही डूबी रहती है।

'त्यागपत्र' नामक इनके उपन्यास को ही लीजिए। इस उपन्यास के दार्शनिक आधार पर स्पष्ट बोध करने के लिए हमें आरम्भ में ही यह समझ लेना होगा कि इस उपन्यास में नायिका मृणाल का चरित्र-लेखन किया गया है और ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होने वाले उसके समस्त नैतिक और व्यावहारिक अवगुणों का अपवारण कर उसे एक महान् नारी के रूप में उपस्थित करने का उद्योग किया गया है। इसी उद्योग के साधन के रूप में त्यागपत्र में दार्शनिकता की योजना की गई है। आरम्भ में ही हम देखते हैं कि मृणाल विवाह के पूर्व अपनी सखी शीला के घर आती-जाती रही है और शीला के भाई के प्रति उसका आकर्षण भी हो गया है। इसी बीच में उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से कर दिया जाता है, जो आयु में उससे बहुत बड़ा है और विशेष पढ़ा-लिखा भी नहीं। इस प्रसंग में शीला के भाई के प्रति मृणाल के व्यवहार को एक रहस्यात्मक आवरण में ही रखकर लेखक ने अपना काम चलाया है और सारा दोष मृणाल के वयस्क पति पर रख छोड़ा है।

दूसरा प्रसंग तब उपस्थित होता है, जब मृणाल से रुष्ट होकर उसका विवाहित पति उसे अलग कर देता है और वह असहाय अवस्था में रहने लगती है। यहाँ लेखक ने मृणाल के विवाह-पूर्व आचरण को रहस्यात्मक रीति से छिपाकर उसके प्रति हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति प्राप्त कर ली है, किन्तु इस स्थिति में आकर लेखक के सम्मुख मार्ग यह था कि वह मृणाल का नैतिक पतन न दिखाकर उसकी साधनामयी जीवनी का आरम्भ करता और मृणाल के चरित्र को नया उत्कर्ष देकर हमारी सहानुभूति को स्थिर रखता; परन्तु लेखक ने उस मार्ग को न चुनकर मृणाल का संबंध एक दूसरे व्यक्ति से प्रदर्शित किया है। इस समाज विरोधी और अनैतिक पक्ष की पुष्टि के लिए लेखक ने फिर अपने 'तत्त्वज्ञान' का सहारा लिया है। सामाजिक दृष्टि से परपुरुष-सम्बन्ध एक अपवाद ही है; परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में ही मृणाल की जीवन-साधना का दर्शन करता है। हम कह सकते हैं कि यह दार्शनिकता सामाजिक नियमों की विरोधिनी, अस्पष्ट और अत्यन्त गूढ़ है।

लेखक इस परिस्थिति में मृणाल की दयनीय दशा और विवशता का मार्मिक चित्र उपस्थित कर हमारी सहानुभूति मृणाल की ओर फिर से आकृष्ट करता है। यह कार्य वह अपनी भावुक दार्शनिकता के बल पर करता है। क्रमशः मृणाल गर्हित समाज में गहरी पैठती जाती है और ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क इस आचारहीन समाज से बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लेखक उसके व्यक्तित्व को उत्कर्ष देता और उसे साधना के मार्ग में बहुत ऊँचा उठा हुआ प्रदर्शित करता है। मृणाल भगवान् की दुहाई देती है और अपनी अवशता में ही अपना कर्तृत्व मानने लगती है। वह स्वतः अपने को किसी अलौकिक उद्देश्य की सिद्धि का निमित्त मानती है और प्रमोद जैसे

विचारशील तथा उच्चपदस्थ व्यक्ति को भी इस साधना-मार्ग में प्रवेश करने का निषेध करती है। प्रश्न यह है कि लेखक ने कौन-सी साधना मृणाल को सौंपी है? प्रत्यक्ष में उपन्यास किसी विशेष साधना-पथ का संकेत नहीं करता, तथापि लेखक की दृष्टि में मृणाल एक उत्कृष्टतम साधिका बनी हुई है।

इसके आगे हम मृणाल को एक परिवार में बच्चों की देख-रेख करते और उससे मिलने वाले द्रव्य से जीविका चलाते देखते हैं। यहाँ अवश्य हमें यह प्रतीत होता है कि मृणाल अब स्वात्मनिर्भर हो गई है और वह स्वतन्त्र रूप से अपनी मर्यादा की रक्षा करती हुई अपना जीवन-यापन कर सकती है; परन्तु लेखक मृणाल की इस संतोषजनक परिस्थिति को अधिक दिन कायम नहीं रखता। उसकी नौकरी छूट जाती है और वह फिर पूर्ववत् विवशतापूर्ण अनिर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगती है। अंत में वह अत्यन्त शोचनीय और विद्रूप परिस्थितियों में पड़कर रुग्ण हो जाती है और कुछ समय बाद 'घुट-घुट कर प्राण त्याग देती है'। यहाँ भी किसी सुस्पष्ट जीवनक्रम के स्थान पर हमें मृणाल की किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति का ही बोध कराया जाता है।

एक स्थान पर मृणाल अपनी-जैसी आश्रयहीन नारियों का एक संगठन तैयार करती हुई दिखाई गई है। इस अवसर पर प्रमोद से उसकी कुछ बातचीत भी होती है। प्रमोद के आग्रह करने पर भी वह उसके घर आने को तैयार नहीं होती; परन्तु उससे आवश्यक द्रव्य लेकर निराश्रित नारियों की सहायता में लगाने का विचार करती है। प्रमोद से उसे आवश्यक द्रव्य नहीं मिलता। इस प्रसंग में लेखक की दार्शनिकता यह सुझाती प्रतीत होती है कि अच्छे-से-अच्छे सुधारवादी व्यक्तियों द्वारा भी अत्यावश्यक सामाजिक कार्य में यथेष्ट सहयोग मिलना सम्भव नहीं होता। उसकी यह उपपत्ति हमें समाज की एक सामान्य प्रवृत्ति का परिचय भर कराती है; परन्तु लेखक इस घटना की योजना द्वारा भी मृणाल के चरित्र के उत्कर्ष को बढ़ाता है और उसकी दयनीय दशा के प्रति संवेदना उत्पन्न करता है। समस्त उपन्यास में इसी भावुक और रहस्यमय प्रणाली के प्रयोग द्वारा हमारी सहानुभूति खींची गई है; परंतु प्रश्न यह है कि मृणाल के चरित्र में वास्तविक गरिमा लेखक कहाँ तक ला सका है? दूसरा प्रश्न यह है कि मृणाल को बिना वास्तविक चारित्रिक गरिमा दिए, उसके प्रति हमारी संवेदना आकृष्ट करना कहाँ तक स्वस्थ साहित्यिक उद्देश्य कहा जा सकता है?

हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि जैनेन्द्र का उद्देश्य नारी की वर्तमान सामाजिक असहायावस्था के चित्रण द्वारा समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न करना है, मृणाल को कष्टपूर्ण और अनैतिक स्थितियों में रखकर

लेखक ने हमारी समाज-विरोधी चेतना को और भी तीव्र किया है; परन्तु हमारी उक्त चेतना को जागृत करने के लिये क्या यह भी आवश्यक था कि मृणाल के सामाजिक पतन को भी दिव्य और लोकोत्तर साधना का नाम दिया जाता ? लेखक के इस अंतिम निर्देश को स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं।

प्रेमचन्द को आदर्शवादी कहकर लोग संकीर्ण या गुज़रे जमाने का लेखक कहते हैं; परन्तु प्रेमचन्दजी आदर्शवादी होते हुए भी जीवन के प्रति आस्था और विश्वास से पूर्ण हैं, जब कि जैनेन्द्र-जैसे लेखकों की दृष्टि अत्यन्त व्यक्तिवादी, तर्क-प्रधान और अनिर्दिष्ट है। वाद कोई हो, उसके अन्तर्गत लेखक की जीवनानुभूति उसके उत्कर्ष की विधायक होती है। प्रसिद्ध लेखक अज्ञेय ठीक ही कहते हैं कि 'परवर्ती उपन्यास की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की सम्भावना अधिक है। क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति रखता है और वह आसक्ति रचनात्मक प्रणालियों में बाँधी जा सकती है।' प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में सामाजिकता का गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। उनके पात्र और चरित्र आधुनिक भारतीय जीवन के प्रतिनिधि रूप में चित्रित हुए हैं। उनके निर्माण में रचयिता की दृष्टि सामाजिक विकास की ओर पूर्णतः संलग्न है। प्रेमचन्दजी का अनुभव व्यापक और विशाल है। उन्होंने अनेकानेक सामाजिक स्तरों से पात्रों और चरित्रों का चयन किया है। उनके साहित्य में व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि प्रेमचन्द का साहित्य बहिर्मुख साहित्य है और जीवन के प्रश्नों और समस्याओं से जुड़ा हुआ है। जैनेन्द्र की साहित्य-सृष्टि व्यक्तिमुखी है। उनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन के व्यापक स्वरूपों से कम ही है । वे वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों के चित्रकार हैं। जैनेन्द्र के साहित्य में रचयिता की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का पूरा योग है, जिसके कारण रचना के साथ उसके रचयिता की मनोवैज्ञानिक परीक्षा भी आवश्यक हो जाती है। प्रेमचन्द का साहित्य इस प्रकार की परीक्षा से परे है, क्योंकि प्रेमचन्द स्वस्थ और विकासोन्मुख सामाजिक जीवन के चित्रकार हैं । जैनेन्द्र भी आदर्शों की स्थापना करते हैं; परन्तु उनके साहित्य को आदर्शवादी नही कहा जा सकता। वे कल्पना-प्रधान और व्यक्तिवादी लेखक हैं। इन दोनों साहित्य-सरणियों का अन्तर समझने के लिए यह जान लेना भी आवश्यक है कि जैनेन्द्रकुमार सामाजिक जीवन के वास्तविक प्रवाह से दूर जाकर 'आध्यात्मिक' सूक्ष्मतंत्रों को चित्रित करने का लक्ष्य रखते हैं; परन्तु इस 'आध्यात्मिक' चित्रण में उनकी मनःस्थिति पूर्णतः स्वस्थ और तटस्थ नहीं दिखाई देती। जैनेन्द्र सामाजिक जीवन से दूर जाकर जिस साहित्य की सृष्टि करते हैं, उसमें व्यक्ति के मानसिक संघर्ष और उसकी परिस्थिति-जन्य समस्याएँ प्रमुख रूप से आती हैं; परन्तु उनका निरूपण करने में लेखक का

दृष्टिकोण स्वस्थ और स्पष्ट नहीं है।

आधुनिक समाजवादी विचारक प्रेमचन्दजी को हिन्दी का प्रमुख प्रगतिशील लेखक मानते हैं। सामाजिक जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध को सभी स्वीकार करते हैं। जैनेन्द्रकुमार इससे भिन्न व्यक्तिवादी कलाकार हैं। हाल की उनकी रचनाओं में चरित्रों की ऐकांतिकता, जीवन के प्रवाह से पृथक्ता और दूरी अत्यधिक स्पष्ट हो गई है। समाजवादी विचारक जैनेन्द्र को जीवन की वास्तविकता से दूर जाते हुए लेखक के रूप में देख रहे हैं। कुछ समीक्षाओं में उनको प्रतिक्रियावादी रचनाकार कहा गया है। इनसे समीक्षकों का तात्पर्य जैनेन्द्रजी की उन साहित्यिक प्रवृत्तियों से है, जिनमें वे सामाजिक मूल्यों की अवमानना कर स्वतंत्र और वैयक्तिक मनःतर्कवाद का निरूपण करते दिखाई देते हैं। जैनेन्द्रजी को सामाजिक जीवन से भागने वाला या पलायनवादी भी कहा गया है। नैतिक आदर्शों को जैनेन्द्रजी के साहित्य में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नहीं है। हम रूढ़िबद्ध सामाजिक नैतिकता के हामी नहीं हैं; परन्तु हम उस मनोविज्ञान को अवश्य समझना चाहते हैं, जो समस्त सामाजिक व्यवहारों में एक प्रश्न-चिह्न लगाकर रह जाता है और बदले में कोई नया निर्देश या रचनात्मक सुझाव नहीं देता।

व्यक्तियों और पात्रों का चित्रण यदि एकदम ऐसी भूमि पर किया जाय, जिससे सामाजिक नैतिकता का या प्रचलित व्यवहारों का कोई सम्बन्ध न हो और फिर यह आशा की जाय कि वे पात्र और चरित्र सामाजिक व्यवहारों की कसौटी पर न परखे जायँ, बल्कि उनके लिए सब प्रकार की छूट होते हुए भी वे महान् माने जाएं, तो यह एक अतिशय असाधारण माँग होगी। प्रश्न होता है कि ऐसी असाधारण माँग क्यों ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी युग-विशेष में परम्परागत धारणाओं और सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह करने की आवश्यकता हो सकती है और नए नैतिक मूल्य का स्थापन किया जा सकता है। ऐसे क्राँति-युगों में कथाकार का यह धर्म हो जाता है कि वह क्रमागत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों का निर्देश करे; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे नए मूल्य और आदर्श एकदम ही काल्पनिक और असामाजिक हों। विद्रोही कलाकार भी जिस नवीन सामाजिकता का निर्माण करता है, उसमें एक औचित्य और व्यवस्था रहा करती है। जैनेन्द्रजी का विद्रोह इस प्रकार का नहीं है। वे नवीन सामाजिक मूल्यों का निर्धारण नहीं करते; वे तो अपने पात्रों के समाज-विरोधी स्वरूप का एक रहस्यवादी दार्शनिकता के आधार पर समर्थन करते जाते हैं। इसे हम साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ रचनात्मक दृष्टि नहीं कह सकेंगे। जिस विद्रोह में रचनात्मकता न हो, ऐसा साहित्यिक कार्य सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता।

कतिपय मनोविश्लेषक यह कहते हैं कि जैनेन्द्रकुमार ने जिस प्रकार की सामाजिक आधार रहित साहित्य-सृष्टि की है, उसके मूल में स्वयं लेखक की पलायन-वृत्ति, दुःखवादी (Sadistic) धारणा और अतृप्त वासना काम करती है। यह कहा जा सकता है कि इस पलायन-वृत्ति को जैनेन्द्रकुमार ने एक दार्शनिक आवरण दे रखा है। उनके प्रमुख चरित्र अपने को दार्शनिक चोले में प्रकट करते हैं। त्यागपत्र की मृणाल स्थान-स्थान पर इस दार्शनिकता को लेकर प्रस्तुत होती है; परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उक्त दार्शनिक आवरण से जैनेन्द्रजी की वास्तविक मनःस्थिति और उसके आधार पर निर्मित होने वाली चरित्रों और पात्रों की वास्तविकता छिपाई जा सकती है? जब पूर्ण रचना का अनुशीलन करने पर भी पाठक के हाथ कुछ नहीं लगता तब इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जैनेन्द्रकुमार की करुणा और उनकी संवेदना के चित्रण की असलियत क्या है। करुणा किसके लिए और क्यों? यह प्रश्न उनकी रचनाओं में प्रायः कोई समाधान नहीं पाता। इन कारणों से समीक्षकों का यह आरोप कि जैनेन्द्रकुमार अत्यधिक व्यक्तिवादी, रहस्यात्मक तथा काल्पनिक उपन्यासकार हैं तथा उनके उपन्यासों का सामाजिक प्रभाव अत्यन्त संदिग्ध है, अनुचित नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द का साहित्य यत्र-तत्र दूसरी अति पर पहुँच गया है। वे एक सामाजिक उपदेष्टा और प्रचारक के रूप में उपस्थित होते हैं। व्यक्ति की मानसिक स्थितियों का चित्रण करने में वे उतने कुशल नहीं हैं। वास्तव में वह उनका मुख्य ध्येय ही नहीं है। यह भी कहा जाता है कि नारी-चरित्र का निर्माण करने में प्रेमचन्दजी प्रायः सफल नहीं हुए। प्रेमचन्दजी के आदर्शवादी लक्ष्य के अनुरूप न होने के कारण अनेक साहित्यिक आवश्यकताओं की उपेक्षा हो गई है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में यत्र-तत्र बोझीलापन अधिक हो गया है। वे कहीं किसी विषय की चर्चा करने लगते हैं, तो उसे इतना विस्तार दे देते हैं कि वह पाठक के धैर्य का परीक्षक बन जाता है। वर्णनों के विस्तार द्वारा वे कथा को अत्यधिक खींच डालते है, जिसमें एक प्रकार का असंतुलन दिखाई पड़ने लगता है। कला की दृष्टि से इन त्रुटियों को स्वीकार करना पड़ता है। प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण में भी वर्गगत चित्रण की ही प्रमुखता है। उनके पात्र भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतीक बन जाते हैं। इसे भी सृजन की वास्तविक मौलिकता के लिये बाधक ही कह सकते हैं; परन्तु इन अपवादों के रहते हुए प्रेमचन्दजी का अनुभव-क्षेत्र विस्तृत है। पात्रों की बातचीत कौशल के साथ कराने की उनकी क्षमता असाधारण है; उच्च आदर्शों की ओर उनकी प्रवृत्ति अबाध है। वे हिन्दी के महान् और असाधारण उपन्यासकार और कथालेखक का सर्वमान्य पद अधिकृत करते हैं। कला की दृष्टि से जैनेन्द्रजी की रचनाएँ उन अनेक दोषों से विमुक्त हैं, जिनका उल्लेख

प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में किया जाता है। फिर भी तत्त्व या निष्कर्ष की दृष्टि से इन दो कलाकारों में जो अन्तर है, उसके आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि प्रेमचन्द की समकक्षता में जैनेन्द्रकुमार को रखना किसी भी साहित्यिक मानदंड के अनुरूप नहीं होगा।

जैनेन्द्रजी के सम्बन्ध में दो बातें अक्सर बड़े आग्रह के साथ कही जाती हैं। एक यह कि जैनेन्द्रजी अपने जीवन-दर्शन में गाँधीजी के अनुयायी या गाँधीवादी हैं और दूसरी यह कि कलाकार के रूप में वे आदर्शवादी हैं। अपनी असाधारण भावुकता के द्वारा वे सामाजिक जीवन का निरन्तर परिष्कार करने की दिशा में अपनी लेखनी का व्यवहार कर रहे हैं और विशेषकर नारी-समाज के प्रति उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार है। नारी के प्रति इस महान् सद्भावना के कारण ही जैनेन्द्रजी के उपन्यासों की नारियाँ, वे चाहे जैसा भी सामाजिक व्यवहार करें, सदैव उदात्त ही बनी रहती हैं। कहा जाता है कि इसी कारण जैनेन्द्रजी के चित्रणों में नारी की परख उसकी सामाजिक स्थिति या आचरण से नहीं होती, वह सम्पूर्ण व्यावहारिकता के परे है और सदैव अनुपम गरिमा से मंडित है; किन्तु ये दोनों ही बातें सुसंगत नहीं जान पड़तीं। गाँधीजी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में जितने बड़े आदर्शवादी और अध्यात्मवादी थे, अपने सामाजिक मंतव्यों में उतने ही कठोर साधना-प्रिय और नीतिवान् रहे हैं। उनकी सामाजिक नीतियों और आचरणों पर भावुकता की छाया नहीं थी। हल्की भावुकता से वे कोसों दूर थे। जैनेन्द्र की रचनाओं में जिन नारियों के दर्शन हमें होते हैं, वे गाँधीजी की नारी-कल्पना से नितान्त भिन्न हैं। रचना के क्षेत्र में जैनेन्द्र न तो गाँधीवादी हैं और न आदर्शवादी हैं। वे ऐकान्तिक, भावुक और कल्पना-जीवी लेखक हैं, जो वास्तविकता के प्रकाश में धूमिल दिखाई देते हैं।

श्रीमती रजनी पनिकर

जैनेन्द्र का द्विरागमन

दस वर्षों के दीर्घ अभंग साहित्यिक मौन के बाद, जैनेन्द्र का सहसा इतना मुखर हो उठना कि 'सुखदा' की सीमा में ही न रह कर 'विवर्त्त' का भी विधान कर डालें, मुझे हिन्दी कथा-साहित्य की ही नहीं, भारत के कथा-साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना जान पड़ी और इस घटना को मैं 'द्विरागमन' की तरह सार्थक विशेषत्व और रसमयता से युक्त मानती हूं। उपन्यास का लेखन भी औपन्यासिक घटना हो सकता है, यह कहना हो तो मैं जैनेन्द्र के इस मौन-भंग का ही उदाहरण दूँगी, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र-भाषा को दो नूतन और उत्तम रचनाएँ प्राप्त हुईं।

यद्यपि जैनेन्द्र सदा यह अस्वीकार करते रहे हैं कि वे कहानी की टेकनीक के मर्मज्ञ हैं और कला-कोटि की किसी वस्तु का विधान करते हुए किसी विशेष कौशलका अनुवर्त्तन भी नहीं करते, तथापि उनके समीक्षकों ने एक स्वर से उन्हें कला-कुशल और टेकनीक का मर्मज्ञ कहा है। जैनेन्द्र इसे अपने प्रति अभियोग ही समझते हैं। सच जो भी हो, पर यह झूठ नहीं कि 'सुखदा' और 'विवर्त्त' उनकी कला-पटुता और टेकनीक-मर्मज्ञता के उत्कृष्ट उदाहरण है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में सामान्य का अंकन विरल ही किया है। वस्तुतः यह भावुक, परन्तु बौद्धिक कलाकार कर्मलोक से अधिक मनोलोक के रहस्यों का ज्ञाता है। जहाँ कर्म का बाह्य घटाटोप भी इनकी रचनाओं में रहा है, वहां भी उस स्थूलता में मन की सूक्ष्मता अभंग रही है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने सदा असामान्य की सृष्टि की। वे लीक छोड़ कर चले। उन्होंने लोक से अधिक स्वयं को दिया। फलतः उनकी कला में व्यक्तित्व की प्रधानता सर्वोपरि है, इसी व्यक्तित्व ने उनकी शैली को अप्रतिमता दी। जैनेन्द्र के शब्द, उनकी वाक्य-रचना, उनका कथा-विधान अपने आप में अनुपम है और इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक कृतियों की अपार भीड़ में भी जैनेन्द्र की रचनाएँ सहज ही पहचान ली जायँगी। उनका स्वर निराला और निर्भ्रान्त है। जैनेन्द्र के इन दोनों नवीन उपन्यासो में वह निरालापन और निर्भ्रान्तता पूर्णतः सुरक्षित है।

'सुखदा' को ही पहले लें। 'कल्याणी', 'सुनीता' और 'सुखदा' में मुझे एक विकसित परम्परा मिली है। कल्याणी एक विवश व्यक्तित्व है, सुनीता एक दृढ़ व्य-

क्तित्व है, सुखदा दोनों की विवशता और दृढ़ता ले कर जन्मी है। यही कारण है कि 'कल्याणी' हमारे युग की नारी के जितने निकट आ सकेगी, उतनी 'सुनीता' नहीं। 'सुखदा' परिस्थितियों की असामान्यता के कारण स्वयं असामान्य चारित्रिक सृष्टि के रूप में हमारे सामने आई है, पर असामान्यता के इस छल का वेधन करके देखें तो उसका मन उन्हीं तत्त्वों से बना है जिनसे आज की नारी का, जो महात्वाकांक्षी है, पुरुष से स्पर्धा करती है, स्पर्धा में दृढ़ है पर प्राकृतिक सीमाओं के कारण विवश भी।

'सुखदा' की रचना एक पुरुष कलाकार इतनी सचाई और स्वाभाविकता से कर सका है, इस बात का अचरज मुझे अब भी है, जैसे स्वयं जैनेन्द्र इस उपन्यास की रचना करते समय स्त्री के अन्तस्तल में पैंठ गये थे। ऐसा एकात्मभाव कलाकार अपने चरित्र से स्थापित न कर पाता तो 'सुखदा' के पाठक सुखदा जैसी नायिका पर धिक्कार की वर्षा ही करते। पर अचरज तो इस बात का है कि अपने घर की सीमाओं को भंग करके जीवन की होली खेलने वाली इस नारी के साथ अन्त तक पाठक की निर्मल सहानुभूति बनी रहती है और उसकी पीड़ा में वह पीड़ित हुये बिना नहीं रहता। इस उपन्यास का अन्त जहाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त है, वहाँ पाठक के उस मन की दृष्टि से जो सुखदा के साथ पिस रहा है, अत्यन्त निर्मम भी। जैनेन्द्र की इस निर्मम कला का मैं स्वागत करने को बाध्य हूँ।

'सुखदा' उपन्यास के सभी चरित्र असामान्य और व्यक्तित्वपूर्ण हैं। मैं उनका चरित्र-चित्रण न करके उपन्यास के उस वैशिष्ट्य का प्रकाशन करना चाहती हूँ, जिसने जैनेन्द्र की इस रचना को समग्र बौद्धिकता और वाद-विधान में भी चरित्र-प्रधान ही बनाये रखा। यही बात 'विवर्त्त' के विषय में कही जा सकती है।

'विवर्त्त' का जितेन सुखदा का रूपान्तर ही है—कुछ परिस्थितियों के परिवर्तन और स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक अन्तर के साथ। जहाँ 'सुखदा' में प्रच्छन्न रूप से घर और बाहर की समस्या लेखक ने समाधान के सहित प्रस्तुत की है, वहाँ 'विवर्त्त' में भी। सुखदा घर से बाहर की ओर दौड़ रही है और विवर्त्त' का जितेन बाहर को घर में प्रविष्ट करके घर की सुख सीमा में विश्व की व्याकुलता भर देता है। सुखदा कहीं अपने से हारी हुई है; ठीक उसी तरह जितेन भी अपने से परास्त हैं। शायद ये सुखदा और जितेन हमारी सभ्यता के ही निर्माण हैं, जिनकी सहृदयतापूर्ण विडम्बना के द्वारा लेखक ने उस सभ्यता की भी कलात्मक ढंग से विडम्बना की है, जिसमें आत्म-हनन, आत्म-वंचना और आत्म-पीड़न पराकाष्टा को पहुँच रहा है; ऐसी पराकाष्ठा जिसमें, भ्रम सत्य को भी भ्रम बना रहा है।

सच तो यह है कि जैनेन्द्र का लेखन पाठक की मनःप्रीति से अधिक उसके बौद्धिक उत्तेजन के संकल्प से संयत है। पर कला वह है जहाँ बुद्धि हृदय का आग्रह

बन कर प्रकट होती है। जैनेन्द्र की इन कृतियों में निश्चय ही बुद्धिवाद को भावात्मक बुद्धिवाद कहना अधिक रुचता है और गाँधीवाद की बौद्धिकता से उसका अन्यतम साम्य है।

इतना ही नहीं। इन दोनों रचनाओं में गाँधीवादी दर्शन का अव्याहृत कौशल से सम्पोषण किया गया है। वस्तुतः लेखक दो पृथक् वृत्तियों का संघर्ष और परिणाम दिखाना चाहता है। एक वृत्ति है हिंसा की और दूसरी है अहिंसा की। हिंसा घृणा, वैर और विद्वेष की पोषक है; और अहिंसा क्षमा, प्यार और मनुष्यता की पोषक है। हिंसा में बदले की भावना बद्धमूल रहती है और उसके रचनात्मक संकल्प भी विध्वंस की शैली के होते हैं। पर अहिंसा तो परताड़न में नहीं, आत्म-ताड़न मे विश्वास रखती है। इसीलिये बदले का वहाँ स्थान ही नहीं। अहिंसा में जहाँ हठात् विनाश का प्रवेश भी हो जाता है, वहाँ भी सुन्दर नव-निर्माण का उदय होता है। जैनेन्द्र यन्त्र-युग की इस आसुरी सभ्यता को, जो अणुबम और हाईड्रोजन बम के पराक्रमों में भूली है और नरसंहार जिसके लिये बाल-कौतुक भर है, से अहिंसा की ओर ही उन्मुख करना चाहते हैं। उन्होंने 'सुखदा' और 'विवर्त्त' दोनों उपन्यासों में जीवन के संक्षेप को लेकर ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनसे सहज ही जाना जा सकता है कि जीवन का सुख विधान कहाँ है ? कल्याण का मार्ग कौन-सा है ?

इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र की मूल विचारधारा सर्वत्र एक है। इससे उसके आवरण में भी स्थूल सादृश्य परिलक्षित होता है। आशय यही है कि 'सुनीता' से लेकर 'विवर्त्त' तक उनके उपन्यासों में क्रान्तिकारी चरित्रों का समावेश एक अनिवार्य-सा जान पड़ता है।

जैनेन्द्र सिद्ध कथाकार हैं। वे जो कहना चाहते हैं, उसे प्रभावशाली ढंग से कहने को क्षमता रखते हैं। मैं इन दोनों उपन्यासों का उतना ही स्वागत करती हूँ और विश्वास रखती हूँ कि जहाँ सामान्य पाठक इनमें सम्पूर्ण कथारस और मनोरंजकता प्राप्त करेगा वहाँ विचारशील बौद्धिक पाठक इनमें हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी रमा सकेगा। हमारे युग में कथा-साहित्य को विश्व-समस्याओं के सुलझाने का भार अपने ऊपर लेना है। जैनेन्द्र की इन दोनों रचनाओं ने अपना कर्त्तव्य बड़े सुन्दर ढंग से निभाया, इसमें कोई सन्देह नहीं। क्या ही अच्छा हो, यदि जैनेन्द्र की यह साहित्यिक मुखरता अब मौन से विमुख ही रहे।

———

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा

जैनेन्द्र के स्वतंत्रता-पूर्व के उपन्यास

बात देश के बंटवारे से पहले की है। मैं लाहौर रेडियो स्टेशन पर एक वार्ता कहने गया था। वहीं उर्दू के एक प्रसिद्ध अफ़साना-नवीस से भेंट हो गई। साहित्यिक चर्चा चलते-चलाते जैनेन्द्रकुमार तक पहुँच गई। उन उर्दू-लेखक की राय में हमने जैनेन्द्र को यूँ ही ऊँचे उठाया हुआ था। उनकी कृतियों में टेकनीक का अभाव होने के कारण वे बढ़िया नहीं कही जा सकतीं और किंचित् दंभ प्रदर्शित करते हुए उन्होंने कहा कि वे हिन्दी के क्षेत्र में आने की सोच रहे थे ताकि जैनेन्द्र को Expose कर सकें। मैंने उनसे यह निवेदन किया कि वे अवश्य हिंदी-क्षेत्र में आयें, हम उनका स्वागत करेंगे, किंतु जिस भावना से प्रेरित होकर वे आना चाहते हैं उसे वे यदि त्याग सकें तो ठीक रहेगा, क्योंकि जैनेन्द्र एक स्वाभाविक कथाकार हैं जो कि किसी भी टेकनीक के मुहताज नहीं। इसलिए उनके बिगाड़े जैनेन्द्र का कुछ भी बिगड़ न सकेगा। उर्दू के वे अदीब कुछ ही काल के बाद सचमुच हिंदी में आए और आज भी उनकी रचनाएँ हिंदी में निकल रही हैं। पर वे हिंदी-साहित्य में कहीं पहुँच नहीं पाए। थोड़ी-बहुत ख्याति जो उन्हें मिली है वह उर्दू का लेखक होने के नाते ही। और इधर जैनेन्द्रकुमार जो आज अपने को कहानी लेखक भी नहीं मानते, अब भी हमारे साहित्य में एक अलग स्थान रखते हैं। वे केवल अपने स्वतन्त्रता-पूर्व के उपन्यासों के बल पर ही हिंदी कथा-साहित्य में एक उच्चासन के अधिकारी रहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

जैनेन्द्रजी का पहला उपन्यास 'तपोभूमि' था, पर चूंकि उसे उन्होंने श्री ऋषभ-चरण जैन के साथ मिलकर लिखा था, इसलिए उसका उल्लेख विशेष आवश्यक नहीं। उनका दूसरा उपन्यास था 'परख'। यह उपन्यास समालोचकों की नज़रों से ऊँचा जँचा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुछ अपरिपक्वता होने के अतिरिक्त भी यह उपन्यास हिंदी में एक नई चीज़ थी। कहानी में तो वही पुराना प्रेम का त्रिकोण था, पर कहने के ढंग में, चरित्र-चित्रण में मौलिकता थी। कट्टो के चरित्र-चित्रण में लेखक सफल हुए हैं। उस अपढ़ लड़की के त्याग और आत्माभिमान की कहानी खूब उतरी है। वह अपने त्याग के बल से खुद ही नहीं बचती, बल्कि अपने प्रेमी सत्यधन को भी गिरने से बचाती है।

['परख' के बाद जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' निकली, पर उसे पढ़कर निराशा हुई। शायद लेखक 'परख' में खींची हुई लकीरों से आगे न बढ़ सकेगा, यह डर होने लगा। लेकिन इनके 'त्याग-पत्र' ने डर निर्मूल सिद्ध कर दिया। इस में वे 'परख' से ऊँचे उठ गए हैं। विषय और कथानक तो उसका भी पुराना है, पर विचार बिल्कुल नए थे और उन्हें आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया गया था। लेखक ने न तो उपदेशक का आसन लिया है और न जज की ही कुरसी संभाली है, किंतु उन्होंने बहुत ही ईमानदारी से हमारे समाज की व्यवस्था के एक अंग का जीता-जागता चित्र खींच कर रख दिया है। इस उपन्यास में जैनेन्द्र जी ने मृणाल नाम की एक युवती के प्रेम की, विवाह की, और पतन की कहानी कही है। उपन्यास मे चरित्र-चित्रण खूब हुआ है और उसकी मृणाल तो आज भी हिंदी में अपने ढंग की एक ही है। इतने बड़े उच्च कुल में जन्म लेकर वह इतना नीचे गिरी कि एक कोयला बेचने वाले बनिए के साथ चल दी। लेकिन इतना भारी पतन हो जाने पर भी उसकी आत्मा की ऊँचाई और निर्मलता में ज़रा भी अन्तर नहीं पड़ा। बड़ी से बड़ी विपत्ति झेलने पर भी उसने उफ़ तक न की। पर लेखक ने एक बात में मृणाल के साथ ज़बरदस्ती की है। उन्हें उसके शरीर की इतनी दुर्दशा न करवानी चाहिए थी। इतनी बड़ी आत्मा का पतन इतना भद्दा नहीं हो सकता। प्रेमचंद की सुमन भी तो गिरी थी पर एक शान से। खैर, कुछ भी हो त्याग-पत्र में जैनेन्द्र जी ने एक नया आदर्श रखा और यह उपन्यास लिख कर उन्होंने अपना ही नहीं हिंदी का भी मान बढ़ाया।]

'त्याग-पत्र' के अनन्तर उनका उपन्यास 'कल्याणी' निकला। यह उपन्यास एक शिक्षित महिला के दिल के द्वंद्व की करुण कहानी है, जो संस्कृतियों के संघर्ष की वजह से दो आदर्शों में पिस रही थी। कल्याणी विलायत पास लेडी डॉक्टर थी। उसकी माँग केवल इतनी थी कि या तो उसे पूर्ण रूप से गृहिणी बना कर रक्खा जाय, या डॉक्टर बनने की पूरी आज़ादी दी जाय। दोनों काम उससे न हो सकेंगे। दोनों काम करते हुए भारतीय नारी के पतिव्रत धर्म का पालन करने का जो आदर्श रखा गया है, उसे वह निभा न सकेगी। उसके पति चाहते थे दोनों बातें। डॉक्टरी रुपए के लिए और गृहिणी बरसों से दिल में घर किए संस्कारों की शांति के लिए। पहली बात के लिए वे अनुनय-विनय करते थे और दूसरी बात के लिए कल्याणी को मजबूर। इसलिए पति-पत्नी में बहुधा झगड़ा हो जाया करता था और नौबत मार-पीट तक भी पहुँच जाती थी। पति की कौन कहे, किंतु कल्याणी के भावुक मन की बेचैनी तो दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। वह कविता भी करती थी न ! पति समझाते-बुझाते, मित्र लोग ढ़ाढस देते,

बुझाते, मित्र लोग ढ़ाढस देते, पर वह संभल न पाती। शायद संभल सकती ही न थी और पति के साथ रहकर उसे शांति न थी। ऊपर से मुस्कराने-हँसने पर भी उसके दिल का दर्द जाग्रत रहता। कुछ ही दिनों के बाद बात यहाँ तक बढ़ गई कि उसे ऐसे लगने लगा कि वह अधिक समय तक न जियेगी। उसे जीना ही न चाहिए। किंतु एक और प्राणी का जीवन उसमें समाया हुआ था। इसलिए वह उसके आने की राह देखने लगी और ठीक जिस दिन उसके लड़का हुआ, वह उस पार हो गई।

[इस कहानी को जैनेन्द्र जी ने अपनी अनुपम शैली में एक वकील द्वारा कहलवाया है जो कल्याणी और उसके पति के बहुत बड़े मित्र थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्याणी जैसी सुसंस्कृत और कोमल हृदय नारी की तस्वीर खींचने के लिए जिस सहानुभूति की आवश्यकता थी, लेखक उसी को काम में लाए हैं। पति की बात कहने में भी लेखक साहित्यिक कसौटी पर पूरे उतरते हैं। 'कल्याणी' कला की एक बढ़िया चीज़ है, यह तो मानना ही पड़ेगा। हाँ, कहीं-कहीं लेखक अपनी दार्शनिकता में आवश्यकता से अधिक उलझ गए हैं, जिससे पाठक के ऊबने का भय है, किंतु जैनेन्द्र जी के लिये यह सब कुछ छोड़ देना संभव नहीं। इसलिए उनकी कला का रसास्वादन करने वालों को इतना तो सहना ही होगा। और, आज तो वे कथा-साहित्य से ही विमुख हो गए हैं। पूर्ण रूपेण दार्शनिकों और विचारकों की पंक्ति में जा बैठे हैं। इसलिए कथा-क्षेत्र में जो कुछ भी हमें उनसे मिल चुका है, अब उसी पर संतोष करना होगा।]

———

डाक्टर प्रतापनारायण टंडन

जैनेन्द्र के उपन्यास-साहित्य में शिल्प-रूप

जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा-शिल्प के जो रूप मिलते है, उनमें एक विचित्र प्रकार की समरूपता विद्यमान है। बाह्य रूप से देखने पर उनका संयोजन ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वे पर्याप्त भिन्नता लिये हुये हों, परंतु यथार्थ में वैसा नहीं है। जैनेन्द्र के कथा-शिल्प का यही आकर्षण उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। परंतु इस कथन का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि जैनेन्द्र के सभी उपन्यास कथात्मक संगठन की दृष्टि से बहुत अधिक प्रौढ़ता लिये हुये हैं, अथवा उनमें कोई असाधारण तत्व निहित है। वास्तव में जैनेन्द्र के उपन्यासों का महत्त्व और ख्याति केवल दो कारणों से ही मुख्यतः है। एक तो कथा शिल्प के नवीन और आकर्षक रूपों के प्रयोग के कारण और दूसरे उपन्यास में कुछ अन्य तत्वों के समावेश के कारण, जिनमें मनोविश्लेषणात्मक तत्व मुख्य हैं। इस निबंध में हम केवल प्रथम की ही चर्चा करेंगे, अर्थात् जैनेन्द्र के विविध उपन्यासों के आधार पर हम यह देखेंगे कि उनमें शिल्प-रूप की दृष्टि से क्या नवीनता मिलती है।

सन् १९२९ में प्रकाशित जैनेन्द्र के सर्वप्रथम उपन्यास "परख" की कथा का आधार यद्यपि सत्यधन, कट्टो, बिहारी और गरिमा नामक पात्र-पात्रियां है और इनसे यह आभास होता है कि कथा का विकास चतुर्कोणात्मक रूप से हो रहा है, परंतु यथार्थ में वैसा नहीं होता। इसमें एक ही मुख्य कथा है। उपन्यास के सभी प्रधान पात्रों का संबंध इसी मुख्य कथा से है और वे सभी उसकी गति को प्रभावित करते और स्वयं भी उसी से परिचालित होते हैं। अप्रधान कथा सूत्रों की इसमें यथा-संभव उपेक्षा की गयी है, परंतु इसमें किसी असामान्य शिल्प रूप के ढांचे पर कथा-नक का निर्माण नहीं किया गया है। यहाँ तक कि द्वितीय-कोटि के पात्रों में विपिन, भगवद्दयाल और उनकी पत्नी आदि जो हैं, वे अधिक अर्थपूर्ण नहीं लगते। कथा के किसी गंभीर उलझाव से उनका गहरा संबंध नहीं मालूम होता। मुख्य पात्र अधि-कांशतः आत्म केन्द्रित हैं, इसलिये कथा का विकास प्रायः वैयक्तिक रूप में ही होता है। लेखक ने स्वयं भी लिखा है—'मैंने जगह-जगह पर कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूं, पाठक के लिये यह थोड़ा आयास वांछनीय होता है, अच्छा लगता है···कहीं एक साधारण भाव

को वर्णन से फुला दिया गया है, कहीं लम्बा-सा रिक्त छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापरवाही से, कहीं हल्की-धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती भाषा से...।"

"परख" का नायक सत्यधन पहले अपनी बाल विधवा कट्टो नाम की एक शिष्या के प्रति गहराई से आकर्षण का अनुभव करने के पश्चात् अपने मित्र बिहारी के परिवार के सभी सदस्यों से सुपरिचित हो जाता है। भगवद्दयाल उसका विवाह गरिमा से करना चाहते हैं। बिहारी की भी इसमें सहमति होती है, परंतु सत्यधन स्वयं इस विषय में अनिश्चित रहता है। अपनी बाल परिचित कट्टो के प्रति स्नेह की भावना उसे दुविधा में डाले रहती है। बिहारी को यह स्थिति मालूम होती है और कट्टो भी परिस्थिति को समझती है। वह सत्यधन का विवाह गरिमा से हो जाने देती है। फिर बिहारी और कट्टो भी परस्पर आकर्षण के पश्चात् एक प्रकार का आदर्शवादी समझौता कर लेते हैं। इस प्रकार से इन लोगों के संबंधों की जो परिणति इस उपन्यास के अन्त में दिखाई देती है, वह उस जीवन-दर्शन का स्पष्ट रूप प्रस्तुत करती है, जो लेखक क्रमशः निर्मित करता रहा है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता और सार्थकता का प्रमाण लेखक की दूसरी औपन्यासिक कृति 'सुनीता' है। 'परख' से इसमें दृष्टिकोणगत तथा प्रस्तुतीकरण गत पर्याप्त साम्य मिलता है। इस उपन्यास में भी त्रिकोणात्मक रूप से कथा का विकास हुआ है। इस उपन्यास में तीन चरित्र—सुनीता, हरिप्रसन्न तथा श्रीकांत प्रधान हैं। घटना तत्वों की बहुलता न होते हुये भी इस उपन्यास के पात्रों का चारित्रिक खिचाव ही कथा को विकास की ओर अग्रसर करता है तथा उसमें नये सूत्रों को उपजाता है। इस प्रकार से इस उपन्यास के कथानक का मूल आधार इन्हीं तीन प्रधान पात्रों के त्रिकोणात्मक चरित्र ही हैं और कथा के निर्देशक सूत्र भी पात्रों की अंतःवृत्ति के आधार सूत्र ही हैं।

सुनीता' की कथा का आरंभ ही एक ऐसे दम्पति की परिस्थिति के उपस्थितीकरण से होता है, जिनके चरित्र रहस्यात्मक सूत्रों से निर्दिष्ट होते हैं। सुनीता और श्रीकांत का विवाह हुये तीन वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, परंतु वे अभी तक निसंतान है। उनके जीवन में कभी-कभी नीरसता की प्रतीति का यही कारण है। यह परिस्थिति कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में लेखक ने प्रस्तुत की है, क्योंकि कथा का जो विकास आगे हुआ है, उसके संदर्भ में यह विशेष अर्थ रखती है। श्रीकांत बहुधा अपने मित्र हरिप्रसन्न का स्मरण और चर्चा करता है। वह उसे पुराने पते पर पत्र भी लिखता है, जो लौट आता है। एक बार वह उसे प्रयाग में दूर से देखता भी है, परंतु भीड़ के कारण उससे मिल नहीं पाता। इस प्रकार के संकेत उनके संबंधों के विषय में कौतूहल जाग्रत करते हैं। बाद में कथानक में काफी नाटकीयता के समा-

वेश के बाद दोनों मित्रों की दिल्ली में भेंट हो जाती है। वह उसे घर ले आता है। हरिप्रसन्न सुनीता से परिचित होता है और पति-पत्नी का चित्र भी बनाता है। श्रीकान्त उसे बाँध कर रखना चाहता है और सुनीता को भी अपना उद्देश्य बता देता है। एक बार श्रीकांत के बाहर जाने पर हरिप्रसन्न सुनीता के पास आता है और अपने दल के क्रांतिकारी युवकों का नेतृत्व करने की प्रार्थना करता है। बाद में कथानक में कुछ असाधारण मोड़ आते हैं और उनके फलस्वरूप नारी चरित्र की विविध केन्द्रीय प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं के सूचन के संकेत मिलते हैं। अन्त में कथा में एक प्रकार की शिथिलता-सी आ जाती है और उसी अनिश्चयता में उसका अंत हो जाता है। कथानक की नाटकीयता और कहीं-कहीं अटपटापन ही उसे एक आकर्षण देता है।

जैनेन्द्र के प्रारंभिक उपन्यासों में कथानक के शिल्प रूपों में प्रयोगात्मक तथा नवीनता की दृष्टि से "त्यागपत्र" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस उपन्यास में विविध स्थलों पर जीवन की मार्मिक, सहज और तीव्र अनुभूतियों की वेदनामयी अभिव्यक्ति मिलती है। हिंदी के आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों में यह कृति अन्यतम है। इसीलिये कलात्मक उत्कृष्टता के साथ-साथ इस उपन्यास का महत्त्व शिल्प के नवीन प्रयोग की दृष्टि से भी है। इस उपन्यास की मुख्य पात्री मृणाल नामक अभागिनी युवती है, जिसके करुण जीवन की गाथा का वर्णन प्रमोद नाम के उसके भतीजे ने किया है। वह अपने भविष्य के सुनहरे सपने देखने वाली एक शिक्षित युवती है। अपनी सहेली शीला के भाई से वह प्रेम भी करती है। आगे चल कर परिस्थिति गंभीर हो जाती है, क्योंकि उसके घरवालों को इस प्रेम व्यापार का पता चल जाता है और ये उसका विवाह तुरंत दूसरे व्यक्ति से कर देते हैं। सरल हृदय मृणाल अपने पति से प्रपंच नहीं कर पाती और दुश्चरित्र समझी जाकर एक कोयले वाले के साथ रहने को बाध्य होती है। प्रमोद की सहायता वह सदैव अस्वीकृत कर देती है। वह स्वार्थवश इसे ही मान लेता है और उन्नति करके एक जज के प्रतिष्ठित पद पर पहुँच जाता है। फिर वह प्रायश्चित के रूप में अपने पद से त्यागपत्र दे देता है और कथा का अंत होता है। इस प्रकार से कथा के अंतिम भाग को उपन्यास के आरंभ में प्रस्तुत किया गया है, जो कालगत विशेषताओं की दृष्टि से हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग था। इस सामान्य अंतिम कथांश को आरंभ में प्रस्तुत करने के पश्चात् फिर वास्तविक कथा का आरंभ हुआ है। कथा की समाप्ति पर फिर अंतिम भाग प्रारंभिक कथा से सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार से इस उपन्यास से एक नयी शिल्प परम्परा का आरंभ होता है। यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख करना भी असंगत न होगा कि अनेक परवर्ती उपन्यासकारों ने इसी शिल्प

रूप को आधार बना कर अनेक औपन्यासिक कृतियों की रचना की, जो इसकी व्यापक संभावनाओं के द्योतक हैं।

सन् १९३९ में "कल्याणी" का प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास भी "त्यागपत्र" की ही भांति आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, परन्तु यह उपन्यास भी इस प्रकार की शैली में लिखे गये सामान्य उपन्यासों की अपेक्षा कुछ भिन्नता रखता है। साधारणतः इस शैली में जो उपन्यास लिखे जाते हैं, उनमें कथा के प्रधान अथवा किसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण पात्र की ओर से ही कथा का संपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु इस उपन्यास की कथा का प्रस्तुतकर्ता एक गौण पात्र है। उपन्यास की प्रधान पात्री श्रीमती असरानी हैं। उन्हीं के नाम पर उपन्यास का नामकरण भी हुआ है। कथा के प्रस्तुतकर्ता ने अपने कुछ परिचितों की जीवन-गाथा के रूप में यह कहानी सामने रखी है। चूँकि वह स्वयं कथानक में प्रधानता नहीं रखता, इसलिये अपना दृष्टिकोण भी वह अधिकांशतः तटस्थ रखने का प्रयत्न करता है। इसी कारण कथानक के विकास-चक्र में कहीं-कहीं कुछ ऐसे अंश आ गये हैं, जो उसके प्रवाह की गति-भंग कर देते हैं।

कल्याणी महत्त्वाकांक्षिणी है और अपने विद्यार्थी-जीवन में इंग्लैंड में एक ऐसे युवक से प्रणय कर बैठी थी, जो अब एक प्रसिद्ध नेता और प्रीमियर था। भारत लौटने पर वह संभवतः उसी से विवाह भी करता, परन्तु डा० असरानी नामक एक व्यक्ति की धूर्तता के कारण वैसा नहीं हो पाता। कल्याणी विवशता अनुभव करके डा० असरानी से ही विवाह कर लेती है। अब वह पति की नीचता का सही परिचय पाती है। वह उन्हें इस सीमा तक नीच देखती है कि व्यवसाय लाभ के लिये अपने नारीत्व की भी बाजी लगा देने की बात उनकी ओर से प्रस्तावित पाती है। वह एक विचित्र मानसिक संघर्ष की स्थिति में रहती है। इस प्रकार से उसका चरित्र रहस्य-मयता और नाटकीयता से आवृत्त प्रतीत होता है। इस उपन्यास की यह रहस्यमयता और नाटकीयता जैनेन्द्र के लगभग सभी उपन्यासों से मिलती-जुलती है, परन्तु कल्याणी का चेतना और अन्तर परिस्थिति से विद्रोह करता है। इस संघर्ष में उसे अपना बलिदान करना पड़ता है। इसलिये यह उपन्यास शिल्प-रूप की दृष्टि से इस कारण से भी विशिष्टता रखता है कि इसमें अप्रधान पात्र के माध्यम से भी प्रधान पात्री की जीवन-गाथा का इतने प्रत्यक्ष और प्रभावशाली रूप में वर्णित किया जा सकना संभव हो सका।

"सुखदा" उपन्यास का कथानक घटनाओं के वैविध्य के बोझ से आक्रान्त है। सुखदा नामक उपन्यास की कथा का व्यावहारिक रूप से आरम्भ उसके स्वयं अपनी कहानी लिखने से होता है। पैंतीस वर्ष की आयु तक पहुँची हुई सुखदा अपने आपको अब खोखला-सा अनुभव करती है, वह सभी ओर से निराश और टूटी हुई है, अपने

पति की स्पष्ट और निर्विरोध स्वीकृतियाँ उसमें संघर्ष उत्पन्न करती हैं। वह एक विचित्र स्थिति में पड़कर अपने जीवन की गाड़ी को किसी प्रकार से आगे ढकेलती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार से कथा का आरम्भ ही इतनी गतिहीनता और शिथिलता के साथ होता है कि उसकी भावी संभावनायें बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं रह जातीं, कथा के सूत्र अब फैलते हैं, परन्तु उनमें कोई तनाव नहीं प्रतीत होता। एक पुत्र के जन्म की सूचना भी प्रासंगिक रूप से की जाती है। कथा में खिंचाव उस समय से उत्पन्न होता है, जब एक क्रांतिकारी युवक वहाँ नौकरी करने आता है और बाद में पता चलता है कि वह गिरफ्तार हो गया है। यों यह घटना अधिक महत्त्व की नहीं है, परन्तु कथा में मोड़ और गतिशीलता लाने की दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। अब सुखदा स्वयं भी क्रान्ति के क्षेत्र में प्रविष्ट होती है। हरीश और लाल आदि पात्रों का कथा में प्रवेश होता है। ये पात्र अत्यन्त नाटकीयता का व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। सुखदा लाल की ओर आकर्षित होती है और अनेक नाटकीय मोड़ों के बाद वह पति को त्याग कर अस्पताल में जाकर भरती हो जाती है, इस प्रकार से शिल्प रूप की दृष्टि से यह एक नवीन प्रयोग अवश्य है, परन्तु कथा की अस्थिरता और शिथिलता इसके आरम्भ और अंत में समान रूप से विद्यमान हैं, जो किसी सीमा तक इस कृति की अशक्ति का कारण भी है।

"विवर्त्त" के कथानक का केन्द्र जितेन नामक पात्र का जीवन है, उसकी सामान्य पारिवारिक स्थिति के परिचय से इस उपन्यास की कथा का व्यावहारिक रूप में आरम्भ होता है, उसकी असाधारण प्रसिद्धि आदि बता कर लेखक कथा विकास का भावी मार्ग खोलता है। भुवनमोहिनी के कथानक में प्रवेश से उसमें गति आती है, परन्तु इस सूत्र की सम्भावनाओं का तब अन्त हो जाता है—जब भुवनमोहिनी जितेन से विवाह न करके नरेशचन्द्र की पत्नी बन जाती है। जितेन का असफल प्रेम उसे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाने की प्रेरणा देता है। चार वर्ष के बाद जितेन का आना, शरण पाना, भुवनमोहिनी के गहने चुरा कर भागना, उसके दल वालों का भुवनमोहिनी को पकड़ ले जाना, जितेन का पुलिस को समर्पण, आदि घटनायें क्रमशः घटित होती हैं। कथानक का अन्त भी इन्हीं विविध घटनाओं के जाल में बंध कर आकस्मिक रूप से होता है।

'व्यतीत' का नायक कवि जयंत है। वह अपने जीवन की प्रौढ़ावस्था को पहुँच कर अपने आपको कुछ टूटा-सा अनुभव करता है, अनिता उसके प्रति प्रेम-भाव रखती है, परन्तु उसका विवाह पुरी से हो गया है। जयंत जीवन से विरक्त होकर किसी प्रकार दिन गुज़ारता रहता है। वह पचहत्तर रुपये की एक नौकरी भी कर लेता है। पिता की इसी बीच मृत्यु हो जाने पर उसे जो रुपया मिलता है, वह भी वह अपनी बड़ी बहिन को दे देता है। जयंत के मालिक को पता चलता है कि उसका सम्बन्ध पुरी से है, तो

वह इससे लाभ उठाने के उद्देश्य से अपनी पुत्री को उसके संपर्क में लाता है। वह भी जयंत के साहचर्य की कामना करने लगती है। कुमार चाहता है कि चंद्री का विवाह जयंत से हो जाय। जयन्त इसमें असमर्थता प्रकट करता है और पुन: अनिता के पास पहुँच जाता है। वह यह भी निश्चय करता है कि युद्ध में जाकर प्राण दे देगा। बीच में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपजती हैं कि वह चंद्री से विवाह कर लेता है, इसके आगे की कथा उलझी हुई है। जयन्त, अनिता, चंद्री, पुरी तथा कपिला आदि पात्र-पात्रियाँ कठपुतली की भाँति व्यवहार करते हैं और कथानक की गति क्रमश: रुद्ध होकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार से इस उपन्यास के कथानक में भी गतिहीनता के कारण प्रभावात्मकता नहीं आ सकी है और न ही कोई नवीन शिल्प रूप ही निर्मित हो सका है।

"जयवर्धन" की कथा में एक अमेरिकन पत्रकार विलवर हूस्टन की २१ फरवरी २००७ से लेकर १० अप्रैल २००७ के बीच मे लिखी गयी डायरी को प्रस्तुत किया गया है। कथात्मक शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास लेखक के पूर्ववती उपन्यासों से पर्याप्त भिन्नता रखता है। इस कथा का नायक स्वयं जयवर्धन ही है। इसके अतिरिक्त कथावस्तु के महत्त्व की दृष्टि से स्वामी चिदानन्द, लिज़ा, इला तथा नाथ आदि चरित्र विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। कथा आरम्भ से ही अनेक सूत्रों मे विभक्त होकर विकसित हुई है। मुख्य सूत्र दो हैं। ये दोनों सूत्र कथा के नायक जयवर्धन के वैयक्तिक तथा राजनैतिक जीवन को आधार बना कर गतिशील रहते हैं। इस उपन्यास का कथानक पात्रों के तर्क-सूत्रों, विचार-तत्वों, सामाजिक-आदर्शों और राजनैतिक-दर्शन आदि के बहुलता से समावेश के कारण कुछ बोझिल-सा हो गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में शिल्प रूपों के प्रयोग की दृष्टि से प्रौढ़ता तो अवश्य मिलती है, परन्तु स्वयं उनकी अपनी ही कृतियों में उनका सम्यक् विकास नहीं हो सका है। उनमें घटनाओं की संघटनात्मकता पर बहुत कम बल दिया गया है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से जैनेन्द्र अपने पात्रों की सामान्य गति में ही सूक्ष्म संकेतों की निहिति की खोज करके उन्हें बड़े कौशल से प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण से उनकी चारित्रिक विशेषतायें संयुक्त होकर उतरती हैं। चरित्रों की प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं के निर्देशक सूत्र ही मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर विकास को प्राप्त होते हैं। जैनेन्द्र के प्राय: सभी उपन्यासों में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्वों का समावेश अधिकता से हुआ है। परन्तु ये सारे तत्व जहाँ भी समावेशित हुये हैं, वहाँ वे पात्रों के अंतर की विवृति करते प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि जैनेन्द्र के पात्र बाह्य वातावरण और परिस्थितियों से अप्रभावित लगते हैं और अपनी अंतर्मुखी गतियों से संचालित। उनकी प्रतिक्रियायें और व्यवहार भी प्राय: इन्हीं गतियों के अनुरूप होता है। इसी

कारण उनके उपन्यासों में चरित्रों की भरमार नहीं दिखायी देती और पात्रों की अल्प संख्यकता के कारण भी उनके उपन्यासों में वैयक्तिक तत्वों की प्रधानता रही है।

क्रांतिकारिता तथा आतंकवादिता के तत्व भी जैनेंद्र के उपन्यासों के कथानक का महत्वपूर्ण आधार रहे हैं। उनके सभी उपन्यासों के प्रमुख पुरुष पात्र सशस्त्र क्रांति में आस्था रखते हैं। वाह्य स्वभाव, रुचि और व्यवहार में एक प्रकार की कोमलता और भीरुता की भावना लिये होकर भी ये अपने अन्तर में विध्वंसक वृत्ति लिये होते हैं। उनका यह विध्वंसकारी व्यक्तित्व नारी की प्रेम विषयक अस्वीकृतियों की प्रतिक्रया के फलस्वरूप निर्मित होता है। इसी कारण जब वह किसी नारी का थोड़ा भी आश्रय, सहानुभूति या प्रेम पाता है, तब टूट कर गिर पड़ता है और बाह्य रूप से भी कोमल बन जाता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा का विकास त्रिकोणात्मक सूत्र के आधार पर होता है। एक प्रधान पात्र और एक प्रधान पात्री को लेकर मुख्य कथा सूत्र का विकासशील होना जैनेन्द्र के किसी उपन्यास में नहीं मिलता। उनके उपन्यासों में प्रायः प्रधान पात्र और प्रधान पात्री के अतिरिक्त एक तीसरा पात्र और भी होता है, जिसका कथा के विकास में उतना ही महत्वपूर्ण योग रहता है। यही कारण है कि उनमें कथानक का खिचाव तीन ओर से रहता है और इस त्रिकोण के मूल सूत्रों के पारस्परिक संघर्ष से उसे विकास की दिशायें मिलती हैं। इस प्रकार से जैनेन्द्र के उपन्यासों के कथानक के शिल्प-रूपों से सम्बन्ध रखने वाली विशेषताओं को साधारणतः दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो उनके उपन्यासों की सामान्य शिल्पगत विशेषतायें और दूसरे असामान्य विशेषतायें। ऊपर जिस त्रिकोणात्मक संघर्ष के फलस्वरूप होने वाले कथा-विकास की चर्चा की गयी है, वह उनके उपन्यासों की एक सामान्य शिल्पगत विशेषता है, जो उनके अधिकांश उपन्यासों में समान रूप से विद्यमान है।

डाक्टर मुकुन्ददेव शर्मा

जैनेन्द्र जी के नारी पात्रों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि

प्रेमचन्द युगेतर कथा-साहित्य के हाथ से आदर्श की रज्जु छूट गयी और वह फ्रायडीय यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुआ। फ्रायडीय यौनवाद ने भारतीय यथार्थवादी साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। फ्रायडीय यौनवाद कोई नयी कल्पना हो, यह बात नहीं है। यौनवाद केवल नये आवरण तथा नये "लेबल" के साथ साहित्य-क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित हुआ है। हमारे संस्कार नारी और पुरुष को एक दूसरे का पूर्णतः प्रपूरक मानते हैं। यह अर्द्धांग की भावना केवल सिद्धान्त-जन्य नहीं है। वास्तव में एक दूसरे के अभाव में अपूर्णता रह जाती है। नारी और पुरुष का मानसिक और शारीरिक कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि वह पृथक् नहीं किया जा सकता।

हमारा सम्पूर्ण वांग्मय स्थूल रूप से दो प्रकार के साहित्य में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के साहित्य में नारी का अनुरक्ति पूर्ण वर्णन मिलता है और इस प्रकार के वर्णनों में उत्साहातिरेक के कारण अनेक प्रकार के ऊहात्मक वर्णन मिलते हैं। कहीं-कहीं ये चित्र उपहासात्मक हो जाते हैं। दूसरे प्रकार का साहित्य विरक्ति पूर्ण है। इस प्रकार के साहित्य को सुविधा के लिये भक्ति पूर्ण भी कहा जा सकता है। विरक्ति पूर्ण साहित्य में भी नारी का वर्णन बहुलता के साथ मिलता है। इस क्षेत्र में नारी की अधिकतर व्याज-स्तुति मिलती है। नारी के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिए उसकी तथा उसके रूपादि की अनेक प्रकार से निन्दा की जाती है, परन्तु यह निन्दा हमारे अवचेतन में स्थिति नारी के प्रति आकर्षण का व्यक्त रूप में रेचन मात्र है। दोनों प्रकार के वर्णनों में थोड़ा-सा अन्तर है। एक अपनी भावना को सहज रूप में व्यक्त करता है और उसकी अभिव्यक्ति में इस प्रकार लिप्त होता है कि वह यथार्थ से दूर चला जाता है। दूसरा निन्दा के सहारे अवचेतन स्थित अपनी कुंठाओं का विरक्ति के नाम पर ऐसा वर्णन करता है कि उसमें अस्वाभाविकता आ जाती है। दोनों वर्णन में रस लेते हैं और व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से संतुष्टि का अनुभव करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नारी, साहित्य में वर्णन का एक प्रमुख विषय रही है। पुरुष अपनी भावना तथा अपनी अनेक प्रकार की वृत्तियों की संतुष्टि के लिये उसका अनेक प्रकार से वर्णन करता रहा है। अतः पुरुष नारी के

स्वभाव, विचार और उसकी मानसिक गति-विधि का वर्णन करता रहा है। अतः उसका चित्रण बिलकुल सच्चा है, कैसे कहा जा सकता है। पुरुष अपनी भावना की अथवा नारी से जिस प्रकार की भावना की अभिव्यक्ति की अपेक्षा करता रहा है, उसका वह अपने चित्रण में आरोपण करता रहा है। स्पष्ट है कि इस आकर्षण में कुछ न कुछ यौन तत्त्व भी वर्तमान रहता है, चाहे वह व्यक्त रूप में हो चाहे अव्यक्त रूप मे। फ्रायड ने इस आकर्षण का द्वार मुक्त कर दिया और पश्चिम की नयी हवा ने इस तत्त्व को साहित्य का एक प्रमुख अंश बना दिया है।

प्रेमचन्द युगेतर साहित्य में जैनेन्द्र जी का प्रमुख स्थान है। वे संभवतः पहले कथाकार हैं जो आदर्शों और उपदेशकों की सीमा का अतिक्रमण कर यथार्थ के धरातल पर अपने पात्रों का ईमानदारी के साथ चित्रण करने की ओर अग्रसर होते हैं। वे स्नेह का वर्णन करते हैं, परन्तु सत्य से उसका सम्बन्ध नहीं छूटता। यथार्थ की पीठिका पर वे स्नेह की अभिव्यक्ति करते हैं और उनके पात्रों, विशेषकर नारी पात्रों, में इसका क्रमिक विकास भी दीख पड़ता है। आज के मनोविज्ञान का फ्रायडीय यौनवाद से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। परिणामतः जैनेन्द्र जी के मनोविश्लेषण पूर्ण चित्रण भी फ्रायडीय यौनवाद के घेरे से बाहर नहीं निकल सके हैं। हमारी संस्कृति का काम' शब्द बड़ा व्यापक है। गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन में सांसारिक अभ्युदय के जितने भी प्रयत्न हैं, वे हमारे यहाँ 'काम' के अन्तर्गत आते हैं। यौनाकर्षण और 'काम' में इस प्रकार थोड़ा अन्तर स्वीकार करना होगा। जैनेन्द्रजी के चरित्रों में यौनाकर्षण है और इस समस्या को ही लेखक ने अनेक प्रकार से व्यक्त करने की चेष्टा की है। फ्रायडीय विचारधारा के समान ही जैनेन्द्र जी भी 'यौन-तत्त्व' को प्रमुखता देते हैं और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं—'उन नामों के नीचे जाकर उन दोनों में केवल स्त्री रह जाती है, दूसरा पुरुष रह जाता है। अपने चलन-व्यवहार में चलने वाले, नाते-रिश्ते असत्य वस्तु नहीं हैं, पर प्राणी के प्राण में बहुत गहरे जाकर मानों वे सब कुछ ऊपर सतह पर ही छूट जाते हैं—

(सुनीता—पृष्ठ १००)।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में फ्रायड का यौनवाद स्पष्ट है, परन्तु इसके बावजूद उन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखा है। वे फ्रायड के यौनवाद की उच्छृंखलता में बह नहीं गये हैं। उनके चरित्र यौनवाद के चंगुल में फँसकर निरीह नहीं हुये हैं। उन्होंने बड़ी शक्ति के साथ उसका सामना किया है और निरन्तर ऊपर उठने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनका उपन्यास-साहित्य एक ही भाव की अनेक रूप में अभिव्यक्ति करता रहा है। यह भाव उनके अवचेतन की किसी कुंठा का ही परिणाम

है चाहे कथा, घटना, क्रम और अभिव्यक्ति की शैली में भले ही कुछ थोड़ी बहुत भिन्नता हो, परन्तु सबके अन्तर में एक ही भाव-तन्तु स्थित है।

जैनेन्द्र जी के नारी चित्रण में प्रारंभ से अन्त तक एक ही टेक मिलती है। उनके अधिकांश नारी चरित्र भले घर की मध्यम अथवा उच्च मध्यम वर्ग की महिलाएँ हैं। सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि जैनेन्द्र के सभी नारी पात्र अपने पति के अतिरिक्त पर-पुरुष की ओर आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का प्रमुख स्रोत फ्रायड का यौनवाद ही है। सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन का असंतोष भी इस प्रकार के चित्रण के लिए उत्तरदायी हो सकता है, परन्तु प्रधान रूप से इसका कारण यौनाकर्षण ही है। जैनेन्द्र के अधिकतर नारी पात्र मानसिक द्वन्द्व से आक्रान्त हैं। इस मानसिक द्वन्द्व का कारण कुछ भारतीय समाज की संस्कार-जन्य-परिस्थितियाँ भी हैं। उनके नारी-पात्रों के पर-पुरुष आकर्षण का क्या रहस्य है, यह भी अवचेतन स्थित कुछ ऐसी कुंठाओं से संबंध रखता है जिनका विकास वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों पर आश्रित है।

एक बार नारद मुनि ने भी द्रौपदी से सतीत्व के संबंध में प्रश्न पूछा था। द्रौपदी ने अन्त में उत्तर दिया कि 'मेरे पाँच सुदृढ़ वीर और विक्रमी पति हैं, परन्तु आज भी मुझे छठे पति की स्पृहा बनी है।' जैनेन्द्र जी के नारी पात्रों के अन्तर में भी यही भावना कार्य करती दीख पड़ती है। नारी पात्रों के यथार्थवादी चित्रण तथा अवचेतन स्थित मानसिक ग्रंथियों का उद्घाटन करते समय कहीं-कहीं जैनेन्द्र जी अति यथार्थवादी भावना की ओर भटक-से गये हैं। पाश्चात्य नारी की बात तो नहीं कह सकता, पर भारतीय नारी तो यौन-जीवन के संबंध में निर्लज्जता पूर्वक बातचीत नहीं कर सकती।

मानव जीवन का कुछ घृणित पक्ष भी है। मानव यदि बहुत ऊंचा उठ सकता है तो गर्त के अतलतम स्थान तक भी पहुँच सकता है, परन्तु साहित्य-सर्जन का कुछ प्रयोजन होता है, इसका कुछ उद्देश्य होता है। उसके द्वारा भावों, विचारों का परिष्कार होता है। साहित्य के माध्यम से यदि अभ्युदय का मार्ग न प्राप्त हो तो कम से कम सत्यासत्य की दृष्टि तो प्राप्त होनी ही चाहिये। अतः यथार्थ चित्रण के समय भी जीवन के उन अवांछित पक्षों की उपेक्षा तो करनी होगी जो दूषित संस्कार को बढ़ावा देते है। पतिता से पतिता नारी भी अपने अवचेतन में स्थित भावनाओं को इस प्रकार नहीं व्यक्त करेगी कि समाज का प्रत्येक प्राणी उससे घृणा करने लगे। वह अपने दौर्बल्य को निर्लज्जता का जामा नहीं पहना सकती। जैनेन्द्र जी की 'बुधिया' कुछ इसी प्रकार का चरित्र है। वह पर-पुरुष से कहती है—'दादा हर किसी

से पैसा ले लेते हैं और जा के ताड़ी में फूँक देते हैं। माँ गयी, तब से यही हाल है। मैं अपने बस किसी को नहीं लौटाती·········मैं शिकायत नहीं करती, लेकिन तन कभी बहुत पीर दे जाता है।' भारतीय-संस्कृति के लिए इस प्रकार के चित्रण अत्यंत ही अपरिचित से हैं। इन चित्रों में फ्रायड की यौनवादी भावना का नग्न प्रतिनिधित्व हुआ है।

लेखक की मौलिक रचना उसकी अनुभूति पर आश्रित होती है। कभी-कभी जीवन के अनेक अनुभव अनेक प्रकार की मानसिक और सामाजिक कठिनाइयों और व्यवधानों के कारण अवचेतन में जाकर रम जाते हैं और उनके द्वारा विचारों का उद्वेलन होता रहता है। समर्थ कलाकार अवचेतन में स्थित इन भावनाओं की, उन ग्रंथियों की तथा कभी-कभी अपनी दमित कुंठाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के पात्रों के सर्जन द्वारा बड़े ही नाटकीय रूप से करता है। यह सर्जन उसकी वेगवती, अवचेतन में स्थित अर्द्ध सुषुप्त भावना का ही परिणाम है। महान् चिंतक भी सृजन के क्षणों में कुछ ऐसी बातें लिख जाते हैं जिसे समाज की दृष्टि ठीक नहीं समझती, परन्तु उनकी दृष्टि से तो वह पूर्णतः सत्य और यथार्थ होता है, क्योंकि वह उनकी अमूल्य अनुभूति द्वारा उत्पन्न होती है। इस प्रकार की कृतियों के प्रति कृतिकार की बड़ी ममता भी होती है। परिणामतः उसे अन्यथा समझ सकने की क्षमता या शक्ति उसमें नहीं रह जाती। यही नहीं, इस धरातल पर पहुँचने पर उनके लिये कुछ भी गोप्य अथवा अगोप्य नहीं रह जाता।

वास्तविक कलाकार वही है जो अपनी अनुभूतियों का ईमानदारी के साथ वर्णन करता है, परन्तु साथ ही उसे इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि उसकी कला-कृति उसके वैयक्तिक जीवन तक ही सीमित नहीं रहती। वह तो समाज का एक अंश हो जाती है।

जैनेन्द्रजी ने हिन्दू नारी के चार प्रमुख चित्रों का वर्णन किया है। वे हैं—कट्टो, सुनीता, कल्याणी और मृणाल। इन सब चित्रणों में मानसिक ग्रंथियों का ही प्राधान्य है। उनके पात्र सिद्धान्तों और विचारों के वात्याचक्र में न फँसकर साधारण जीवन की ओर उन्मुख होते दीख पड़ते हैं। वे जीवन को सुखी रूप में जीना चाहते हैं और उसके लिये प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। उनमें यदि दुर्बलताएँ हैं तो वे उनको आदर्शवाद के आवरण से आच्छादित नहीं करना चाहते। वे उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं और उससे ऊपर उठने का साधन ढूँढते हैं।

जैनेन्द्र जी के कथा साहित्य में मनोविश्लेषण की उपर्युक्त प्रक्रिया का क्रमिक विकास दिखलाई पड़ता है। प्रारंभिक रचनाओं में जहाँ उन्होंने अपनी वैयक्तिक

विचारधारा को दार्शनिकता के आवरण से आवृत किया है, वहीं उनकी उत्तरकालीन रचनाओं में ये बीच के व्यवधान पूर्णतः दूर होते गये हैं।

जैनेन्द्र के सभी नारी पात्रों में विचित्र प्रकार का मानसिक द्वन्द्व चलता रहता है। सामाजिक परम्परा, सामाजिक व्यवधान और विचारों में वैषम्य के कारण ही यह स्थिति दीख पड़ती है। उनकी कला-कृतियाँ सामाजिक और मानसिक द्वन्द्व से टकराकर ऊपर उठने का यत्न करती हैं, यह एक स्वस्थ लक्षण है।

जैनेन्द्र जी का दार्शनिक व्यक्तित्व उनके मानसिक और सामाजिक व्यक्तित्व से बराबर संघर्ष करता चल रहा है। इस संघर्ष में अन्त में कौन विजयी होगा, यह कह सकना कठिन है, क्योंकि जैनेन्द्र जी सच्चे अर्थों में प्रगतिशील हैं और उनकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक चिन्तनों का क्रमिक विकास निरन्तर होता चल रहा है।

———

डाक्टर त्रिभुवनसिंह

यथार्थ और उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी कथा-साहित्य में जिस यथार्थ चित्रण का सफल प्रवर्त्तन मुंशी प्रेमचन्द जी ने किया, वह सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के बाह्य क्रिया-कलापों का चित्रण मात्र बनकर रह गया था। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों, राष्ट्रीय आन्दोलन से उत्पन्न विषम-समस्याओं एवं सुधारवादी आन्दोलनों के सम्पर्क में लाकर अपने चरित्रों के माध्यम से प्रेमचन्द जी तत्कालीन परिस्थितियों; आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषमताओं का यथार्थ एवं विश्वसनीय चित्र तो उतार चुके थे, पर व्यक्ति के अन्तर्मन में चलने वाले संघर्षों एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच उसके बदलने वाले संकल्पों का चित्र उतारना अभी शेष था, जिसकी ओर दृष्टि डालने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। युग की इस आवश्यकता की ओर भी उपन्यासकारों की दृष्टि गई और हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की रचनाओं के ही गर्भ से जैनेन्द्र-साहित्य का एक सोता फूट निकला जिसका आगे चलकर स्वतंत्र विकास हुआ है।

आगे चलकर मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक शैली को आदर्श मानकर लिखने वाले उपन्यासकारों का जो एक ऐतिहासिक आगमन हुआ, जैनेन्द्रजी को उस कोटि में तो नहीं रखा जा सकता, पर उन्हें पथ-दृष्टा के रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इन्होंने अपने उपन्यासों के अन्दर मनुष्य समाज की अपेक्षा एक परिवार अथवा व्यक्ति के यथार्थ चित्रण पर अधिक बल दिया और इस समय तक इसकी आवश्यकता भी आ पड़ी थी। सन् १९३६ के आस-पास, जो प्रेमचन्द की समाप्ति का काल था, युग की परिस्थितियों में परिवर्तन उपस्थित हो चुका था। प्रेमचन्द जी के रचना-काल में जो राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थायें थीं; उनमें बहुत कुछ सुधार किया जा चुका था। यह युग जागरण के कारण नवीन मोड़ ले रहा था। प्राचीन रूढ़ि-ग्रस्त परम्पराओं—एवं सामाजिक आदर्शों की निस्सारता प्रकट हो जाने तथा उनके निराकरण के उपयुक्त समाधानों के अभाव में नवीन प्रतिभायें नूतन मार्ग ढूंढ़ने लग गयीं। जैनेन्द्र जी की दृष्टि यद्यपि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं के चित्रण करने की ओर अत्यधिक गई, फिर भी उन्होंने प्राचीन सामाजिक सिद्धान्तों की चहार-दीवारी के

बाहर झाँका है।

ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र जी अपनी कृतियों को सिद्धान्तों और विचारों की भूल-भुलैया में फँसाना उचित नहीं समझते और न ही उन्होंने उपन्यासों के द्वारा उपदेशक बनना ही उचित समझा है। हिन्दू नारी में 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल' और 'कल्याणी' चार प्रमुख चरित्रों का निर्माण जैनेन्द्र जी ने किया है और कुछ पुरुष पात्रों का भी जिससे उनकी शैलीगत विशिष्टता का परिचय मिल जाता है। पहली बार हिन्दू गृहस्थ के घर का पर्दा उठाकर आपने अन्दर झाँकने का प्रयत्न किया है। इनकी कृतियों में पाठकों को सामयिक सामाजिक नव-निर्माण की ओर भरपूर झुकाव दिखलाई पड़ेगा। 'परख' की बाल-विधवा और अन्तिम अंश, 'सुनीता' की पति समर्पित व्याहता, जो पति की इच्छा के लिये ही एक गुमराह तथा 'सेक्स' के प्रति कुण्ठित व्यक्ति को मानवीय भूमि पर लाना चाहती है, तक आकर नारी की एक पतिनिष्ठा की भावना में आमूल परिवर्तन हो जाता है। 'सुमन' और 'निर्मला' की भाँति 'सुनीता' पति द्वारा शंकालु दृष्टि से नहीं देखी जाती। जहाँ निर्मला' तथा 'सुमन' पर पुरुष के सम्पर्क मात्र से ही समाज में निन्दा की वस्तु बन जाती है और उनकी नैतिक पवित्रता की सर्वथा उपेक्षा ही की जाती है, वहीं पर 'सुनीता' अपने पति 'श्री कान्त' के द्वारा पर-पुरुष 'हरि प्रसन्न' को नारी आकर्षण के प्रति जागरूक बनाने के लिये उसके साथ एकान्त में रहने के लिये एक प्रकार से विवश की जाती है। नारी का अस्तित्व पति की बाहों तथा घर की चहार दीवारी से निकल कर समाज में मुक्त रूप से विकसित होने के लिये उन्मुख हो उठा, जो रूढ़िग्रस्त मान्यताओं के प्रति एक प्रकार का विद्रोही स्वर था।

'त्याग-पत्र' की मृणाल बुआ पति के यहाँ आश्रय न पाकर पीहर से भी ठुकराई जाती है। परिणामस्वरूप वह एक बनिये के साथ भाग जाने के लिये बाध्य हो जाती है। और भी उसकी आत्मा अव्यभिचरित रहती है। इस प्रकार बाह्य सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आन्तरिक सदाचारों को यहाँ पर अधिक मूल्य प्रदान किया गया है। इस प्रकार के आन्तरिक मूल्यों पर बल देने वाले साहित्य रचना की ओर बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'शरत् चन्द्र' ने सर्वाधिक ध्यान दिया है। उनके उपन्यास 'गृहदाह' की 'अचला' में हमें 'मृणाल' की पवित्रता के दर्शन हो सकते हैं, यद्यपि दोनों की परिस्थितियों में महान् अन्तर है। 'अचला' के शारीरिक पतन के मूल में उसका असन्तुष्ट 'सैक्स' और परिवार में एक बाहरी व्यक्ति का प्रवेश पा जाना है, जबकि 'मृणाल' के पतन में स्वच्छन्द प्रेम और आर्थिक विषमता का महत्वपूर्ण हाथ है। 'मृणाल' को समाज की जिन गंदी गलियों से गुज़रना पड़ा है, उन पर चलकर उसने अन्तर्मन में चलने वाली पाप वृत्तियों, कुसंस्कारों एवं पुरुषों की

नारी विषयक दुर्बलताओं का भण्डाफोड़ किया है, जिसकी यथार्थता से हम इन्कार नहीं कर सकते। इसका संकेत मैंने पूर्व में ही कर दिया है कि जैनेन्द्र जी ने समाज की अपेक्षा परिवार और व्यक्ति को ही अपनी रचना का अधिक आधार बनाया है, जिसकी अभिव्यक्ति 'शरत' और 'रविबाबू' की रचनाओं में हो चुकी थी। अपनी अन्य रचनाओं की अपेक्षा जैनेन्द्र जी ने 'त्याग-पत्र' की सीमा में व्यापक समाज को चित्रित करने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर चित्रण का आधार एक पात्र 'मृणाल बुआ' ही है।

'प्रेम' जो कि मानव-मात्र के लिये अपरिहार्य एवं जीवन का आवश्यक अंग है, उसके प्रति 'जैनेन्द्रजी' का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यक्तिवादी है। ये प्रेम को समाज की वस्तु नहीं, बल्कि उसे एक मात्र वैयक्तिक वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन प्रश्नों को मुँशी प्रेमचन्द जी ने उठाकर छोड़ दिया था, जैनेन्द्र ने उनका समाधान ही नहीं प्रस्तुत किया, बल्कि उन्होंने उसकी सारी स्थिति ही बदल डाली। परम्परा से चली आती सारी मान्यताओं को इनके उपन्यासों में ठुकरा दिया गया है। 'परख' को छोड़कर इनके सभी उपन्यासों में वैयक्तिकता की चरम अभिव्यक्ति है। 'सुनीता' की नारी तो पति द्वारा ही पर-पुरुष से प्रेम का स्वांग करने के लिये प्रेरित की जाती है। यद्यपि लेखक ने उसे वैज्ञानिक प्रयोगों की पुत्तलिका के रूप में ही चित्रित करना चाहा है, किन्तु प्रयोग समाप्त हो जाने पर उसके अन्दर स्त्री सुलभ स्वाभाविक प्रेम हरिप्रसन्न के प्रति फूट ही पड़ा, भले ही उपन्यासकार उसे आगे बढ़ाने में हिचक गया हो। जैनेन्द्रजी ने 'सुनीता' को 'शरत' के 'गृहदाह' और 'रवि बाबू' के 'घरे-बाहिरे' से कुछ भिन्न रूप में उपस्थित करना चाहा था, पर कुछ ख़ास सफलता उन्हें इसमें मिली नहीं। किस प्रकार बाहरी व्यक्ति के परिवार में प्रवेश पा जाने से घर-परिवार टूट जाता है, रवि बाबू ने इसी का उदाहरण अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। काम सम्बन्धी शारीरिक अतृप्ति कोरी भावुकता पर शनैः शनैः किस प्रकार विजय पा जाती है और परिवार में बाहरी व्यक्ति के आ जाने से किस प्रकार उसे सहायता मिलती है, इसका उदाहरण 'गृहदाह' में मिल जाएगा। 'सुनीता' के आदर्शों की शिथिलता भी हरिप्रसन्न के नैकट्य का परिणाम है, पर 'सुनीता' और उसके पति की पूर्व चेष्टायें कुछ स्वाभाविकताओं पर जान पड़ती हैं, यद्यपि लेखक ने अन्त में चलकर 'सुनीता' के हृदय में आकर्षण दिखलाकर उसे यथार्थ की भूमि पर लाना चाहा है। निरावरण नारी शरीर को देखने का आग्रह तो यथार्थ का अतिरेक ही नहीं बल्कि किसी ग्रन्थि का परिणाम जान पड़ता है, क्योंकि 'गांधियन सत्याग्रह' के लिये मानस परिवर्तन का यह रूप स्वीकार्य नहीं।

जैनेन्द्र जी ने अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा को—मानसिक ग्रन्थि से उद्भूत कुण्ठा को जो उनके पूर्व लिखित उपन्यासों में स्पष्ट दार्शनिकता के आवरण में ढक गयी थी—मनोविश्लेषणात्मक आच्छादन में छिपाया था, उसे भी 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' में अनावृत कर दिया है। इनके सभी उपन्यासों में प्रायः एक ही प्रकार की टेक है। जैनेन्द्र जी के नारी पात्र प्रायः अपने दाम्पत्य जीवन में दुःखी हैं अथवा वर्तमान परिस्थितियों से पीड़ित हैं, 'कल्याणी' जिसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'कल्याणी' में नायिका पति द्वारा प्रताड़ित होने पर उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहती है, फिर भी नहीं छोड़ पाती। इनके नारी पात्रों के अन्दर सामाजिक मान्यता के प्रति विद्रोही भाव तो उग्र रूप में विद्यमान हैं, पर उनका शोषण होता ही है। 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल बुआ' और 'कल्याणी' की बेबसी तो हम देख ही चुके हैं, पर जैनेन्द्र जी अपने अन्य उपन्यासों में जो करते-करते रुक गये थे, उसे उन्होंने 'व्यतीत' में पूरा कर लिया, जहाँ प्रेम और विवाह में कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखलाई पड़ता। इनका पुरुष इतना आकर्षक है कि सभी लड़कियाँ उससे प्रेम करने लग जाती हैं। 'चन्दा' का विवाह तो 'जयन्त' के साथ एक निमित्त मात्र है, क्योंकि इसके अतिरिक्त भी अनैतिक प्रेम-व्यापार चलता ही रहता है। अनिता, सुनिता तथा कपिला आदि सभी जयन्त से प्रेम करती हैं और कुछ तो अधिकार तक भी दे आती हैं, पर उनमें से एक भी उसकी परिणीता नहीं। उपन्यासकार ऐसे सम्बन्धों को अनैतिक नहीं मानता। पुरुष पात्र प्रायः नारी के प्रति उदासीन ही रहते हैं। वे पुरुष सुलभ आकर्षण से वंचित रखे गये हैं, परन्तु नारी बार-बार आकर उनसे टकराती है और अपना भावुकतापूर्ण निरीह आत्म-समर्पण करती है। 'परख' में आत्म-समर्पण अव्यवहारिक होते हुये भी असामाजिक नहीं होने पाया है, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में नग्नता बढ़ती गयी है। 'सुखदा' की कथा को राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्तिकारियों के जीवन तक खींच लाने के कारण ही जैनेन्द्र जी उसे यथार्थवादी बना सके हैं, अन्यथा 'व्यतीत' की भांति यह उपन्यास भी स्त्री पुरुष के नैतिक और अनैतिक सम्बन्धों तक सीमित रह जाता। 'सुखदा' का असन्तोष देश-भक्ति में तो बदला, पर 'लाल साहब' के सम्पर्क में आकर वह एक ऐसी कथा का निर्माण करती है जिसके माध्यम से क्रान्तिकारियों के यथार्थ जीवन पर प्रकाश पड़ता है, उनकी सबलतायें एवं दुर्बलतायें स्पष्ट रूप में पाठकों के सामने आ जाती हैं। अपेक्षाकृत जो चित्र इसमें आये हैं, उनमें कलात्मकता और मनोवैज्ञानिक विवेचन का सहारा लिया गया है जिसका 'व्यतीत' में नितान्त अभाव है। इसमें आकर तो नग्नता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है। लेखक ने 'अनीता' और 'चन्द्रकला' का जैसा आत्म-समर्पण 'जयंत' के सामने कराया है, वैसे चित्रण-कला की दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ हों, पर

नैतिक दृष्टि से अवांछित हैं ।

जैनेन्द्र के नारी चरित्रों की यथार्थता को व्यक्ति तक ही सीमित रखा जा सकता है । वह सामाजिक स्वीकृति का अधिकारी नहीं है । जैनेन्द्र द्वारा चित्रित स्त्रियों जैसी समाज में एक दो हो सकती हैं, न कि उनकी बहुतायत है । ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र की नारी दूसरों को शरीर देने के लिये ही बनी है । ऐसा करने में उसे किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता । इसी आग्रह के कारण उनकी नायिकायें व्यक्तित्वहीन और चेतना शून्य हो गई हैं । वे केवल वस्तु हैं जिनका उपभोग कोई भी कर सकता है । एक ओर तो इनकी नारियों में प्रेम करने और शरीर देने का कोई आधार नहीं है और दूसरी ओर पुरुष उन्हें अपने गले पड़ी वस्तु समझता है, वह उनसे छुटकारा पाना चाहता है । 'व्यतीत' में 'अनीता' के ऊपर उसके पति मिस्टर 'पुरी' का जैसे कोई अधिकार ही नहीं और न वे इसके इच्छुक ही जान पड़ते हैं । 'अनीता' बहन रूप में रहकर भी अन्त तक जयंत को रक्तदान देने के लिये उत्सुक है, जिसे वह स्वीकार भी कर लेता है । ऐसे सामाजिक सम्बन्धों के औचित्य पर तो प्रश्नवाची चिह्न लगा ही है, पर आए दिन ऐसी घटनाएँ समाज में घटती हैं इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में जिस भारतीय 'नागरिक-संस्कृति' का निर्माण हो रहा है, उसे दृष्टि में रखते हुये सहसा ऐसे वर्णनों को यथार्थ कह देना कठिन है । एक विशिष्ट समाज में तो आज विवाह और प्रेम को अलग-अलग देखने का प्रचलन-सा होता जा रहा है । पति और पुरुष मित्र तथा पत्नी और महिला मित्र को समाज में नैतिक स्तर दिलाने की भरपूर कोशिश हो रही है, जिससे सामाजिक जीवन (Social life) और व्यक्तिगत जीवन (Private life) जैसी दो स्वतंत्र सत्ताओं की स्वीकृति-सी मिलती जा रही है । अतः 'विवर्त्त' में यदि जैनेन्द्र जी ने ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है तो उन्हें समीचीन ही कहा जा सकता है । यदि 'भुवन मोहिनी' जितेन से प्रेम करती हुई जो कि पर-पुरुष है—पत्नी-धर्म का पूरा-पूरा निर्वाह करती है तो असंगत नहीं कहा जा सकता । इतना अवश्य है, कुछ प्रसंगों की सृष्टि में जैनेन्द्रजी को अधिक संयत होने की आवश्यकता थी, जिन्हें कलात्मक भाषा नहीं मिल पाई है ।

प्रेमचन्द और उनके युग के प्रभावित सामाजिक उपन्यासों और जैनेन्द्रकुमार के सामाजिक उपन्यासों में मौलिक भेद दिखाई पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों की चिंतन भूमि और रचना प्रक्रिया में महान अन्तर है । एक के पात्रों के सम्मुख समाज की समस्या है—जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है और दूसरे के पात्रों के सम्मुख व्यक्ति विशेष की समस्या है, जिसका प्रभाव अधिक से अधिक उसके सम्पर्क

में आने वाले व्यक्ति अथवा परिवार तक ही सीमित है। प्रेमचन्द जी की 'समस्याओं' को हल कर लेने से सम्पूर्ण समाज की समस्या हल हो जाती है तो जैनेन्द्रजी की समस्या के हल से केवल कुछ व्यक्तियों की समस्या का समाधान मिलता है, जो विद्रोह कर रहे हैं। यद्यपि जैनेन्द्रजी की औपन्यासिक समस्याओं को व्यापक सहानुभूति नहीं मिल सकी है, पर उनके अन्दर व्यक्ति को रुला देने की अपार शक्ति भरी है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र जी हिन्दी-कथा-साहित्य में एक ऐसी विचारधारा के प्रवर्तक हैं जिसकी प्रवाहमान धारा से अनेक स्रोत फूटकर स्वतंत्र सरिता का रूप धारण कर बैठे हैं। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक इतिहास लिखते समय एक भी इतिहासकार ऐसा नहीं होगा जो जैनेन्द्र जी के ऐतिहासिक महत्त्व की उपेक्षा कर सके।

———

डॉ० रणवीर रांग्रा

जैनेन्द्र के उपन्यासों का मूल स्वर

जैनेन्द्र हिन्दी-जगत् में एक पहेली के रूप में आये। ये पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने हिन्दी के पाठक को घिसी-पिटी नैतिकता की संकीर्णता से निकाला। यही नहीं, उसे मूल नैतिकता तक पहुँचाने वाले गहरे आत्म-चिन्तन की ओर सबसे पहले प्रवृत्त करने का श्रेय भी इन्हें ही है। जैनेन्द्र तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-उपन्यास के पाठक को सामाजिक मूल्यों की अपनी परख पर जो एक प्रकार का विश्वास हो गया था, जैनेन्द्र ने आते ही उसे हिला दिया। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों ने 'सु' और 'कु', पाप और पुण्य तथा देव और दानव का जो रूप स्थिर कर रखा था, जैनेन्द्र ने उसे चुनौती देते हुये पाठक से अनुरोध किया कि वह इन सामाजिक मूल्यों के बाहरी रंग-रूप में न उलझा रहकर उनकी आत्मा तक पहुँचने का प्रयास करे।

अपनी चिर-पोषित मान्यताओं को इस प्रकार झुठलाया जाता देख पाठक को झुँझलाहट तो बहुत हुई, पर वह छटपटा कर रह गया, कर कुछ न सका। समाज के प्रचलित मूल्यों की पर्त पर पर्त खोलते हुये उनकी तह में छिपी नैतिकता का जो रूप जैनेन्द्र ने चित्रित किया, पाठक उसकी सत्यता को स्वीकार तो न कर सका, पर उसे यह महसूस होने लगा कि लेखक की चुनौती में कुछ सार अवश्य है, उसने कहीं गहरी चोट की है। पर इससे क्या होता ? परम्परागत संस्कार एकदम तो नहीं धुल जाते। शायद इसीलिये, जैनेन्द्र से भी वही आशा की जाने लगी जो उनसे पहले के उपन्यासकारों से की जाती थी। उपन्यासों में भी प्रचलित विचार-धाराओं के आधार पर जीवन और जगत् की समस्याओं का हल ढूंढ़ा जाने लगा, किन्तु इससे निराशा ही हाथ लगी। चारों ओर से आवाज़ें उठने लगीं। किसी ने कहा : "जैनेन्द्र के उपन्यास पहेली हैं। इस प्रहेलिका पर हम सोचते ही रह जाते हैं; कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाते।" दूसरी आवाज़ ज़रा ऊँची और कठोर थी; "विचार मौलिकता का जो सक्रिय और स्पष्ट स्वरूप हम एक मौलिक विचारक और कलाकार की कृति में देखने को उत्सुक रहते हैं, उसकी आंशिक पूर्ति भी जैनेन्द्र के उपन्यासों द्वारा नहीं हो पाती।" एक आवाज़ उनके नैतिक निरूपण के विरोध में उठी : "नैतिक आदर्शों को जैनेन्द्र के उपन्यासों में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नहीं। उनका दर्शन सामाजिक जीवन के पलायन का दर्शन है।" किसी ने कहा : "जैनेन्द्र के उपन्यासों का अंत

निष्कर्ष विहीन है।" इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रति पाठकों की प्रतिक्रिया व्यक्त हुई।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में सामाजिक जीवन से पलायन की प्रवृत्ति को बल मिलता दीखे तो आश्चर्य न होगा। उनके पात्र सामाजिक जीवन से सदा बचते रहे हैं। भाग्य से अथवा समाज और उसके विधि-निषेधों से टक्कर लेने का दम उनमें नहीं। इसके विपरीत वे नियतिवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं। किसी भी प्रतिकूल स्थिति के प्रति वे विद्रोह नहीं करते; बल्कि बिना मीन-मेख निकाले उसे स्वीकार कर लेते हैं। 'परख' की कट्टो के शब्दों में, पात्र जब यह मान ले कि "अनहोनी घट नहीं सकती, होनी टल नहीं सकती। जो हो गया, हो गया। उसे मिटाना अब बस से बाहर की बात है।"—तो वह बाह्य संघर्ष की ओर प्रवृत्त कैसे हो सकता है? जैनेंद्र के सभी पात्र नियति के बहाव में बहते हैं। श्रीकान्त की चिट्ठी पर विचार करती हुई सुनीता भी यह स्थिर करती है: "मुझे ··नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।" 'विवर्त्त' की भुवनमोहिनी भी जितेन को ढाढस बँधाती हुई कहती है, "घबराओ नहीं। जो हुआ हो गया। होनहार कभी टला है?" जयवर्धन भी अपनी विवशता स्वयं स्वीकार करता है: "मैंने कभी नहीं पाया, विल्बर, कि कुछ मेरे वश का है, तिनका तक उसके हिलाये हिलता है।" इस प्रकार जैनेन्द्र के पात्रों को अपने बाहर जूझने के लिये, संघर्षनिरत होने के लिये, कुछ रहता ही नहीं। बाहरी संघर्ष के कारणों के उपस्थित होते हुए भी वे उनके प्रति आँख मूँद लेते हैं। संघर्ष की चुनौती वे एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं।

असल में बात यह है कि जैनेन्द्र के पात्र माँसल कम और मानसिक अधिक हैं। समाज में रहते हुये भी वे उससे कटे-कटे-से दीखते हैं। समाज के नाम पर उनका काम पड़ता है पति या पत्नी के किसी मित्र या प्रेमी से। जैनेन्द्र की नायिका की मुख्य समस्या यह है कि उसका प्रेमी और पति एक न होकर अलग-अलग दो पुरुष होते हैं। जिससे उसका प्रेम हो जाता है, उससे विवाह नहीं हो पाता और जिससे विवाह हो जाता है उससे प्रेम नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में भीतरी और बाहरी, दोनों प्रकार का घोर संघर्ष पति-पत्नी में चल सकता है, जिससे तंग आकर वे एक दूसरे को मार सकते हैं या विष आदि खाकर स्वयं मर सकते हैं, और नहीं तो घोर मानसिक वेदना से पागल तो जरूर हो गये होते। पर जैनेन्द्र के पात्रों के साथ ऐसा कुछ नहीं होता। उनके चेतन मन में इस विषय को लेकर कोई विशेष संघर्ष नहीं छिड़ता, क्योंकि वे स्थिति को साधारण मानकर उससे मानसिक संतुलन बैठा लेते हैं। वास्तविकता प्रकट हो जाने पर पति उदार हो जाता है और 'विवर्त्त' के नायक नरेश की तरह पत्नी को ढाढस बँधाता हुआ कहता है: "मुँह छिपाने की तुम्हारे लिये कोई बात

नहीं। प्यार का हक़ सबको है। तुम्हारा, मेरा, उसका, सबका, ।" और उसका मार्ग प्रशस्त करते हुए कहता है : "अगर मैं सौ फ़ी सदी तुम्हारा हूँ तो एक फ़ी सदी भी मुझे अतिरिक्त गिनती में मत लो।" सुखदा के पति ने भी तो उसे यही कहा था : "मैं हूँ, यही तुम्हारी दिक्क़त है, है न सुखदा ? आज तुमसे कहता हूँ कि मुझे अपने में मान लो। इस तरह की बातों में मेरा अलग विचार न किया करो।" इसीलिये तो पर-पुरुष से प्रेम करने पर भी जैनेन्द्र की नायिकाएँ अपने पतियों में संघर्ष नहीं उठा पातीं। पति ही जब स्थिति को ज्यों का त्यों स्वीकार कर ले तो संघर्ष कैसे हो ?

जैनेन्द्र की नायिकाओं को भी बाहर संघर्ष के लिये कुछ नहीं रहता। लोकापवाद की उन्हें चिन्ता नहीं। समाज तो मानों उनके लिये अस्तित्व ही नहीं रखता। शेष रहे पति, वे उनके मार्ग में अड़ते नहीं, प्रत्युत् उन्हें प्रोत्साहन देते रहते हैं। फिर भी, जैनेन्द्र की नायिकाएँ जीवन भर मानसिक यातनाओं के कुंड में तिल-तिल करके जलती रहती हैं। बाहर से शांत और स्थिर दीखने पर भी भीतर ही भीतर वे बेहद बेचैन रहती हैं। बाहरी संघर्ष के प्रति उदासीन होने पर भी वे अपने भीतरी संघर्ष से नहीं बच पातीं। उनके भीतर निरन्तर एक हलचल मची रहती है, जो उन्हें सदा बेचैन किये रखती है। पर यह सब क्यों ? माना कि जिससे उनका प्रेम हो गया, उससे विवाह न हो सका और जिससे विवाह हो गया, उससे प्रेम न हो सका। पर जब पति स्वयं ही अपनी पत्नी और उसके प्रेमी के बीच से हटकर उनके लिये रास्ता साफ़ कर दे तो पत्नी के बेचैन रहने का कोई स्पष्ट कारण नहीं रहता। 'विवर्त' की भुवनमोहिनी जैसी स्त्री जो बिना किसी प्रकार के संकोच या डर के विश्वासपूर्वक अपने प्रेमी से यह कह सकती हो कि, 'मैं सब कुछ तुम्हारी हूँ और पति की केवल पत्नी,' यदि वह भी मानसिक यातनायें भोगती हुई घुल-घुलकर मरती रहे तो आश्चर्य ही होगा।

कुछ भी हो, सच यही है कि पतियों से आश्वासन पाकर भी जैनेन्द्र की नायिकाएँ आश्वस्त नहीं हो पातीं। पतिव्रता नारी के पम्परागत संस्कार उनके अवचेतन मन पर इतने गहरे पड़े हैं कि वे पति के प्रति उदासीन होने और प्रेमी की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने के विचार तक से ही अपने को अपराधी पाती हैं और लाख चेष्टा करने पर भी अपने को पति से अलग नहीं कर पातीं। हरीश दादा द्वारा बुलाई गई क्रांतिकारी दल की एक बैठक में भाग लेने के लिए घर से चलते समय सुखदा ने पति से ये शब्द कहे थे, "स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी दायित्व रखती है। मैं इस सभा में जाऊँगी। तुम रोक नही सकते।" जिस सुखदा को अपने पर इतना विश्वास था, जब उसी सुखदा को बैठक में हरीश से यह कहते सुनते हैं, "मैं तो साथ हूँ, पर पदाधिकारी न बनावें। और अभी, 'उन' से पूछना भी बाक़ी है।"

समर्पित कर देने की सीमा पर आ जाती हैं, तब उनकी अंतरात्मा—(कांशेंस) यानी, पातिवृत्य-सम्बन्धी सामाजिक संस्कार—उन्हें पति के प्रति विश्वासघात करके स्वयं अपनी ही नजरों में गिरने नहीं देती और उनका समर्पण होता-होता सहसा बीच में रुक जाता है।

इस प्रकार, एक लंबे समय तक उनके अचेतन में उनकी अंतरात्मा (कांशेंस) और काम-वासना में घोर संघर्ष चलता रहता है। यद्यपि अधिकतर उनकी अंतरात्मा ही प्रबल रहती है, पर वह काम-प्रवृत्ति को पूरी तरह शासित नहीं रख सकती। इस घोर मानसिक संघर्ष का परिणाम यह होता है कि जैनेन्द्र की नायिकाएँ पति तथा प्रेमी, दोनों से ही कटी-कटी रहती हैं। अपने में सिमटकर वे अपने को शून्य बना लेती हैं और वह शून्य उन्हें भीतर ही भीतर काटता रहता है। पर 'नितान्त एकाकी रहकर किसी को कैसे सुख मिल सकता है?' वे ताड़ के पेड़ की तरह ऊँची तनकर अकेली न खड़ी रह सकीं। "उनके भीतर तक व्याप्त एक से दो होने की माँग" अन्ततः उन्हें प्रेमी के प्रति समर्पित होने के लिये मजबूर कर देती है। समर्पण में उनका अहं टूट जाता है और वे विराट् में विदेह बनने के लिए मचल उठती हैं, मानों अपने स्रष्टा का यह अनुभूत सत्य उन्होंने भी पा लिया हो कि "ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान-लाभ है, आत्मार्पण में ही आत्मोपलब्धि है, आग्रहपूर्ण संग्रह में लाभ नहीं," और 'उनके भीतर का बिछुड़ा खण्ड अखण्ड से ऐक्य के लिए तड़प उठता है।'

यही है जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन और उनके उपन्यासों का मूल स्वर। पर जैनेंद्र के उपन्यास और उनके पात्र अपने स्रष्टा के जीवन-दर्शन को इतना खुलने कहाँ देते हैं? उनके पात्रों का तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है और उसके संकेत-सूत्र उपन्यास भर में बिखरे भी नहीं रहते, प्रत्युत नाना रूप धारण कर पाठकों को भरमाते भी रहते हैं। इसीलिये समूचा उपन्यास पढ़ चुकने पर भी कई बार पाठक हाथ मलता रह जाता है।

———

कुमारी वीणा सेठ

उपन्यासकार जैनेन्द्र

मानवीय अन्तरात्मा के सफल चित्रकार जैनेन्द्रकुमार के साहित्य से आज हिंदी जगत में कोई भी अपरिचित नहीं रह गया है। सच पूछा जाये तो व्यक्ति की मनःस्थिति का इतना बारीक, सफल और सशक्त अध्ययन करने और उसको मनोविज्ञान की कसौटी पर घिसकर परखने वाला प्रथम उपन्यासकार हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्र ही हैं। उनकी समस्त रचनाओं में मानव मन के अन्तर्जगत की कथा निहित है, उसके मनोलोक की उथल-पुथल और भावों के उतार-चढ़ाव का चित्रण है। परिस्थिति की असाधारणता या घटनाओं का जोड़-तोड़ और फैलाव वहाँ नहीं है, वरन् भावक्षेत्र के सशक्त पात्रों का चित्रण ही सर्वत्र प्रमुखता पाता रहा है।

परख, तपोभूमि, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त आदि जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यास हैं। इन सभी में जो विशेषता हमें देखने को मिलती है, वह है 'अन्तः-संघर्ष' जिसको कि उन्होंने विभिन्न पात्र खड़े कर अपने कथानकों में उभारा है। सुनीता की भूमिका में वह स्वयं लिखते हैं—"इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन भी करा सकते हैं।" और सचमुच ही जैनेन्द्र ने अपने पूरे साहित्य में अपने आस-पास के जीवन से ही अपने उपन्यासों के लिये सामग्री जुटा ली है और शायद उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यही है कि उनकी कथा, उनके पात्र, उनका चित्रण किसी काल्पनिक या आदर्श संसार का नहीं है, वरन् हमारी नित्यप्रति की जीवन समस्याओं का है, हमारी हृदय की धड़कनों का और हमारे दिल की गहराइयों में उतरते-चढ़ते भावों और विचारों का है।

उपन्यास ही नहीं, जैनेन्द्र की कहानियों में भी हमें उनकी यही विशेषता परिलक्षित होती है। उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं—'फांसी', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या', 'एक रात', 'दो चिड़ियां', 'पाजेब', 'जयसंधि' आदि···। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र जी के कई निबंध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं।

जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य काल और देश की सीमाओं से ऊपर उठकर व्यक्ति में समा गया है। वही केन्द्र बिन्दु और वही प्रेरणा का सूत्र बन कर रह गया है। जैनेन्द्र जी स्वयं लिखते हैं—"देशकाल के चौखटे में देखी भोगी गई घटना अपने

आप में सत्य है भी तो नहीं। वह तो अनित्य है, क्षणिक है। इसमें उनमें फेरफार कर देने से सत्य की क्षति नहीं होती।" इसीलिये वे किसी समाज या समूह का चित्रण नहीं करते, वरन् केवल व्यक्ति और व्यक्ति की मनोभावनाओं में खोकर रह गये हैं। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के संघर्ष के परिणामस्वरूप जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और उस समय जो उसके मन की वास्तविक स्थिति होती है, उसी का चित्रण करने में उन्होंने अपनी कला को निखारा है। इसका बहुत कुछ कारण यह भी है कि जैनेन्द्र की स्वयं की भावना व्यक्तिगत है, एकांतिक है। उन्होंने स्वयं उन दुखों, उन कठिनाइयों और समस्याओं का अनुभव किया है जो व्यक्ति के मर्म को छूती हैं, और एक मार्मिक वेदना और तीव्र संघर्ष अन्तःकरण में व्याप्त कर देती है। मध्यवर्गीय परिस्थिति किस प्रकार निराशा, कुंठाजन्य भावों से ग्रसित है, किस प्रकार उसके जीवन को दुखमय बना देती हैं, यही अनुभव उनकी सभी कृतियों में उभर कर आया है। और सच पूछा जाये तो उन्होंने अपने भीतर के कुण्ठाभाव को बाहर निकाल फेंक, दिल हलका करने और आत्मपरिष्कार के निमित्त ही साहित्य लिखना आरम्भ किया। इसे वे स्वयं ही स्पष्ट करते हुये लिखते हैं—"पहला श्रेय मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मेरी रक्षा की। मैं बचकर उसमें शरण ले सका, उसने मुझे जिलाया। अपने भीतर की आत्मग्लानि, हीन भावनाएँ और उनमें लिपटी हुई स्वप्नाकांक्षा इस सबको कागज पर निकाल कर जैसे मैंने स्वास्थ्य का लाभ किया। जो मेरे अन्दर घुट रहा था उसी को बाहर निकालने की पद्धति से देखा कि मैं उससे मुक्ति पा रहा हूँ। उसके नीचे न रहकर उसके ऊपर आ रहा हूँ। जो कमजोरी थी, और मुझे कमजोर कर रही थी, उसी को स्वीकार करके और रूप और आकार पहनाकर, मैं कमजोर क्या, मजबूत बन रहा हूँ। इस अनुभव से मैं कहूंगा कि साहित्य का पहला श्रेय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरंगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शांति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकत्रितता।"

सचमुच ही जैनेन्द्र का उपरोक्त कथन उनके सारे साहित्य पर लागू होता है। उनके समस्त उपन्यासों का केन्द्र बिन्दु 'व्यक्ति' ही है, समाज या राष्ट्र नहीं। वे क़दम-क़दम पर अपने पाठकों को स्पष्ट कर देते हैं"······जो कुछ मेरे पास रहा है, बाहर को देखना, बुद्धि का विचारना और मन का चाहना सब कुछ घुलमिल गया है और किसी एक अनुभूति के कण के चारों ओर जुड़ कर कहानी की रचना कर देता है।"

वास्तव में उनके सभी उपन्यासों की कथाएं सूक्ष्म हैं और पात्र भी गिने-चुने ही हैं। उन्होंने कथा केवल कथा कहने मात्र के लिये नहीं कही और न ही केवल

क्षणिक मनोरंजन करा देना ही उनके साहित्य का उद्देश्य है, वरन् उसमें जीवन का संदेश है, एक उद्देश्य है, लक्ष्य है। उनका एक-एक पात्र हमारे सम्मुख एक उद्देश्य लेकर आता है और जैनेन्द्र सुसंगठित एवं क्रमिक कथाओं के बीच रूढ़ियों और आदर्शों का खंडन करते हुये जीवन के निरन्तर और वास्तविक सत्य को हमारे सम्मुख स्थापित कर देते हैं। इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि उनके उपन्यास कोरे चिन्तन के बोझ से बोझिल हो गये हैं और उनमें कोई रस नहीं है, कथा नहीं है। निसन्देह कोरी कथा का वहाँ अभाव है, किन्तु व्यक्ति की मानसिक भावनाओं के चित्रण और उसके जीवन की नित्य प्रति की समस्याओं को लेकर उसने पाठकों से एक अपनत्व स्थापित कर लिया है। विवाह, प्रेम, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, हिंसा-अहिंसा और घर व बाहर की नित्यप्रति के जीवन की समस्याओं को जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया है और उन समस्याओं से पीड़ित ऐसे पात्र खड़े कर दिये हैं कि पाठक को लगता है जैसे कि उसके दुःख, उसके सुख, उसकी अनुभूति और उसके द्वंद्व को ही लेखक ने अपनी कथा में चित्रित कर दिया है। और वह और भी उत्सुकता और रुचि से उसमें खो जाता है अपनी समस्याओं का निदान पाने को, अपने दुख को हल्का करने को और जीवन की खुशियाँ बटोरने और नई व सही राह पाने को।

यूँ तो लेखक के प्रत्येक उपन्यास में ही किसी न किसी रूप में इन समस्याओं को उठाया गया है और उसका निबन्धन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है, लेकिन 'सुखदा' लेखक की उपन्यास कला की ओर इन समस्याओं को मुखरित करने के क्षेत्र में प्रधान रचना कही जा सकती है। उदाहरणार्थ हम यहाँ इसी की कथा लेते हैं—जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की तरह इस उपन्यास की कथा भी थोड़ी है। बीमार क्षयग्रस्त सुखदा अस्पताल में पड़ी अपनी कहानी स्वयं कहती है। कथा इस प्रकार है। सुखदा एक सम्पन्न घराने में लाड़ों में पली लड़की है, जिसका कि विवाह उसके पिता के परिवार से कम स्तर वाले घराने के एक व्यक्ति से होता है। प्रारम्भ में कुछ वर्ष पति के प्रेम और प्रणय में मुग्ध हो दिन बीत जाते हैं, किन्तु धीरे-धीरे जीवन की वास्तविकताओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण के कारण पति-पत्नी के बीच वैमनस्य बढ़ता जाता है। इसी बीच एक और घटना घट जाती है जिससे कि सुखदा के जीवन में नया परिवर्तन आ जाता है। गंगासिंह नामधारी एक युवक नौकरी करने के लिये इनके घर आता है और फिर अचानक ही एक दिन काम छोड़ कर चला जाता है। सुखदा को इस बीच उसके किसी क्रांति-कारी दल से सम्बन्धित होने के सम्बंध में संशय हो जाता है जो कि कुछ दिन बाद ही उसके अखबारों में चित्र सहित समाचारों से पुष्ट हो जाता है और वह व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया जाता है।

सुखदा पर इस घटना का इतना असर पड़ता है कि उसे घर का जीवन बिल्कुल बेकार नज़र आने लगता है और यहाँ तक कि पति का जीवन भी उसे अर्थहीन नज़र आता है और वह सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट होने के लिये उतावली हो जाती है और बाह्य क्षेत्र में काम करके अपने व्यक्तित्व का सिक्का सब पर जमा देना चाहती है। सुखदा के ही मुख से...... 'मेरा भी अपना दायरा बना और फैला—जी में था कि देखूँ और दिखाऊँ कि मैं क्या हो सकती हूँ, कि मैं क्या हूँ घर की दासी जो स्त्री बन सकती है, वह मैं नहीं हूँ।' और धीरे-धीरे सुखदा ने बाह्य-जीवन में अपने पैर जमा लिये। वह क्रान्तिकारी संघ की उपाध्यक्षा बन जाती है। सार्वजनिक सभाओं में खूब आना-जाना व भाषण आदि करना भी शुरू कर देती है। इसी समय यहाँ पर उसका परिचय लाल से होता है और बरबस ही वह उसके स्वतंत्र और प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा रहस्यात्मक चरित्र के प्रति आकर्षित हो जाती है। सुखदा के पति को लाल पसन्द नहीं है, फिर भी वह सुखदा के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता और सुखदा और लाल के मार्ग से हट जाता है। वह सुखदा को यह कभी अनुभव नहीं होने देता कि वह विवाहिता होने के कारण लाल से प्रेम नहीं कर सकती और वह अपनी सहृदयता दिखाते हुए उसे पूर्ण स्वतत्रता दे देता है। उधर लाल और संघ के नेता हरीश में जो कि सुखदा के पति का दोस्त भी है मतवैभिन्य हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप हरीश संघ का विघटन कर देता है। सुखदा एक बार फिर घर लौट जाती है, किन्तु फिर घर में लड़ाई-झगड़े और पति से न बनने के कारण क्रुद्ध हो जाती है और अपनी मां के पास चली जाती है।

इस प्रकार सुखदा का समस्त वातावरण नैराश्य और कुण्ठा की भावनाओं से आक्रान्त है। यूँ तो एक तरह से सुखदा में क्रांति की कथा का वर्णन हुआ है, किंतु क्रान्ति का गौरव कोई विशेष प्रकट नहीं होता। हाँ, सुखदा के जीवन में बाह्य क्षेत्र में निकल पड़ने की जो विचारों की क्रान्ति आ जाती है और जो कुछ उस क्रान्ति के वशीभूत हो वह कर जाती है, उस द्वन्द्व का चित्रण बहुत ही स्वाभाविक व सफल बन पड़ा है। सुखदा आधुनिक नारी की ऐसी प्रतीक है जो जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहती है। अपने व्यक्तित्व को विकसित करना चाहती है। समाज में प्रतिष्ठा पाना चाहती है। अपना स्वतंत्र, स्वच्छन्द और मन पसन्द जीवन व्यतीत करना चाहती है। उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहती। केवल अपनी ही जीत और अपना ही यश सर्वत्र व्याप्त करना चाहती है। सुखदा भी तो कहती है—"मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण मैं क्या चाहती थी? शायद मैं जीतना चाहती थी। हर किसी से जीतना चाहती थी। क्या कहीं हार का भाव भी था कि जीत की चाह इतनी आवश्यक हो गई थी—वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम, लेकिन दुर्दम कर्त्तव्य के संकल्प

मेरे मन में सहसा चारों ओर से फूट कर लहक उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति की सब मर्यादाओं और बाधाओं को तोड़ कर ऊपर चलना होगा, ऊपर, ऊपर। कुछ मुझे रोक न सकेगा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे जो है सब तुच्छ है, सब शून्य है, मेरी उद्दामता के आगे सब विवश हो गया है। उस समय मेरे स्वामी, जड़ित और चकित मुझे अपदार्थ लग आये।" दूसरी ओर सुखदा नारी के प्राकृतिक रूप की प्रतीक है, जो कि अपना घर चाहती है, उसके बन्धन चाहती है, पत्नीत्व चाहती है, गृहणीत्व चाहती है, मातृत्व चाहती है, बाहर रहते हुये भी घर के बन्धन चाहती है, स्वामित्व चाहती है। बन्धनों को तोड़ कर भी उसमें बंधना चाहती है। उसका पति आसानी से उसे लाल से मिलने की छूट दे देता है। किसी भी प्रकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं बनता, यह बात सुखदा के नारी हृदय को भाती नहीं—"स्वामी ने प्रतिरोध नहीं किया। प्रतिरोध उन्हें करना चाहिये था। स्त्री को राह देना, उसे न समझना है। गति वह उतनी नहीं चाहती जितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में दूसरे का अपने पर स्वत्व शायद स्थायित्व भी चाहती है। वह न आकर पुरुष की ओर से निपट अनुमति आती है तो इस पर स्त्री का क्षोभ सीमा लाँघ जाता है।"

सच तो यह है कि सुखदा में आधुनिक नारी के हृदय का द्वन्द्व है, जो बंधनों और घर के साथ-साथ स्वच्छन्दता, स्वतंत्रता, प्रेम और प्रतिष्ठा भी चाहती है। इस प्रकार सुखदा में आधुनिक नारी के इस मानसिक द्वन्द्व का चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है। यह स्वरूप उपन्यास में इतना निखरा हैं कि उसके सम्मुख उसके अन्य रूप फीके से ही दिखाई देते हैं और यह इस प्रकार जहाँ 'सुखदा' एक ओर नारी के बाह्यक्षेत्र की कहानी कहती है, वहाँ उसके घर के जन्म-जन्म के लगाव की भावना को सुरक्षित रख लेती है। भारतीय नारी के पत्नीत्व-गृहणीत्व और मातृत्व के आदर्श को स्थापित कर देती है, उनका एक स्थान निश्चित कर देती है। यही क्यों, सुखदा यह सत्य भी स्थापित कर देती है कि नारी चाहे कितने ही बन्धनों को तोड़ कर घर से बाहर आ जाये, चाहे वह कितनी ही प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता क्यों न पा ले, किन्तु उसका वास्तविक सुख उसे घर में ही मिल सकेगा। उससे दूर जाकर वह भले ही सारे संसार को जीत ले, भले ही दुनिया भर की स्वतंत्रता, यश और प्रतिष्ठा पा ले, किन्तु अपने को, अपनी भावनाओं को, वह नहीं जीत सकती। वह उस प्यार, अपनत्व और नारीत्व के बिना मन का चैन नहीं पा सकती। नारी की यही समस्या 'सुनीता' और 'विवर्त' की कथा में चित्रित की गई है। सुनीता में भी घर और बाहर के संघर्ष में घर की विजय दिखाई गई है। 'विवर्त' में यूँ तो लेखक ने हिंसा और अहिंसा के प्रश्न को ही प्रमुख रूप से उठाया है, किन्तु सुखदा की भाँति इसमें भी घर और बाहर का

संघर्ष आ गया है। इस प्रकार यहाँ एक ओर जहाँ प्रेम की हिंसा-भाव पर विजय दिखाई गई है, वहाँ नारी की सार्थकता उसके घर में ही है, इस बात की भी पुष्टि कर दी गई है। 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में लेखक ने नारी जीवन की अनेक समस्याओं को उभारा है। 'परख' में जो कि जैनेन्द्र जी का प्रथम उपन्यास है, वैधव्य और प्रेम के प्रश्न को उठाया गया है। इस प्रकार उपन्यासकार जैनेन्द्र ने जीवन की विभिन्न समस्याओं और अनुभूतियों को ही मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसकर अपने उपन्यासों में उभारा है•।

जैनेन्द्र के अधिकांश पात्र व्यक्तिवादी हैं, क्योंकि उनके उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। जीवन में आज कितनी निराशा है, व्यक्ति कितना अप्रसन्न है, कितना दुःखी है। किस प्रकार समाज की परम्परागत मान्यताएँ उसके विकास में बाधक हैं, जैनेन्द्र ने अपने पात्रों के मानसिक उथल-पुथल को लेखनी-बद्ध कर स्पष्ट कर दिया है। इनके अधिकांश नारी और पुरुष पात्र विवादग्रस्त व असहाय अवस्था में चित्रित किये गये हैं जिससे कि दुःखी होकर वह संसार से ही विरक्त हो जाते हैं। मृणाल अपने जीवन की अपार व्यथा को लिये हुये ही इस संसार से सदा के लिये कूच कर जाती है। सुखदा क्षयरोग से पीड़ित हो अस्पताल में दिखाई देती है और कल्याणी तो अपनी वेदना के कारण सदा-सदा के लिये ही मूक होकर रह जाती है। उनके हर पात्र में जीवन के प्रति घोर निराशा का भाव चित्रित होता है। हरिप्रसन्न सुनीता से अप्रसन्न होकर पलायन का पथ पकड़ता है और सर एम० ए० दयाल जजी से त्यागपत्र दे साधु बन जाता है। सुखदा में जैनेन्द्र के नारी पात्रों के समान करुणा की अपेक्षा अहमन्यता अधिक है, जिसके कारण कि वह पति के साथ भी नहीं रह सकती, किन्तु बाद में वह ही पश्चात्ताप की अग्नि में जलती है, जिससे कि उसका चरित्र और भी निखर आया है। सुखदा में यदि 'अहंभावना' प्रधान है तो पति में समर्पण। दोनों के दो विरोधी स्वरूपों को जैनेन्द्र जी ने सफलता पूर्वक चित्रित किया है। उसके पति के ये शब्द पाठक के हृदय को छूते हैं और उसके हृदय की विशालता को परिलक्षित करते हैं कि वह विवाह को एक बन्धन नहीं मानता—"तुम्हारा मुझसे विवाह हुआ है, हरण नहीं। विवाह में जो दिया जाता है, वही आता है। पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो, सुखदा! स्वतंत्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे ख्याल से रोक-टोक की भावना मुझ पर आरोप डालना है। मुझसे पूछो तो तुम्हें अपने में प्रति-रोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

उसकी इस अभिव्यक्ति से, इन विचारों से हमें लेखक के विस्तृत दृष्टिकोण का आभास मिलता है जो कि निश्चय ही आधुनिक युग के अनुकूल है। उन्होंने अपने

सभी पात्रों को सम्पूर्ण सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। श्रेष्ठ या असद् पात्र में उन्होंने कोई अन्तर नहीं रखा है। वह स्वयं कहते हैं—"सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ पर यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थान पर समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनियाँ में कौन है जो बुरा होना चाहता है, और कौन है जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है। न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम ही और पशु से ऊपर ही। इस तरह किसे अपनी सहानुभूति देने से इन्कार कर दिया जाये।"

सचमुच ही एक श्रेष्ठ उपन्यास की तरह उन्होंने अपने सभी पात्रों को समान सहानुभूति दी है और सर्वत्र इस दृष्टिकोण को अपनाया है।

प्रायः उनके सभी पात्र एक ही स्तर की भाषा का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। वही छोटे-छोटे वाक्य, अटूट प्रवाह और बहता रस, सरस और सरल वाक्यों में गुथी सुसंगठित कथा को कहते उनके पात्र दिखाई देते हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों ही गुणों में उनकी शैली मंडित है। भाषा तो सर्वत्र ही सरल और भावानुकूल है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों की भाषा को देश-विदेश की सीमित शृंखलाओं में भी बंधने नहीं दिया है। जैसी आवश्यकता पड़ी, वैसी ही भाषा का प्रयोग कर लिया। बंगाली, उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने पात्रानुकूल कर दिया है। यही नहीं, चिन्तनशील पात्रों के चित्रण में गम्भीर शैली का प्रयोग करके भी उन्होंने स्वाभाविकता लाने की चेष्टा की है। अपनी रोचक शैली और सुबोध भाषा से ही उन्होंने गम्भीर विषयों को भी सरल बना दिया है।

भाषा की तरह जैनेन्द्र ने रोचक, उद्देश्यपूर्ण, सरस एवं सरल कथोपकथनों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। कथा को आगे बढ़ाने में वह सर्वथा सहायक होते हैं और पात्रों के चरित्र को चित्रित करने में सहायक होते हैं। यही क्यों, कथोप-कथन में नाटकीयता का तत्व भी उनके प्रत्येक उपन्यास में देखने को मिलता है।

कथाविन्यास की दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यास यदि देखे जायें तो सब तरह से पूरे उतरते हैं और यदि यह कहा जाये कि मानव मन के चित्रण में उन्होंने जो सफलता प्राप्त की है, वह अन्य किसी उपन्यासकार ने नहीं, तो कुछ अनुचित न होगा। हाँ, पात्रों में अत्यधिक पीड़ा, दुःख, क्षोभ और वैराग्य की भावना चित्रित करने से आलोचकों ने जैनेन्द्र ही पर साहित्य में नैराश्य का प्रतिपादन करने का दोष लगाया है। यही नहीं, उनके पात्रों के संसार से विरक्ति के भाव को लेकर भी उन पर पलायन-वादिता का दोष मढ़ा जाता है, किन्तु वास्तव में यह आक्षेप उचित नहीं। मानसिक जगत के जिन द्वन्द्वों का चित्रण जैनेन्द्र ने किया है, वह वास्तविक यथार्थ है और

यही कारण हो सकता है इन आक्षेपों का कि जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के यथार्थ को चित्रित किया है, यथार्थ हमेशा कटु होता है, कष्ट देने वाला होता है और मानसिक धरातल का नैराश्य तो उसी समय होता है, जबकि व्यक्ति को अपने लक्ष्य की प्राप्ति न हो, किन्तु उनका व्यक्ति उससे निष्क्रिय तो नहीं होता। वह निरन्तर आगे बढ़ने की कोशिश करता है। और फिर, जैनेन्द्र तो परमात्मा में विश्वास रखते हैं, नियतिवादी हैं, समाज ही रूढ़ियों के प्रति विद्रोह दिखाने के लिये ही वह अगर प्रमोद जैसे पात्रों से जजी से त्यागपत्र दिलवा देते हैं तो इसको हम पलायनवादिता नहीं, वरन् समाज के प्रति विद्रोह, उसकी रूढ़ियों के प्रति एक आवाज कह सकते हैं। हाँ, प्रत्येक उपन्यासकार की अभिव्यक्ति का अपना अलग एक रूप होता है, ढंग होता है और जैनेन्द्र ने अगर भावात्मक संसार को लेकर उसके ढंग में ही अपने मत की अभिव्यक्ति की तो उस पर आक्षेप का सवाल ही नहीं उठता।

———

डाक्टर रामचरण महेन्द्र

कहानीकार जैनेन्द्र

प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में श्री जैनेन्द्रकुमार विशेष उल्लेखनीय और साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त हिन्दी कहानीकार हैं, जिन्होंने यथेष्ट लोकप्रियता प्राप्त की है तथा जो विशेष अध्ययन की वस्तु माने गये हैं।

जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक का सौन्दर्य नहीं है। वे साधारण स्तर के पाठकों का ऊपरी मनोरंजन मात्र नहीं करते। केवल दिलचस्पी मात्र के लिए उन्होंने कहानियाँ नहीं लिखी हैं। वे मूलतः एक विचारक हैं। उनमें मौलिक विचारों तथा नवीन रीति से चिन्तन का महत्व है। प्रत्येक रचना में किसी अनुभूति की कोई मार्मिक चोट होती है। उनकी सृष्टि मौलिक चिन्तन की गहराई से निकलती है। वे विचार पूर्ण हैं।

एक आलोचक के शब्दों में, "मानव-जीवन और मानव मन को लेकर जब वे विचारते हैं या उनके वैचारिक भंवर में जीवन और मन फंसाते हैं—यह कहना कठिन है, क्योंकि जीवन में घटनाएँ घटती रहती हैं और मन में तदनुरूप अल्प या अधिक परिमाण में उनकी प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं, किन्तु जैनेन्द्र के विचार-प्रवाह में घटनाओं का आघात उतना तीव्र नहीं है, जितना मन की प्रतिक्रियाओं का। इसका मुख्य कारण यह है कि घटनाओं के पहले भी उनका विचार-क्रम जारी रहता है और पीछे भी। हाँ, घटनाओं के सम्पर्क से चिन्तन की गति कुछ तीव्र हो जाती है। जैनेन्द्र के पात्र उनके विचार-प्रसूत लगते हैं। पात्रों की सृष्टि के बाद उनकी चरित्र-विचित्रता और विशेषता के कारण कोई विचार सूत्र निकलता हो—इसका बहुत कम आभास होता है।"

जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता है। मनोविज्ञान उनकी आधार शिला है। इन चिन्तन और दार्शनिक तत्त्वों पर ही जैनेन्द्र कहानियाँ लिखते हैं। यही कारण है कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र जी पहली बार आये थे, तो एक क्रान्तिकारी के रूप में उनका स्वागत हुआ था। यह नूतन दिशा की ओर एक प्रयोग था। जैनेन्द्र जी ने अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचय "एक रात" की भूमिका में पृष्ठ ४ पर इन शब्दों में दिया है—

"मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र लौकिक हो, जो सम्पूर्णता

से शारीरिक धरातल पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है, जो सपने देखता है। सबके भीतर आत्मा है जो जागती रहती है, जिसे शास्त्र छूता नहीं हैं, आग जलाती नहीं है। सबके भीतर वह है, जो अलौकिक है। मैं वह स्थल नहीं जानता, जहाँ अलौकिक न हो। जहाँ वह कण है, जहाँ परमात्मा का निवास नहीं है ?

इसलिए आलोचक से मैं कहता हूँ कि जो अलौकिक है, यह भी कहानी तुम्हारी ही है, तुमसे अलग नहीं है। रोज के जीवन में काम आने वाली, तुम्हारी जानी-पहचानी चीजों का और व्यक्तियों का हवाला नहीं है, तो क्या उन कहानियों में तो वह अलौकिक है, जो तुम्हारे भीतर अधिक तहों में बैठा है। जो और भी घनिष्ट और नित्य रूप में तुम्हारा अपना है।''

उपर्युक्त उदाहरण से जैनेन्द्र के समग्र साहित्य की मूल प्रेरणा के आधार-भूत तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। उनका व्यक्तित्व गहन गम्भीर दार्शनिकों जैसा है। कहानी के माध्यम में भी उनकी मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता के अनेक तत्त्व पूरी तरह फैले रहते हैं। धर्म, नीति और ज्ञान के निष्कर्ष उनकी कहानियों से अनायास ही निकाले जा सकते हैं। कहीं-कहीं तो उनका यह दार्शनिक रूप इतना स्पष्ट हो गया है कि मनोरंजकता और रोचकता तक को हानि पहुँची है। प्रो० प्रेमचन्द के शब्दों में यह कहना उचित ही है कि ''मनोविज्ञान की दृष्टि से जैनेन्द्र पर आध्यात्म-वादी रंग अधिक चढ़ा हुआ है, जबकि अज्ञेय जी पर फ्रायड का। इसी से एक ने जीवन को कर्म के आलोक में देखा है, दूसरे ने काम के दर्पण में; एक ने आत्मा की भूख को लिया है, दूसरे ने शरीर की तृष्णा को।

जैनेन्द्र-स्कूल के कहानीकारों ने नारी को भी उसकी आन्तरिक समस्याओं के बीच से उठाया है। प्रसाद ने नारी के भव्य और आदर्श रूप को प्रस्तुत किया तो इन्होंने उसके अभाव-ग्रस्त प्रपीड़ित अन्तर को। भारतीय रूढ़िग्रस्त परम्पराओं की शृंखला से जकड़ी हुई नारी की आत्मा उनमें कराह उठी है, पर जहाँ "अज्ञेय" भारतीय नारी के विद्रोही रूप को देखना चाहते हैं, वहाँ जैनेन्द्र केवल सहानुभूति के अंचल से उसके आँसू भर पोंछना चाहते हैं। भगवतीचरण वर्मा नारी के परवश रूप को ही अधिक प्रस्तुत कर सके हैं। अपनी कहानियों में जहाँ भगवतीबाबू चिन्तन प्रसूत व्यंगकार अधिक हैं. वहाँ, "अज्ञेय" चिन्तनशील अहंवादी तथा जैनेन्द्रकुमार चिन्तनप्रधान भावुक हैं।

अपनी चिन्तनशील भावुकता के कारण ही जैनेन्द्र जन साधारण तक उतने व्यापक रूप में नहीं पहुँच पाये, जितने कि प्रेमचन्द। विचार-प्रधानता के कारण जैनेन्द्र किसी शिल्प-विधान की चिन्ता नहीं कर सके, पर उनकी शिल्प विहीनता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा अपनापन है, उनकी कला हीनता की सबसे बड़ी

कला है। मनोरंजन नहीं, विचारों का उत्प्रेरण ही उनका सबसे बड़ा लक्ष्य है।"

चरित्र-चित्रण की गहराई और विचार प्रधानता जैनेन्द्र की कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। वे अपनी कहानी के ढाँचे में मौलिक विचार भर देते है। उदाहरण के लिए उनकी कुछ कहानियाँ ले लीजिए। "तत्सत", "वह बेचारा", "लाल सरोवर", "नीलम देश की राज कन्या" आदि कहानियों मे सर्वत्र विचार बोझिलता है। अप्रत्यक्ष रूप से इन कहानियों में वे एक दार्शनिक के रूप में उभर कर आये हैं। इसी प्रकार "घुँघरू", "भाभी", "व्याह", "विस्मृति", "परावर्त्तन", 'सम्बोधन" इत्यादि प्रणय तथा विवाह विषयों की कहानियाँ होते हुए भी मौलिक दृष्टिकोण तथा तात्त्विक गहराई में अपूर्व हैं। ये रचनाएँ चरित्र और वातावरण के मेल से पाठक पर एक सफल विचारात्मक निबन्ध का-सा अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं।

उनके चरित्रों की एक विशेषता है उनकी अहंवादिता। जैनेन्द्र स्वयं एक अहंवादी कलाकार हैं। इसलिए उनकी यह चारित्रिक विशेषता उनके चरित्रों में जहाँ-तहाँ मिलती है। अनेक चरित्रों में अहंवादिता इतने अडिग रूप में आती है कि पेशेवर औरतें भी, जो रूप यौवन की खुली दुकान लगाती हैं, व्यक्ति विशेष की माँग के प्रति इतना सबल प्रतिरोध करती हैं कि पाठक सन्न रह जाता है।

जैनेन्द्र की कला का उद्देश्य क्या है? जीवन को बदलने के लिए कोई प्रेरणा उनके पास नहीं है।। "कला ईश्वर के लिए" यह उनका नारा है। उनका उपन्यास 'सुखदा" समग्र आदर्श की ओर एक सशक्त सकेत है। जीवन और जगत की दार्शनिक समस्याओं पर सहज और मौलिक विवेचन उन्होंने दिया है। दिन-रात के जीवन और समाज में उठने वाले गूढ़-गहन प्रश्नों का जिस कुशलता से उन्होंने समाधान किया है, वह देखते ही बनता है। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं के अन्त में उन्होंने ईश्वर को रख दिया है। इसलिए उनकी समस्याओं का निदान अस्पष्ट और रहस्यमय-सा हो गया है।

मनःस्तव विश्लेषण प्रधान कहानियों के प्रथम लेखक वे ही हैं। उन्होंने चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का सफल प्रयोग किया है। फ्रायड और एडलर के यौन मनोविज्ञान और मानसोपचार के तत्वों को लेकर वे कहीं-कहीं खिलवाड़ से करते प्रतीत होते हैं। वहाँ वे सतह पर ही रह जाते हैं। "साधु की हठ", "कःपन्था", "चलितचित्त", "वह अनुभव" इत्यादि उनकी इस प्रकार की मौलिक कहानियाँ हैं। इनमें यौन जीवन का भी चित्रण है। उनकी कुछ कहानियाँ प्रतीक शैली में लिखी गई हैं, जैसे 'तत्सत", "वह वेचारा", "लाल सरोवर" इत्यादि। इनमें उनका जीवन का अनुभव, स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन, विचार-रस पूरे सौष्ठव पर पाया जाता है। उनका कथा-साहित्य उदात्त मानवीय सत्यों से परिपूर्ण है।

श्रीमती मोहिनी ओबराय

जैनेन्द्र जी के कथा-साहित्य में नारी भावना

इतिहास के पन्ने पलटते-पलटते सोचती हूँ, नारी की व्याख्या भी प्रत्येक काल में बदलती रही है। किसी ने नारी को केवल जननी के रूप में प्रतिष्ठा दी है और किसी ने उसे जीवन का प्रेरणा-स्रोत ही मान कर छोड़ दिया है। फिर कुछ ऐसे व्याख्याकार भी सामने आये, जिनके लिये नारी मदिरा के एक प्याले से ज्यादा और कुछ न थी। समय के साथ-साथ धारणाएँ भी बदलती गईं। वैदिक काल की नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व जहाँ धीरे-धीरे बाद में एक संकुचित दायरे में बन्द हो गया था, वह कुछ अन्तराल के बाद पुनः उस दायरे से बाहर आने का प्रयास करने लगा। नारी अपनी खोयी स्वतंत्रता को फिर से पाने के लिये तड़प उठी और उसे स्वतन्त्रता मिली भी, लेकिन इस स्वतन्त्रता ने उसके व्यक्तित्व के कई पक्षों को समाज के सामने प्रस्तुत किया, जिनका निरूपण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया। पूर्व अधिकार प्राप्त बन्धनयुक्त नारी का स्वागत भी भिन्न-भिन्न तरीके से हुआ। कार्य-क्षेत्र में व्यस्त कार्यशील नारी का व्यक्तित्व कुछ और तरह से उभर कर समाज के सामने आया और दूसरी ओर चिरपरिचित भारतीय गृहणी भी विचारकों और चिन्तनशील व्यक्तियों की दृष्टि से उपेक्षित न रही। यह सही है कि कार्यशील नारी और भारतीय परम्परा का अनुसरण करने वाली केवल मात्र गृहणी भारतीय नारी के दो अलग व्यक्तित्वों का प्रतिनिधित्व करती है, परन्तु नारी मूलतः नारी ही रहती है, चाहे वह उच्च शिक्षा प्राप्त डाक्टर है या कोई सरकारी अफसर है या चाहे वह पाँचवी पास एक साधारण पत्नी ही है। उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं और ममता, स्नेह एवं त्याग की उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों में कहीं कुछ परिवर्तन नहीं होता। यदि हमें कही किसी एक विशेष चरित्र में कुछ विकार दृष्टिगोचर होता है तो उसके कुछ कारण होते हैं, जिसके लिये हम पथभ्रष्ट नारी को दोषी ठहराने के अधिकारी नहीं, बल्कि हमें तो उन कारणों से घृणा करनी है और उनके निराकरण का कोई उपाय सोचना है, जिनकी वजह से किसी को पथभ्रष्ट होना पड़ता है। ऐसे में हमें सहज ही में इस कथन का स्मरण हो आता है।

"पापी से नहीं, पाप से घृणा करो।"

[जैनेन्द्र जी का कथा-साहित्य हमें इस कथन की सत्यता से तो परिचित कराता

ही है, पर इसके अतिरिक्त हमें नारी के उस शुद्ध रूप के भी दर्शन कराता है, जहाँ कहीं तो हम श्रद्धा से नत हो जाते हैं और कहीं करुणा और दया से अभिभूत हो जाते हैं। ऐसे लगता है जैसे नारी मात्र की पीड़ा और यातना जैनेन्द्र जी को बड़े गहरे कहीं छू गई हो।]

"त्याग-पत्र" में मृणाल के प्रति उनकी कारुणिक और संवेदनशील अनुभूतियों को पढ़ कर मन सहानुभूति से भर उठता है। मृणाल का एक-एक शब्द मानों स्वयं किसी पीड़ा में डूबा हुआ है।

"लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है। तो भाई, मुझे माफ कर दो, वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिये चाहिये कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले तो भी मैं कुचली न जाऊँ और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए, मुझे तो जो मिलता है, उसी के भीतर सान्त्वना पाने की शक्ति चाहिये।"

[जैनेन्द्र जी ने जहाँ कहीं भी अपनी नायिकाओं का चित्रण पतिता की भूमिका में किया है वहाँ सब कुछ सह लेने के बाद भी उनकी नायिका दूध की धुली हुई नारी की भाँति निखर कर सामने आ जाती है] ज़रा बताइये तो मृणाल जब स्वयं ही अपने को दोषी बता रही है तो आप और क्या कह कर उसका अपमान करना चाहेंगे, पर क्या उसके एक-एक शब्द में आपको अन्याय की धार पर बलि दे दी गई नारी के दर्शन नहीं होते ? क्या आपका मन संवेदना से नहीं भर उठता। लेकिन उसे पतिता जानते हुए और मानते हुये भी तो हम उससे घृणा नहीं कर पाते और कर भी कैसे सकते है ? मृणाल को सुनिये।]

"फिर जिनको साथ लेकर पति को छोड़ आयी हूँ, उनको मैं छोड़ दूँ ? उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं त्यागा ? उनकी करुणा पर मैं बची हूँ। मैं मर भी सकती थी, लेकिन मैं नहीं मरी, मरने को अधर्म जानकर ही मैं मरने से बच गई। किसके सहारे मैं उस मृत्यु के अधर्म से बची ? जिनके सहारे मैं बची, उन्हीं को छोड़ देने को मुझसे कहते हो ? मैं नहीं छोड़ सकती। पापिनी हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या अकृतज्ञ भी बनूँ ?"

[जैनेन्द्र जी की लेखनी में अपने नारी पात्रों के प्रति अपार सहानुभूति है। उनके साहित्य में हमें नारी के प्रायः प्रत्येक रूप के दर्शन होते हैं] वह हर चरित्र का उसके अपने गुणों-अवगुणों सहित विशद विश्लेषण तो कर ही देते हैं[पर कहीं भी पाठक को यह नहीं भूलने देते कि नारी मूलभूत रूप से नारी ही है। वह ममता और कोमलता

का अगाध सागर है। उसके इन गुणों को कहीं भी आसानी से नष्ट नहीं किया जा सकता।]

लगता है नारी को एक "कैरियरिस्ट" के रूप में देखने को जैनेन्द्र जी इतने उत्साहशील नहीं। शायद उन्हें भय है कि यह रूप उनकी भारतीय नारी की प्रतिमा के अनुकूल नहीं। पारिवारिक शान्ति और सुरक्षा के लिये "कैरियर" एक बाधा के रूप में उपस्थित हो सकता है। "कल्याणी" में अपने उद्‌गारों को वह मुक्त अभिव्यक्ति दे पाये हैं।

"इस सभ्यता में स्त्रियाँ अपने को चाहती हैं, मर्द अपने को चाहते है और दोनों अपने लिये दूसरे को इस्तेमाल करना चाहते हैं। इससे मनुष्य को तरक्की मिलेगी? खाक मिलेगी, इससे ध्वंस पास आयेगा, यह तो छीना-झपटी और नोच-खसोट है, इसमें उन्नति कहाँ रखी है, मौत हाँ, यह जरूर बैठी है।"

[भारतीय नारी को चाहे कितनी भी उच्च शिक्षा क्यों न प्राप्त हो और चाहे विदेश भी क्यों न घूम आई हो, लेकिन अपने जातिगति मूल गुणों की अवहेलना करने की शक्ति उसमें नहीं होनी चाहिए। लगता है जैनेन्द्र जी को अपनी यह मान्यता काफी प्रिय है।)

कल्याणी विदेशी डिग्री प्राप्त डाक्टर है तो क्या, पर उसमें भी भारतीयता के प्रति मोह है। पर जाने क्यों, उसके शब्दों में जब हम उसकी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति पाते हैं तो कुछ बड़ा अजीब-सा लगता है, जैसे कुछ अप्रत्याशित बात हो।

"पत्नीत्व को दासता कहते हो? हाँ है वह दासता, लेकिन साधना भी वही है······वही उसका धर्म है। उसका अलग स्वतंत्र कुछ न रहे, सब पति में खो जाए।···पति व्यक्ति नहीं है, वह प्रतीक है, इससे सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष है। हो सकता है वह अपंग हो, विकलांग हो, जैसा हो पति पति ही है। पति देवता है·· हिन्दू शास्त्र सच कहते हैं, स्त्रियाँ यह कह कर कि वे शास्त्र पुरुषों के बनाये हुए हैं अपने को स्वधर्म पालन से नहीं बचा सकतीं। क्या वे स्त्रीत्व की विडंबना चाहती हैं।'

मृणाल के प्रति मन जिस करुणा से भर उठता है, वैसी करुणा कल्याणी के प्रति नहीं उपजती। ऐसे लगता है जैसे इतने ज्ञानार्जन के बाद भी वह मिट्टी की मूर्ति हो। मृणाल का व्यक्तित्व जिस अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करके निखर उठता है, कल्याणी द्वारा उसी को मूक भाव से सहते जाना, एक तरह का अपवाद-सा लगता है।

"व्यतीत" में चन्द्री का उग्र रूप जहाँ मन को छूता है, वहाँ अनिता का त्याग कोई इतनी बड़ी दिलासा नहीं देता, लेकिन इनमें कहीं कोई जटिलता नहीं।

"निश्चय है कि नारी के हृदय का सूत्र सीधा ही है उसकी नाना भंगिमा और व्यंजना के नीचे कहीं विशेष जटिलता नहीं है। लेकिन वह सूत्र हाथ कब आता है? इससे पुरुष के भाग्य की तरह स्त्री के चरित्र को अतर्क्य मान लिया जाता है। तर्क उसमें है, पर स्त्री का सतीत्व इसी से तर्क-हीन सा लगता है।"

[जैनेन्द्रजी ने नारी को प्रेम का प्रतीक माना है। उसके प्रेम में अगाध शक्ति है और वह अपने प्रेम से पुरुष को बाँध लेती है। उसका प्रेम पवित्र होता है और इसे जैनेन्द्र जी ने कहीं भी विकृत नहीं होने दिया। उसे सीमाओं से बाँधे रखा है। उनकी लघुकथाओं में 'प्रमिला' की नायिका कुछ नया कदम उठाने की चाह रखने पर भी कुछ नया कदम नही उठा पाती, उसे जल्दी ही अपनी सीमा का बोध हो जाता है।

{प्रश्न है जैनेन्द्र जी की दृष्टि में आदर्श नारित्व क्या है और इसका उत्तर वह स्वयं देते हैं—}

"एक वस्तु है रूप, पर स्त्री के आदर्श के साथ रूप का कोई सम्बन्ध मुझे नहीं दीखता, पर स्त्री ही अधिकतर यह नहीं जान पाती, इससे वह ठगी जाती है। रूप वह जो अंग से छलकता है, असल में प्रकृति की ओर का एक छल है। मातृत्व एक दायित्व है और स्त्री को वह रूप के व्याज से ही मिलता है। रूप उसका स्वरूप नहीं है। स्त्री का स्वरूप है सतीत्व और मातृत्व। जो उस स्वरूप को नहीं अपनाती, रूप भी उसका व्यंग बनता है। वह उसके जीवन में नहीं घुलता और उसे सुन्दर नहीं बनाता। जो वयस्क होकर नवीना दीखना चाहती है, माता बनकर भी प्रेमिका बनने का प्रयास करती है, वह स्त्रीत्व की शोभा नहीं, कहलाती, उससे उल्टे जुगुप्सा होती है।

आदर्श के लिये स्त्री के लिये पहली आवश्यकता है कि वह ईश्वर से अपनी सार्थकता देखने की हठ न रखे। पुरुष के पौरुष की स्पर्धा में न पड़े। बल्कि उसे उसी रूप में अपने में धारण कर कृतार्थता के अर्थ को स्पष्ट कर दे।

कैरिरिज्म में पुरुष की होड़ है। सतीत्व में पुरुष से योग और सहयोग है। दूसरी कोई स्वतन्त्रता स्त्री के लिये भ्रम है। आर्थिक जैसी किसी स्वतन्त्रता में से वह अपने को सार्थक नहीं पा सकती। गृहिणी धर्म में ही उसकी समुचित परि-तृप्ति है।"

नारी के आदर्श के रूप में जैनेन्द्र जी की सतीत्व वाली बात तो सही है और वह अच्छी भी लगती है, पर न जाने क्यों 'कैरिरिज्म' के प्रति उनकी उदासीनता कुछ समझ में नहीं आती। नारी के प्रति उनकी सहानुभूति और ममता इस विरोध के साथ कुछ मेल नहीं खाती। आधुनिक नारी का 'कैरिरिज्म' सिवाय अपने पैरों पर

खड़े होने की भावना के और कुछ नहीं है । मृणाल जैसी पारिवारिक परिस्थितियाँ आज भी कई महिलाओं की हो सकती हैं । यदि समय-कुसमय, विपत्ति काल में वह अपनी सहायता स्वयं करने में सक्षम है और सम्मानपूर्वक अपनी आजीविका कमाने योग्य हैं तो किसी आड़े समय वह मृणाल की भाँति किसी 'कोयले वाले' के साथ रहने पर कदापि मजबूर नहीं होंगी । मैं सोचती हूँ एक 'कैरिरिस्ट' अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति अधिक सजग होती है और इसीलिये उसमें सतीत्व के प्रति मोह ज्यादा ही होना चाहिये, कम नहीं ।

कार्यशील स्त्रियों का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है और इस कार्य-क्षेत्र में किशोरियाँ हैं, युवतियाँ हैं, प्रौढ़ महिलाएँ हैं जो पत्नियाँ हैं और माताएं भी । समय पाकर ये किशोरियाँ और युवतियाँ भी ग्रहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगी और आज हर कार्यशील लड़की की यह धारणा ही नहीं, बल्कि विश्वास भी है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र में तो सफल हो ही सकती है, पर इसके अतिरिक्त वह एक सफल पत्नी, गृहिणी और माता बनने के भी पूर्णतः सक्षम है । और हमें पूर्णतः विश्वास है कि जैनेन्द्र जी अपने संवेदनशील दृष्टिकोण से आधुनिकाओं के नये प्रयास को, जिसके द्वारा वह घर और कार्यक्षेत्र, दोनों का दायित्व सम्भालने में अपने को सक्षम समझती हैं, अपना समर्थन देंगे ।

डाक्टर सुरेशचन्द्र गुप्त

जैनेन्द्र जी की निबन्ध-शैली

वर्तमान युग में हिन्दी-निबन्ध को विकासमान करने वाले साहित्यकारों में जैनेन्द्र जी का अन्यतम स्थान है। उन्होंने समाज, धर्म, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य आदि की विविध समस्या को लेकर शताधिक उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की है। इस दृष्टि से उनके 'मन्थन', 'सोच-विचार', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' आदि निबन्ध-संग्रह विशेषतः उल्लेख्य हैं। उनका अप्रकाशित निबन्ध-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। विवेचन की सुविधा के लिये प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त कृतियों के आधार पर ही उनकी निबन्ध-शैली की विवेचना की गई है। उक्त शैली से हमारा अभिप्राय भाषा और शैली-सम्बन्धी समीक्षा से है, निबन्धगत वस्तु-तत्त्व की विविधता से नहीं।

निबन्ध का स्वरूप

'निबन्ध' शब्द की रचना 'बन्ध' धातु में 'नि' उपसर्ग के प्रयोग से हुई है। 'नि' का प्रयोग संज्ञा, क्रिया आदि के पूर्व विशेषता के द्योतन के लिये किया जाता है और 'बन्ध' का अर्थ बाँधना, व्यवस्था अथवा सामंजस्य है। अतएव 'निबन्ध' शब्द का अर्थ हुआ—विशेष रूप से बाँधना अथवा सामंजस्य-पूर्ण व्यवस्था करना। इसके लिये यह अपेक्षित है कि उसमें मौलिक विचार-सामग्री के अतिरिक्त अभिव्यंजना का लालित्य भी हो। वस्तुतः निबन्ध ही ऐसी गद्य-विधा है, जिसमें विषय और शैली की अधिकतम एकात्मता संभव है।[1] भावना और विचार की प्रमुखता होने पर भी निबन्ध में शैली-तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी की निम्नस्थ उक्ति द्रष्टव्य है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव है।"

जैनेन्द्र जी की शैली विषयक मान्यताएँ

जैनेन्द्र जी ने साहित्येतर विषयों पर निबन्ध-रचना को प्राथमिकता दी है, तथापि 'साहित्य और समाज', 'कला क्या है', 'साहित्य-सृजन', 'साहित्य और नीति'

---

१. निबन्ध के स्वरूप के विशेष अध्ययन के लिए लेखक की कृति 'प्रतिनिधि निबन्ध' की भूमिका (पृष्ठ ९-२३) द्रष्टव्य है।

आदि निबन्धों में उन्होंने साहित्य की विविध समस्याओं के विषय में भी विचार-निरूपण किया है । इसी प्रकार से एक लेख 'गद्य-विकास और कथा उपन्यास' में उन्होंने प्रसंगवश गद्य की शैली के विषय में विचार व्यक्त किये हैं, जिन्हें उनकी निबन्ध-शैली के लिये कसौटी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । इस दृष्टि से निम्नलिखित उक्तियाँ पठनीय हैं---

(अ) "साहित्य की भाषा कभी सीधे नहीं, सदा व्यंजना द्वारा ही अपना अभिप्राय: देती है । यों भी कह सकते हैं कि वहाँ भाषा कह कर इतना नहीं कहती, जितना अनकहा छोड़कर कहती है ।"[1]

(आ) "बहुत ज़्यादा जानकारियों और खबरों से लद कर या आत्यन्तिक निश्चिति पहन कर, भाषा लहरीली कैसे रहेगी ?"[2]

(इ) "जैनेन्द्र की गद्य की अशुद्धियों को स्वयं जैनेन्द्र की अशुद्धि मान कर उसे समाज-बहिष्कृत रखा जा सकता है, पर उसके गद्य का क्या कीजियेगा ? यदि जैनेन्द्र स्वयं शुद्ध नहीं है, और अशुद्ध होकर भी हिन्दी लिखने या बोलने के सम्बन्ध में कानूनन उस पर कोई रोक-थाम नहीं डाली जा सकती है, तो सिवा इसके क्या उपाय है कि हिन्दी गद्य का विकास ऐसी अशुद्धियों को भी पेट में लेकर और रक्त में रमा कर बढ़ता ही चले ।"[3]

शैली के विषय में जैनेन्द्र जी का विचार-वृत्त केवल इतना ही नहीं है, किन्तु उसके आधार पर उनकी मान्यताओं का साधारण अनुमान अवश्य किया जा सकता है । उपर्युक्त उद्धरणों में उन्होंने तीन बातों पर बल दिया है—(अ) व्यंजना-वृत्ति शैली का प्राण है, (आ) अर्थ-गाम्भीर्य की बोझिलता के स्थान पर भाषा में निजी स्वास्थ्य होना चाहिये, (इ) भाव-प्रेषण में सहज व्यावहारिकता लाने के लिये भाषा-गत शुद्धियों अथवा व्याकरणिक नियमों का बलिदान कर देना चाहिये । स्पष्ट है कि इनमें से प्रथम दो धारणाओं का ही अनुमोदन किया जा सकता है, तृतीय मत में ऐसी उच्छृंखल क्रान्ति की गन्ध है जो कला-सौष्ठव के लिये विघटनकारिणी सिद्ध होगी ।

शैलीगत विचारणीय अंग

साहित्य की संवृद्धि में रचना-विशेष के आन्तरिक गुणों अथवा भाव-पक्ष का तो विशिष्ट योग रहता ही है, शैली अथवा कला-पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । निबन्ध-शैली के अन्तर्गत लेखक की भाषा और वर्णन-प्रणाली पर विचार

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय; द्वितीय सं०: पृष्ठ १४५

२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १४६

३. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १४६

किया जाना चाहिये। प्रस्तुत निबन्ध में हम भाषा के अन्तर्गत निबन्धगत शब्द-सम्पदा (प्रयुक्त शब्दावली की विविधरूपता), शब्दगत सहभाव (सहयोगी शब्दों का प्रयोग तथा वाक्यों में अन्तर्लय की योजना), मुहावरे-लोकोक्तियों तथा वर्तनी-विषयक विपर्यास की समीक्षा करेंगे। वर्णन-व्यवस्था अथवा शैली को दो वर्गों में विभाजित करना उपयोगी होगा। एक वर्ग में व्यास शैली, समास शैली, धारा शैली, तथा प्रलाप शैली का समावेश किया जा सकता है तथा दूसरे वर्ग में सूचित शैली, अलंकार शैली, चित्र शैली तथा व्यंग्य शैली का समावेश हो सकता है। इनमें से व्यास शैली के अन्तर्गत कथा शैली, उदाहरण शैली, संवाद शैली तथा प्रश्नोत्तर शैली का समन्वित रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

जैनेन्द्र जी की भाषा

(अ) शब्द-सम्पदा

जैनेन्द्र जी ने अपने निबन्धों में शब्द-समृद्धि अथवा शब्द-चयन के व्यापक आधार पर विशेष बल दिया है। भाषा की व्यावहारिकता अथवा अभिव्यक्ति की सुकरता उनकी शैली की आत्मा है। फलतः उन्होंने संस्कृत-पदावली के प्रयोग के प्रसंग में भी अधिकतर उन्हीं शब्दों को अपनाया है, जो हिन्दी में सहज-व्यवहृत हैं। अभिनय, अनुकरण, विग्रह, नगण्य, द्वन्द्व आदि शब्द[1] इसी प्रकार के हैं। तद्भव शब्द तो उनके निबन्धों में प्रचुर रूप में मिलते ही हैं, उन्होंने भाषा में सहजता लाने के लिये तरतमता (तारतम्य), जस (यश), मूरत (मूर्ति), पच्छिम (पश्चिम), मजूरी, सिरजन (सृजन), गिरस्ती (गृहस्थी) आदि लोकव्यवहारगत शब्द-रूपों को भी पर्याप्त स्थान दिया है।[2] इसी प्रकार उन्होंने यत्र-तत्र 'चहुँ' जैसे ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है।[3] भाषा को व्यावहारानुकूल बनाने के लिये उन्होंने उर्दू शब्द-कोष को भी अनन्य निष्ठा से अपनाया है। नामुनासिब, अहसान, इन्सान, खत्म आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।[4] शब्द-योजना में रोजमर्रा अथवा बोलचाल की प्रवृत्ति लाने के लिये इस प्रकार के प्रयोग सर्वथा वांछनीय हैं, किन्तु 'शीघ्रता' के लिये 'न-कुछ देर' लिखने का समर्थन नहीं किया जा सकता।[5] इसी प्रकार "कतअन तत्त्व की

---

१. देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ १३६, १३७, १६१, ३६३, ३६८।

२. देखिए (अ) मन्थन, पृष्ठ ११४, १४७, २०५; (आ) साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ २४४, २७५, २८४, ३६५।

३. देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ १५४।

४. देखिए (अ) मन्थन, पृष्ठ ३१, (आ) सोच-विचार, पृष्ठ ८०, ८१, (इ) साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३३१।

५. देखिए 'मन्थन', पृष्ठ ६६।

बात में कह रहा था"[1] जैसे वाक्य भी हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं।

जैनेन्द्र जी ने अपने निबन्धों में अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। इस विषय में उन्होंने दो विधियों को अपनाया है—(अ) देवनागरी लिपि में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग—इन्वेस्टमेण्ट, ब्लैक आउट, क्लासरूम, कान्फ्रेन्स, आर्टिस्ट आदि,[2] (आ) रोमन लिपि में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग—Salt, Complexes, Inherent, Self-expression, Couscious, tendency आदि।[3] लेखक ने इन शब्दों के लिये हिन्दी-पर्याय नहीं दिये हैं, जिसका अनुमोदन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ शब्द साधारण हिन्दी-पाठकों के लिये जटिल हो सकते है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि लेखक ने कहीं-कहीं अंग्रेज़ी माध्यम से चिन्तन किया है, फलतः उन्होंने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये कोष्ठकों में अंग्रेज़ी पर्याय भी दिये हैं। यथा—आन्तरिक (Subjective), घटना की दुनिया (Objective facts), पास-पड़ौसपन (Neighbourliness), सत्याग्रह (Direct action)।[4]

(आ) शब्दगत सहभाव

भाषा में प्रवाह लाने के लिये काव्य तथा गद्य में शब्दगत सहभाव अथवा सहयोगी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति को साधन-विशेष के रूप में अपनाया जाता है। जैनेन्द्र जी इस प्रकार के शब्दों के सफल प्रयोक्ता हैं और साथ ही अनन्य समर्थक भी। इस विषय में उनकी यह उक्ति द्रष्टव्य है—"भाषा में विशेषणों का द्वित्व और युग्म तो अनिवार्य ही है। सत्-असत्, हेय-विधेय, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा आदि तुलना के शब्द उसकी भाषा में भी आयेंगे ही।"[5] इस प्रकार के शब्द-युग्मों को भिन्नार्थ सहयोगी शब्द भी कहा जा सकता है। जैनेन्द्र जी ने उपर्युक्त विशेष सार्थक शब्द-युग्मों के अतिरिक्त 'लोई-कम्बल', 'लाग-लपेट', 'आड़े-बांके' आदि शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया है।[6] उन्होंने 'चप्पा-चप्पा', 'अणु-अणु', 'भांति-भांति' जैसे समानार्थी सहयोगी शब्दों का भी प्रयोग किया है[7], जिन्हें काव्य-शास्त्र की शब्दावली

---

१. सोच-विचार, पृष्ठ ५६।

२. देखिए (अ) सोच विचार, पृष्ठ १३१, १४६, (आ) साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १८३, १८७, ३८६।

३. देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ३८४-३८७।

४. देखिए 'मन्थन' पृ० १०६-११०।

५. मन्थन, पृ० १४४।

६. देखिए (अ) सोच-विचार, पृ० २३५, (आ) साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३७१।

७. देखिए 'सोच-विचार', पृ० २३४।

में 'पूर्ण पुनरुक्त शब्द' कहते हैं। शाब्दिक सहभाव के अन्तर्गत द्वितीय विचारणीय तत्त्व हैं—लेखक द्वारा वाक्यों में आन्तरिक तुक का निर्वाह। यद्यपि यह विशेषता मूलतः कविता की निधि है, किन्तु जैनेन्द्र जी ने गद्य में भी इसका सफल निर्वाह किया है। उदाहरणार्थ निम्नांकित वाक्य देखिए—

(क) "संदीप का गर्व **खर्च** होता है।[1]

(ख) "**काम** के अभाव में मैं तब **हराम** में और **आराम** में रहता था।"[2]

(इ) मुहावरे-लोकोक्तियां

जैनेन्द्र जी ने अपने निबन्धों में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग किया है। कारण स्पष्ट है—उनके द्वारा अपनाये गये विषय तो जन-जीवन से संबद्ध हैं ही, उन्होंने भाषा को भी व्यावहारिक स्तर पर रखा है। वस्तुतः मुहावरों अथवा लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में लाक्षणिकता और विशिष्ट अर्थवहन की क्षमता आ जाती है। आलोच्य लेखक ने 'सिली सींवन उधेड़ना', '३६ के अंक', 'ठट्ठे की बात' आदि मुहावरों का प्रसंगानुकूल प्रयोग किया है।[3] इसी प्रकार उन्होंने "उन्हें गंगा के पास गंगादास और जमना किनारे जमनादास हो जाना सरल है।[4] जैसे वाक्यों में लोकोक्तियों को भी स्थान दिया है। हिन्दी-लोकोक्तियों के अतिरिक्त उन्होंने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध लोकोक्तियों को भी उदाहृत किया है। यथा—

1. Knowing is becoming.[5]
2. God is Iaw.[6]
3. Truth is Stranger than fiction.[7]

(ई) वर्तनी-विपर्यास

जैनेन्द्र जी ने अपने निबन्धों में स्वच्छ और शुद्ध भाषा का प्रयोग किया है, वर्तनी-व्यतिक्रम अथवा अशुद्धियां केवल अपवाद हैं। उनकी रचनाओं में शाब्दिक अशुद्धियों की खोज अनधिकार चेष्टा-मात्र है, तथापि प्रस्तुत निबन्ध में सर्वांगीणता लाने के लिये हम इस पर भी विचार करेंगे। उन्होंने 'शृंखला' जैसे अशुद्ध प्रयोग[8] प्रायः नहीं किये हैं। इसी प्रकार हलन्त शब्दों के प्रयोग के प्रति भी वे जागरूक रहे

१-२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ११६, ३२६-३२७।

३. (अ) साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १६२, (आ) मन्थन, पृ० २०४, (इ) सोच-विचार, पृष्ठ ५६

४. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ २२६

५-६-७. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३१,४७,११७

८. देखिये 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ ३९१

हैं—'बुद्धमान' जैसे अशुद्ध प्रयोग[1] नितान्त विरल हैं, वस्तुतः उन्होंने 'विद्वान्,' 'भगवान्' आदि हलन्तवर्णीय प्रयोग ही किये हैं।[2] उर्दू-शब्दों में नुक्ते लगाने के प्रति भी वे पर्याप्त सजग रहे हैं, किन्तु सबसे अधिक असावधानी भी इसी क्षेत्र में हुई है। 'मुगल', 'तहजीबयापता' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।[3]

जैनेन्द्र जी की रचना-शैली

शैली अथवा रचना-रीति की दृष्टि से जैनेन्द्र जी के निबन्धों में पर्याप्त विविधता दृष्टिगत होती है। उन्होंने व्यास शैली, कथा शैली, उदाहरण शैली, प्रश्नोत्तर शैली और सूक्ति शैली का अधिक प्रयोग किया है, किन्तु उनकी रचनाओं में समास शैली, चित्र शैली, व्यंग्य शैली आदि के उदाहरण भी विरल नहीं हैं। उन्होंने निबंधों की वृहत् परिमाण में रचना की है, अतः शैली-सम्बन्धी विविध प्रयोग उनकी रचनाओं में वैसे भी अधिक अपेक्षित हैं। आगे हम उनके द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजना-रीतियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

(अ) व्यास-शैली

जैनेन्द्र जी के निबन्धों में व्यास शैली को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। भाव-दुरूहता से प्रसूत शैली-विषयक जटिलता को वे अभिव्यक्ति की दुर्बलता मानते हैं। यथा—'बहुत ज्यादा जानकारियों और खबरों से लद कर, या आत्यन्तिक निश्चिति पहन कर, भाषा लहरीली कैसे रहेगी ?[4] भाषा को तरंगायमान रखने के लिए वे सरल तथा व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग करने के अतिरिक्त संक्षिप्त वाक्य-रचना पर भी बल देते है। हिन्दी के निबन्धकारों में यह उनकी निजी विशेषता है अर्थात् सरल वाक्यों के प्रति उनके मन में सहज-विशिष्ट आग्रह रहा है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण देखिये—

(क) "अनेक समितियों के वह सदस्य हैं। धन हैं, पर व्यसन कोई नहीं है। पढ़े नही तो गुने बहुत हैं। पैठ उनकी गहरी है, बुद्धि चौकन्नी। कान और आँख खोल कर रहते हैं। ऊपर धन का दिखावा नहीं दीखता है।[5]

(ख) "महान् और अश्लील साहित्य के मूल में सचमुच थोड़ा ही भेद है। थोड़ा है, पर गहरा है। वह भेद वृत्ति का है। महान् साहित्य में से ढेर के ढेर ऐसे उदाहरण निकाले जा सकते हैं, जिनमें अश्लीलता देखी और दिखलाई जा सके।[6]

---

१. देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय,' पृष्ठ २७३
२. देखिये 'साहित्य का श्रेय और प्रेय,' पृ० २७२
३. देखिये 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ ३६०, ३७०
४. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १४६
५. मन्थन, पृ० १४६
६. साहित्य का श्रेय और प्रेय, ३७१

अभिव्यंजना को सुख-सरल रखने के उद्देश्य से जैनेन्द्र जी ने कतिपय गौण शैलियों को व्यास शैली के अंगभूत रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने सबसे अधिक आश्रय कथा-शैली का लिया है अर्थात् निबन्ध के प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में उन्होंने अपने अनुभव-युक्त में आई हुई घटना-विशेष का प्रायः कथात्मक आख्यान किया है।[1] इससे विषय-प्रतिपादन में रोचकता के अतिरिक्त प्रामाणिकता भी आ गई है। दीर्घ कथा-सूत्र प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उन्होंने भाव-विशेष पर बल देने के लिए संस्कृत और हिन्दी की प्रसंगानुकूल उक्तियों को उद्धृत कर उदाहरण शैली का भी आश्रय लिया है यथा—(क) सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,[2] (ख) कौड़ी को तो खूब संभाला, लाल रतन को छोड़ दिया।[3]

जैनेन्द्र जी ने शैली को प्रसाद-पल्लवित रखने के लिये संवाद-योजना का भी आधार लिया है। स्पष्ट है कि इन संवादों की योजना कथा-शैली के अन्तर्गत हुई है। इस दृष्टि से 'आप क्या करते हैं,' 'राम-कथा' तथा 'उपयोगिता' शीर्षक निबन्ध विशेषतः उल्लेखनीय हैं।[4] उन्होंने संवादों में संक्षिप्तता, सरलता तथा भावुकता को विशेष स्थान दिया है। इन संवादों की विशेष उपयोगिता यह रही कि उनमें रचनागत जटिलता में कमी आने की पर्याप्त संभावना रही है। जैनेन्द्र जी ने प्रायः सामाजिक-दार्शनिक गुत्थियों को लेकर निबन्ध-रचना की है, अतः संवादगत सहजता ने उनके निबधों में अनिवार्य रोचकता ला दी है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्रश्नोत्तर शैली का भी प्रयोग किया है। यथा—"हम किधर चलें ?—मुक्ति की ओर। मुक्ति कहाँ है—ईश्वर में। ईश्वर क्या है ?—ऐक्य।[5] इस उद्धरण की विशेषता यह है कि यहाँ लेखक ने संक्षिप्त उक्तियों के माध्यम से पाठक को विचार-सजगता प्रदान की है। 'परम सांख्य' शीर्षक निबन्ध में विचारगत गम्भीरता को सहज धरातल पर लाने के लिये उन्होंने प्रथम अनुच्छेद से ही प्रश्नोत्तर शैली को स्थान दिया है।[6] कहीं-कहीं इन प्रश्नों के अतिरेक ने विचार-बोझिलता को भी जन्म दिया है।[7] प्रश्नों का नैरंतर्य और समाधान का आनुपातिक अभाव ऐसे स्थलों की दुरूहता अथवा तज्जन्य अरुचि के लिए उत्तरदायी हैं। उनके निबंधों में इस प्रकार के स्थल अधिक नहीं है, अतः इस शैली के विशिष्ट प्रयोग को जैनेन्द्र जी के अभिव्यंजना-कौशल का अंग माना जाना चाहिये।

---

१. देखिये (अ) सोच-विचा , पृ० ६४-६८, १२२, (आ) मन्थन, पृ० २६-३१, १४८
२. मन्थन, पृ० १०२
३. सोच-विचार, पृ० १३८
४. देखिए (अ) सोच-विचार, पृ० ४-१४, २६-३१, (आ) मन्थन, पृ० ३१
५. मन्थन, पृ० १४५
६. देखिए 'मन्थन', पृ० २३१
७ देखिये 'मन्थन,' पृ० १६५, क्रान्ति-विषयक चर्चा

(आ) समास शैली, धारा शैली तथा विक्षेप शैली

निबंध के कला-पक्ष की चर्चा करते समय व्यास शैली के अतिरिक्त उपर्युक्त शैलियों का भी मुख्य रूप में उल्लेख किया जाता है। जैनेन्द्र जी के निबन्धों में इनका प्रयोग लगभग नगण्य रूप में हुआ है। विचारात्मक निबन्धों में समास शैली (समास, सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय, प्रतीक आदि के द्वारा विषय के सूत्रबद्ध कथन) के प्रयोग की अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं, किन्तु जैनेन्द्र जी ने अधिकतर इसी कोटि के निबन्ध लिखने पर भी उनमें समास शैली को आश्रय नहीं दिया। हाँ, उन्होंने कहीं-कहीं व्यास शैली और समास शैली को समन्वित रूप में प्रस्तुत अवश्य किया है। यथा—"नीति साधन है, राज साध्य है। पहले नीति साध्य थी, राज साधन। उस प्रकार की तत्त्व-चिन्ता और आदर्शोपासना से चलने वाली साम्यवादी राजनीति जैसे अव्यावहारिक होकर पिछड़ गई है। अब कर्मप्रवृत्त और निश्चित तात्कालिक लक्ष्य रख कर चलने वाली कूटनीतिक साम्यवादी राजनीति ने उसका स्थान ले लिया है।"[1] प्रस्तुत उद्धरण में सूत्र शैली का प्रयोग होने पर भी जटिलता नहीं है। जैनेन्द्र जी गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी सहज अभिव्यक्ति प्रदान करने में दक्ष हैं। कथा शैली और उदाहरण शैली के आश्रय के अतिरिक्त उन्होंने उसके लिये प्रकृति के भावात्मक सौन्दर्य का भी प्रसंगवश चित्रण किया है। उदाहरणार्थ 'दर्शन और उपलब्धि' शीर्षक निबन्ध की ये पंक्तियां देखिए—"पहाड़ों का अंत न था और उनकी शोभा का पार न था। धूप उन पर खेल कर भाँति-भांति के रंग उपजाती और छाया बादल के साथ आँख-मिचौनी रच कर विचित्र दृश्य उपस्थित करती।"[2] इस उक्ति में तन्मयता, भावात्मकता अथवा सरस भावुकता के फलस्वरूप धारा शैली की सहज स्थिति रही है। आत्म-लीनता के ऐसे क्षणों में जैनेन्द्र जी ने कहीं-कहीं अपने भावों को विक्षेप शैली अथवा प्रलाप शैली में भी व्यक्त किया है। इस दृष्टि से 'मेंढ़क' शीर्षक निबन्ध की निम्नस्थ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—"आदमी मेंढक नहीं होते। लेकिन बनाए, और बनने दिए जा सकते हैं। सिर के ऊपर से गरुड़ की तरह से जो लोग झपटते हुए इधर-से उधर उड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों के भोज्य के लिए जरूरी है कि कुछ अंधे कुएँ हों, जहाँ कोई जमा करे और आदमी मेंढ़क हुआ करें।[3]

(इ) अन्य शैलियां

उपर्युक्त अभिव्यंजना-रीतियों के अतिरिक्त जैनेन्द्र जी ने अपने निबन्धों में

---

१. सोच-विचार, पृ० २८७

२, सोच-विचार, पृ० २३४।

३. सोच-विचार, पृ० १६१।

सूचित शैली, चित्र शैली, व्यंग्य शैली और अलंकार शैली को भी स्थान दिया है। विचारात्मक निबन्धों की रचना के फलस्वरूप उन्होंने सूक्ति शैली का अनेकशः प्रयोग किया है। यथा—(अ) "शरीर द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा धर्म है"[1] (आ) "क्षोभ मनुष्य को खाता है, जो उसको खाते हैं वे अमृतजीवी होते है"[2], (इ) "विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है"[3], (ई) "अपराधी को मारना अपराध को जिलाना है।"[4] प्रस्तुत उक्तियों में जिस कोटि की गम्भीरता और आदर्शवादिता निहित है, उसी के समानान्तर भावुकता भी जैनेन्द्र जी के निबन्धों में उपलब्ध है। ऐसी उक्तियों में चित्र शैली के समन्वय से विशिष्ट मार्मिकता आ गई है। उदाहरणार्थ 'मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध की ये पंक्तियाँ देखिए—"उस उद्यान में विशाल एक बड़ का पेड़ है, जिसमें ऊँचाई विशेष नहीं है, पर विस्तार खूब है। वह ऐसा घना है ऐसा छायादार, कि शत-सहस्र जन उसके तले विश्राम पा सकते हैं। पुराना खूब, जटाएँ बहुत, और तना उसका इतना बृहदाकार है कि क्या पूछिए।"[5] चित्र शैली की सन्निधि में लेखक ने अलंकार-शैली को भी यत्किंचित् स्थान दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्यों में वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार और मानवीकरण अलंकार का क्रमशः प्रयोग देखिए—(अ) "लाखों तारों से आसमान भरा है। जैसे—मोतियों से अंजलि भरी है"[6], (आ) "धूप चमकी तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ'।"[7]

जैनेन्द्र जी ने निबन्धों में रोचकता के आधान के लिये व्यंग्य शैली का भी शतशः आश्रय लिया है। उनकी व्यंग्योक्तियों में केवल तीखापन ही नहीं है, अपितु उनमें चिन्तन के लिये प्रभूत सामग्री भी है। यथा—(अ) "वह अक्ल ही क्या जो दूसरे को बेअक्ल न समझे ?[8] (आ) "टाइप और व्यक्ति। हमारे विद्वान् भाई हज़ारीप्रसाद जी इन दो बाटों से भारी-भारी बोझ तोलते हैं।...हज़ारी बाबू के अलावा भी इन बाटों का चलन मिलता है। आधुनिक तुला में वे खासे काम आते हैं।"[9] इन पंक्तियों की पृष्ठभूमि में गम्भीर विचार-प्रेरणा है, जिसे व्यग्य-सजीव पदावली की ओट में उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

१-२. मन्थन, पृ० १८४, २८५।

३-४. सोच-विचार, पृ० ११२, २६६।

५. मन्थन, पृ० ११६।

६-७. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १७५, २५।

८. सोच-विचार, पृ० ५४।

९. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १६३।

निष्कर्ष

जैनेन्द्र जी की निबन्ध-शैली का समन्वित मूल्यांकन करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन्होंने भाव-तत्त्व अथवा विचार-तत्त्व की तुलना में शिल्प-पक्ष को कम गौरव नहीं दिया। उनके निबन्धों का अनुशीलन केवल विचार-प्रौढ़ि की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिये, अपितु इस तथ्य को भी दृष्टि में रखना चाहिये कि उन्होंने भाषा-शैली के प्रायः सभी उपादानों का समादर किया है। उनके शैली-विषयक आदर्श पर शंका करने के लिये केवल एक आधार होगा—और वह है आलोचक का यह रूढ़िवादी दृष्टिकोण कि हम विचारात्मक निबन्धों में जिस कोटि के वाक्य-विन्यास के अभ्यस्त हैं, उसे उन्होंने नहीं अपनाया। दूसरे पक्ष में, इसे उनकी मौलिक प्रवृत्ति की देन कहा जायेगा। उनके निबन्धों का अनुशीलन करते समय हमें शैली के परम्परा-प्रथित राजपथ से दृष्टि हटाकर जन-मानस में पल्लवित होने वाले व्यावहारिक मूल्यों को ग्रहण करना होगा। उनकी शैली पर शास्त्रीय व्यवस्थाओं का कठोर नियन्त्रण नहीं है, वनभूमि की सरिता-सा मनोनुकूल प्रवाह ही उसका नैसर्गिक आभरण है।

———

वीरेन्द्र कुमार गुप्त

जैनेन्द्र की दार्शनिक विचारणा

दर्शन की एकांगिता

दर्शन का विषय-विस्तार कहाँ से कहाँ तक है, यह विवादास्पद है। पर यदि दर्शन शब्द का अर्थ सत्य-साक्षात्कार किया जाय, तो ज्ञान-विज्ञान के सभी विभाग दर्शन की शाखा-प्रशाखा बन जाते हैं। प्रकटतः धर्म-साहित्य, कला-शिल्प, इतिहास अर्थशास्त्र, राजनीति-समाजनीति, रसायन एवं भौतिकशास्त्र, ये सभी विषय दर्शन को समृद्ध और परिपुष्ट करते दीख पड़ते हैं। इन सबके चरम-तथ्य (Ultimate truth) दर्शन के अवयव हैं, जो मिलकर विराट् सत्य को अन्वित और प्रमाणित करते हैं। पर दर्शन अपने इस अश्वत्थ रूप में पहले मान्य न हो सका। क्यों ऐसा हुआ, यह अध्ययन का विषय है। मानव-अस्तित्व को दो मोटे भागों में बाँटकर देखा जाता है, मानसिक और भौतिक। यह दोनों विभाग निरन्तर एक-दूसरे की पूर्ति और पुष्टि करते चलते हैं। दोनों के ऐक्य, सह-अस्तित्व एवं सह-गमन से ही मानव के व्यक्तित्व में परायणता, कर्मण्यता एवं कृतार्थता आ सकती है। पर लगभग शत-प्रतिशत प्राचीन दार्शनिकों ने इन मनोनीत विभागों के बीच खिंची बौद्धिक लकीर को पत्थर की लकीर ही नहीं बना डाला, बल्कि इस कृत्रिम द्वैत को अधिकाधिक पक्का किया। उन्होंने एक फल के दोनों टुकड़ों का रस सम्मिलित निचोड़ने के बदले एक खण्ड को ग्राह्य और दूसरे को अग्राह्य घोषित कर दिया। उन्होंने सूक्ष्म मानसिकता को इतना आत्यन्तिक महत्त्व दिया कि स्थूल शारीरिकता और भौतिकता अस्पृश्य बन गयी और वे प्रथम को सत् (है) और दूसरे को असत् (नहीं है) कहने पर बाध्य हो गये। इस प्रकार दर्शन अस्तित्व के मानसिक-बौद्धिक अध्ययन तक सीमित हो गया। इस भौतिक-वैज्ञानिक पक्ष की तिलांजलि का परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों के पास सत्य-साक्षात्कार का साधन रह गया, बस यौगिक सम्बुद्धि अथवा इलहाम। वे फिर इस तरह उपलब्ध मत को शब्दप्रमाण, तर्क-वितर्क वितण्डा द्वारा सिद्ध और पुनस्सिद्ध करने में जुट गये।

सभी दार्शनिकों ने अध्ययन के लिये जिन विषयों को चुना, वे रहे—सृष्टि, ईश्वर, आत्मा, मन, बुद्धि, कर्म, जन्म-पुनर्जन्म, मुक्ति, विलय आदि। ये मौलिक महाप्रश्न हैं। और एतत्-सम्बन्धी मानवीय विश्वास और मान्यताएँ आदिकाल

से मानव-जीवन और भविष्य को प्रभावित करती रही हैं और करती रहेंगी। पर यह मानना होगा कि दार्शनिकों के समाधान कितने भी अन्तिम क्यों न सिद्ध हों, वे विश्वास और अन्ध-विश्वास पर आधारित और उनके पोषक रहे, वैज्ञानिक प्रयोगसिद्ध स्थापनाओं का रूप उन्हें कभी नहीं दिया जा सका। और कभी वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट नहीं किये गये। यह आश्चर्य का ही विषय है कि विराट् भारतीय-दर्शन की विशुद्ध न्याय-पद्धति में प्रयोग-प्रमाण की गणना नहीं है। गणित, भौतिकी रसायन, शिल्प, यान्त्रिकी, नक्षत्र-विज्ञान, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि का पर्याप्त विकास भारत में हुआ है, पर इसका उपयोग उपर्युक्त महाप्रश्नों के हल में नहीं किया गया। वे मानव-अस्तित्व की रक्षा और विकास में नियुक्त हुए, देवताओं की चर्चा-उपासना में भी उनका उपभोग हुआ; पर मानव-जिज्ञासा के क्षेत्र से उन्हें कोसों दूर ही रखा गया। शाश्वत जिज्ञासाओं की तृप्ति को अनुमान और कल्पना पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार दर्शन बौद्धिक विलास और तर्क-वितण्डा का क्षेत्र बन गया और मानव-अस्तित्व की भौतिक समस्याओं से उसका सम्बन्ध एकदम टूट गया। दर्शन का संकुचन हो गया और ठोस धरती उसके पैरों के नीचे से निकल गयी। वह 'रहस्य' और 'शून्य' डूब गया और भौतिक अस्तित्व सूक्ष्म मानसिकता से दूर पड़कर स्वार्थ और हिंसा की घोरता को अपनी प्रेरणा बनाने के लिए बाध्य हो गया।

धर्म की जिम्मेदारी

दर्शन के इस एकांगीय, अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक आचरण के लिए धर्म-पन्थ बहुत दूर तक जिम्मेदार है। धर्म का प्रेरणा-स्रोत क्या है, धर्म क्या है ? भय अथवा श्रद्धा के वशीभूत होकर सीमित स्व को शेष विराट् में लय करने और विराट् को सीमाओं में बाँधने की आकुलता से प्रेरित मानव ने जिन विश्वास-मान्यताओं विधि-विधानों, पूजा-अर्चनाओं और कर्मकाण्डों की उद्भावनाएँ कीं, वे ही सब धर्म हैं। अधिकतर ऐसा हुआ कि ऋषियों-पैगम्बरों ने अपने साक्षात्कार को सामाजिक-राजनीतिक साँचे में ढालकर विशेष धर्म का आकार दे डाला और सम्बद्ध दार्शनिकों ने अपनी जिज्ञासा को उस रूढ़ रूपरेखा को लाँघकर असीम में उड़ने देने का साहस नहीं किया। धर्म ने शुद्ध जिज्ञासा को निषिद्ध ठहरा दिया और मिश्रित सीमित जिज्ञासा को भी अन्धश्रद्धा का दास बने रहने की शर्त पर ही जीने की इजाजत दी। भारत में, विशेषकर उपनिषद्-काल तक, फिर भी यह गनीमत हुई कि धार्मिक साक्षात्कार एक अकेले पैगम्बर की देन न रहकर अनेक ऋषियों के योगदान से सम्पन्न हुआ। उपनिषद्-काल तक भारत में सीमित जिज्ञासा और प्रयास को काफी खुला अवसर मिला। पर शीघ्र ही औपनिषदिक उपलब्धियाँ रूढ़ बन गयीं। बहुत कुछ पैगम्बरीय

विशेषताओं से युक्त बौद्ध-धर्म के विरोध में वैदिक-औपनिषदिक उपलब्धियों को छावनी बनना पड़ा, और स्पष्ट है कि आगे के भारतीय दार्शनिक वैदिक एवं बौद्ध, इन दो वृत्तों में चक्कर काटते रहे। अस्तित्व-रक्षा एवं विस्तार के तल पर धर्म-दर्शन, श्रद्धा-जिज्ञासा, भावना-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प का सम्मिश्रण करके एक ठोस समाज पद्धति, व्यवहार-पद्धति और आर्थिक-समृद्धि का विकास हमने भले ही कर लिया हो; पर शुद्ध ज्ञान के स्तर पर श्रद्धा और जिज्ञासा, कल्पना और प्रयोग, आत्मिक और भौतिक को हमने परस्पर घुलने-मिलने नहीं दिया, उनके द्वैत को स्थिर रखा। सामी, अरबी, यहूदी और ईसाई देशों में क्योंकि पैगम्बरवाद का बोलबाला रहा, इसलिए वहाँ के दार्शनिक तो विश्वास और तर्क की नोक-झोंक में ही उलझे रहे। अपनी मौलिक उपपत्तियों के नाम पर उन्होंने अफलातून और अरस्तू का अनुवाद भर किया। यूनान का यह सौभाग्य ही मानना चाहिये कि वहाँ शुद्ध बौद्धिक जिज्ञासा की सुकरात, अफलातून और अरस्तू आदि ने प्राण-प्रतिष्ठा की। शाश्वत प्रश्नों में उलझे रहना वहाँ के सामान्य नागरिकों का शौक बन गया था। यूनान का प्राचीन धर्म शायद अधिकाँश भय पर आधारित था और वह यूनानी मेधा को बांधे रखने में अक्षम सिद्ध हुआ। यूनानी दार्शनिकों ने अपना कार्यक्षेत्र मानसिकता तक सीमित न रहने दिया। वे एक साथ समाजशास्त्री, वैज्ञानिक और कलाविद भी बने। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की विविध धाराओं की उद्भावनाएँ कीं। अरस्तू ने प्रायोगिक विज्ञान को बहुत महत्त्व दिया। उसने और अन्य यूनानी दार्शनिकों ने वैज्ञानिक प्रयोगों को शाश्वत समस्याओं के हल में नियोजित किया। मध्योत्तरकालीन रिनेसाँ के समय के यूरोपीय वैज्ञानिकों ने इन यूनानी दार्शनिकों की परम्परा को ही आंशिक रूप में पुनरुज्जीवित किया। आंशिक रूप में इसलिए कहता हूँ, क्योंकि यूरोपीय विज्ञान विराट् के, आत्मिकता के और मानसिकता के सन्दर्भ की अपेक्षा कर साँसारिक प्रयोजन के तल पर चला और बढ़ा। ऐसा धर्म और दर्शन के रहस्यवाद और रूढ़िवाद की प्रतिक्रिया में हो पाया। यदि आरम्भ से ही धर्म-दर्शन भौतिकता को असत्य न बताकर उसे समान रूप से साथ लेकर चलते, तो शायद विज्ञान इतना एकाँगी और विद्रोही न बन पाता।

पैगम्बरवाद और दार्शनिक चिन्तन

एकेश्वर-एकपैगम्बर-वाद और बहुदेव-बहुऋषि-वाद के बीच प्रभाव व परिणाम की दृष्टि से क्या अन्तर रहा है, इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। एकेश्वरवाद का खुदा जगत् और सृष्टि से बहुत दूर, और ऊपर, उससे एकदम पृथक् एक-स्रष्टा नियामक बादशाह का-सा अस्तित्व रखता है। वह सर्वोच्च सर्वशक्तिमान् पुरुष है और प्रकृति उसका खिलौना है। अरूप, निराकार कहे जाते हुये भी उसका व्यक्तीकृत और दैवीकृत (Personified and deified) रूप हर मौतकिद के अन्तर

में स्वभावतया स्वीकृत है। प्राकृतिक तत्त्व-भूत इस खुदा के गुलाम हैं। उनसे खुदा का दूर का भी खून का सम्बन्ध नहीं है। ऐसे खुदा को तात्त्विक विवेचन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सकता। उसके अदृश्य अस्तित्व और अमानवीय पौरुष पर ईमान ही लाया जा सकता है। पैगम्बरवाद और पवित्र ग्रन्थवाद भी मानवीय जिज्ञासा का पनपना और फलित होना सहन नहीं कर सकते। कथित-लिखित वचनों-स्थापनाओं की यह दीवार इतनी पक्की बन जाती है कि उनके बौद्धिक-वैज्ञानिक परीक्षण करने और नवोपलब्ध ज्ञान के आधार पर उनमें घटा-बढ़ी करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि मान्य पैगम्बर के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बुद्धिशील, उच्चात्मा, ऊर्ध्वचेता हो सकता है, यह सम्भावना ही शत-प्रतिशत अस्वीकृत बन जाती है। ज्ञान-विज्ञान का विकास किसी एक के नहीं, अगणित ऋषियों के सम्मिलित प्रयास का फल ही हो सकता है। पैगम्बरवाद में धर्म और दर्शन अनिवार्यतः रूढ़ उपासना-पद्धति का रूप लेकर अनुदार, हठवादी पुजारियों और पण्डितों की सम्पत्ति बन जाते हैं और ज्ञान-विज्ञान की अनन्तता से उनका सम्पर्क नहीं हो पाता। इतिहास में मध्ययुग को जो अन्धयुग कहा जाता है, वह बहुत-कुछ उपर्युक्त विशेषता के कारण ही।

ऋषियों का उन्मुक्त चिन्तन

भारत में धर्म और दर्शन का आरम्भ बहुदेववाद और बहुऋषिवाद से हुआ। इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि वैदिक देवताओं का मौलिक रूप अभौतिक नहीं, शतांश में भौतिक है। विभिन्न भौतिक तत्त्वों एवं हलचलों को ही वहाँ देवी-देवता के रूप में अंगीकार किया गया है। उनको लेकर जो कहानियाँ गूँथी गयीं, वे उनकी मूल प्रकृति एवं आचरण से निरपेक्ष नहीं है। पौराणिक युग में निश्चय ही देवी-देवताओं का भौतिक रूप बहुत अधिक ओझल बन गया। कितने ही साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक, कलात्मक आर्थिक तत्त्व इनमें आ मिले और सामयिक समस्याओं की दृष्टि से भी इनमें यथासमय उलटफेर किये गये। इस प्रकार औपनिषदिक युग के बाद से वैदिक देवी-देवता विशुद्ध भौतिक न रहकर भाव-कल्पना-निर्मित इष्टसिद्धि के रूप (Deities) बनते चले गये। पर औपनिषदिक युग तक के इन देवी-देवताओं का और उनकी अर्चा में किये जाने वाले यज्ञों का बौद्धिक-वैज्ञानिक महत्त्व स्पष्ट है। उपनिषत्कार ऋषियों ने जिस सर्वोच्च देवता परमब्रह्म की स्थापना की, वह भी पैगम्बरवादियों का पिता या बादशाह खुदा नहीं है; बल्कि वह परम तत्त्व है, जो अन्य सभी भौतिक तत्त्वों से सूक्ष्मतम है, उन सबमें निहित, व्याप्त और उन सबसे शक्तिशाली है। वह शून्यवत् है, अरूप है और रूप अर्थात् भौतिक पिण्ड उसमें से बने हैं, यह नहीं कि उसने बनाये हैं। उपनिषदों का ब्रह्म व्यक्तिमय (Personified) एवं भूत-निरपेक्ष

नहीं है और उसे बौद्धिक-वैज्ञानिक प्रयास का विषय बनाया जा सकता है। देवी-देवताओं और परब्रह्म के उपनिषद्-काल तक के भौतिक-वैज्ञानिक स्वरूप और आगे उनके अर्चनात्मक, सांस्कृतिक एवं पौराणिक स्वरूप का विकास भारत की बहुऋषि-प्रथा के कारण ही संभव हो सका। देवताओं की बहुसंख्या और दर्शन, ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाएँ, जिनका विकास भारत में हुआ, भारतीय परम्परा में वर्तमान मुक्त विचारणा और मुक्त प्रयास की प्रमाण हैं।

दर्शन का दिशा-परिवर्तन

पर वैदिक औपनिषदिक काल की सर्वग्रासी उच्छलित जिज्ञासा आगे बढ़कर तथाकथित अध्यात्म में ही निबद्ध क्यों हो गयी और उसने जगत्, शरीर और भौतिकता के प्रति पूर्ण निषेध का रुख क्यों अपना लिया, यह भारतीय धर्म, दर्शन और इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीय मानस ने किस दिन और किस प्रेरणा के वश होकर जगन्माया, जगन्मिथ्या की ओर पहला कदम बढ़ाया, यह अज्ञात है। पर वैदिक, औपनिषदिक दर्शन विचारणा से एकदम विपरीत कर्म, शरीर और जगत् को दुःख का मूल माननेवाली वेगवती बौद्ध-जैन धारा मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, आकस्मिक नहीं है। उसका मूल कहीं सुदूर अतीत में है, इससे इनकार नहीं होना चाहिए। कुछ भी हुआ हो, वैदिक स्वीकारात्मक उल्लासवाद-कर्मवाद में और नकारात्मक दुःखवाद-मिथ्यावाद में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध है। इस दुःखवाद-मिथ्यावाद के प्रभाव ने भारतीय-दर्शन के सर्वग्राही उन्मुक्त प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया और उसको तथाकथित अध्यात्म के घेरे में घूमनेवाला कोल्हू का बैल बना दिया। उपनिषद्-काल के बाद भारतीय दर्शन में अध्यात्म, आत्मा, ब्रह्म आदि उक्तियों का अर्थ ही बदलकर शरीर, प्रकृति और जगत् का पूर्ण निषेध हो गया। यह निषेधात्मक दुःखवाद पूरे पूर्व एशिया में व्याप्त हुआ और यूनानी दर्शन की सोफिस्ट शाखा, ईसाइयत और इस्लाम के सूफियों पर उसका प्रभाव पड़ा। वेदान्त का परवर्ती रूप (शाँकर अद्वैत) दुःखवाद-निषेधवाद का ही वैदिक संस्करण है। इस दुःखवाद-निषेधवाद के प्रवेश को भारतीय क्या, विश्वभर के धर्म-दर्शन में एक ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) का प्रवेश मानना होगा। यह धर्म-दर्शन की एकदेशीयता का सबसे बड़ा कारण बना। मुझे लगता है, बौद्ध-जैन धारा में कुछ पैगम्बरवादी तत्त्व भी निहित रहे, जो परवर्ती पौराणिक धर्म में भी प्रविष्ट और विकसित हुए। इन्होंने भी दर्शन के विकास को कुण्ठित किया और अन्धश्रद्धात्मक एकांगी मान्यताओं को रूढ़ बनाया। धर्म-दर्शन की एकदेशीयता ही आज के भौतिक विज्ञान की चरम-एकाँगिता की प्रेरक बनी, यह ऊपर कहा जा चुका है।

वर्गीकरण का नया आधार

शायद दार्शनिक मत-विचारणा का मापदण्ड अब बदलना होगा। दार्शनिक मतों का वर्गीकरण आस्तिक-नास्तिक, आध्यात्मिक-भौतिक आधार पर किये जाने के बदले नितान्त-सापेक्ष (Exclusive-Inclusive) आधार पर किया जाना चाहिए। हर सत्य का मर्म सापेक्ष बनकर ही सुरक्षित रह सकता है। सैद्धान्तिक तल पर यह बात सर्वथा सत्य है कि कर्म बन्धन का और जगत् दुःख का मूल है। पर इस सत्य के विरोधी जैसे दीखनेवाले दूसरे सत्य, कि कर्म से ही मुक्ति मिल सकती है और जगत् चरम सुख का कारण भी बन सकता है—को क्या निराधार और झूठ मानना होगा? यह चरम सत्य है कि शून्य ही तथ्य है। इन स्थूल पिण्डों को परमाणुओं क्या, परमतम अणुओं में टूटकर महाशून्य में लय हो जाना है। इसलिये यह जगत् अस्थायी है, झूठा है, माया है। पर महाशून्य में से फिर नये पिण्ड बनेंगे और नये जगत् प्रकट होंगे, यह सत्य क्या माया सिद्धान्त से कम महत्त्वपूर्ण है? महाशून्य में—सूक्ष्मतम रूप में ही सही—सारे भूत, सारी भौतिकता नित्य वर्तमान रहती है, यह तथ्य क्या उपेक्षणीय है? मानव क्या केवल आत्मा या केवल शरीर को लेकर जी सकता है? यह तथ्य है कि आत्मिकता और भौतिकता दोषों को साथ लिये बिना सत्यानुभूति और सत्य-साक्षात्कार असम्भव है। इसी बात को दृष्टि में रखकर मैंने एक ओर अध्यात्मवाद, शून्यवाद और मायावाद को और दूसरी ओर निरे वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकदेशीय बताया है। उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। वेदान्तियों के 'अहं ब्रह्मास्मि' और भौतिकवादियों के 'व्यक्तिवाद-समाजवाद' में छुपी अमोघ प्रेरणा निस्सार नहीं है। पर जिस स्तर पर मानव-मेधा पहुँच चुकी है, वहाँ उनकी एकांगिता को समझ लेना भी तो बहुत आवश्यक है। एकांगी शून्यवाद-मायावाद ने भारत के वैयक्तिक-सामूहिक पुरुषार्थ को कितना क्षय किया और उसे बाह्य आक्रमणों के लिए उन्मुक्त कर दिया, इसका ऐतिहासिक अध्ययन उतना ही अनिवार्य है, जितना इस बात का कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध मात्र में दो प्रलयंकर विश्वयुद्ध मानव की किस हीनता के कारण सम्भव हो पाये। एकांगिता की दृष्टि से अध्यात्म-भौतिक दोनों दर्शनों को एक श्रेणी में रखना मुझे उपयोगी लगता है। और दूसरी श्रेणी में उन दर्शनों को रखा जाना चाहिए, जो इन दोनों को सापेक्ष मानकर चलते हैं।

प्रस्तुत प्रश्न

आज का वैज्ञानिक मानव यदि तत्काल ही उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के सापेक्षतावादी अर्थात् अध्यात्म-भौतिकवाद को परस्पर पूरक रूप में लेकर चलनेवाले एक नये सर्वांगीण दर्शन को न अपना सका, तो वर्तमान सभ्यता का विनाश निश्चित है।

चरम सत्य और स्थूल व्यवहार क्या इन दोनों को समान रूप से साधने की क्षमता हमारी वर्तमान सभ्यता रखती है ?—यह प्रस्तुत प्रश्न है, जो आज दर्शन को वर्तमान वैज्ञानिक संस्कृति के सामने रखता है। जितनी शक्ति से दर्शन इस प्रश्न को मानव-समाज के सामने रख पायेगा, उतनी ही उसकी महत्ता और कृतार्थता सिद्ध होगी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के कितने ही दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्न को छेड़ा है और उस पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। भारत में स्वामी विवेकानंद ने पहली बार इस सभ्यता की गम्भीरता का अनुभव किया। उनकी प्रचण्ड वाणी में अध्यात्म और भौतिकवाद मानों गल-पिघलकर एक बन गये। पर स्वामीजी के समय में विज्ञान का भय उतना उग्र नहीं बन पाया था, जितना वह आज है। इस प्रश्न को सबसे अधिक ठोस और प्रखर रूप में महात्मा गाँधी ने रखा। पर उन्होंने ऐसा वाणी के माध्यम से नहीं, कर्म के माध्यम से किया, जिसके अर्थ उसके सत्त्व से मालूम पड़ता है, आज बहुत दूर पड़ चले हैं। काव्य-शैली से कवीन्द्र रवीन्द्र ने और दार्शनिक विवेचन की पद्धति अपनाकर श्री अरविन्द ने उपर्युक्त प्रश्न को ही आज की मानवता के सामने उठाया। पर यह प्रश्न अभी भी मानव-जाति के अन्तराल में उतर नहीं पाया है। हम समन्वय या सन्तुलन का महत्त्व समझ नहीं पाते हैं। उसको अपने रक्त में घोलना हमें अवश्य मालूम पड़ता है। हमारी 'चरम सत्य' और 'स्थूल-व्यवहार' की समझ बारीक, सापेक्ष और व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि अधिकतर दार्शनिकों ने इनका विवेचन बौद्धिक स्तर पर किया है, श्रद्धा के स्तर पर नहीं।

जैनेन्द्र-दर्शन

जैनेन्द्रजी सापेक्षतावादी चिन्तकों की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने समन्वय के महाप्रश्न को उठाया है और उस पर केवल बौद्धिक रूप में नहीं, हार्दिक तल पर विचार किया है। उनका दर्शन इस युग के लिये अनिवार्य दूसरी श्रेणी का है। उनकी विचारणा श्रद्धात्मक सन्तुलन से सन्तुलित है। वह परस्पर विरोधी मान्यताओं से टकराती हुई नहीं, बल्कि उन्हें अपने में सहेजती-समेटती चलती हैं। विभिन्न तत्त्वों का उनका विश्लेषण मात्र परम्परागत अथवा अकादमीय न होकर मौलिक एवं अकाट्य हैं। उन्होंने अपनी विचारणा को विशुद्ध आध्यात्मिक अथवा मात्र भौतिक तल पर न टिकाकर ब्रह्म और अहं के उस मूल स्वरूप पर आधारित किया है, जिसमें आत्मा और पिण्ड दोनों सहज समाविष्ट हैं, जहाँ उन दोनों में ग्रंथियाँ नहीं हैं और वे अद्वैत रूप में प्रकृत अकृत्रिम आचरण करते हैं।

चार मल तत्त्व

मैंने 'भारती' में प्रकाशित अपने लेख 'जैनेन्द्र-दर्शन के मूल तत्त्व' में जैनेन्द्र-दर्शन को चार मूल तत्त्वों पर आधारित किया था। ये हैं : (१) ब्रह्म अथवा

आस्तिकता (२) अहं (३) स्वपरता की चुनौती अथवा परस्परता (४) अहिंसा। जैनेन्द्रजी जीवन-जगत् के शाश्वत प्रश्नों का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और हमारी वैज्ञानिक सभ्यता के सामने उपस्थित अध्यात्म-भौतिकवाद के सन्तुलन की समस्या को उन्होंने कितनी गहराई से अनुभव किया है, इसकी कुछ झांकी आगे उपर्युक्त चार मूल तत्त्वों का विवेचन करते हुए दे पाने का प्रयास मैं करूँगा।

ब्रह्म की खोज में पहला चरण

'जिसके बारे में हम कुछ बता नहीं सकते, उसके बारे में हमें चुप रहना चाहिये।' विटगैन्स्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विषय में कभी भी निष्क्रिय नहीं रही। ईश्वर मानव-प्रज्ञा के सामने उपस्थित सबसे विकट रहस्य है। मानव ने अपने अस्तित्व के सुदूर आदिकाल से आज तक इस रहस्य के उद्घाटन का अनवरत प्रयास किया है। इस प्रयास के प्रगति-क्रम का कुछ अध्ययन किया जा सकता है। इस विचित्र विराट् सृष्टि में पुरातन मानव की अपरिपक्व बुद्धि ने जिन विभिन्न दुर्द्धर्ष शक्तियों को सक्रिय पाया, उनको उसने अपनी कल्पना के द्वारा मानवी, मानवेतर अथवा मिश्रित काया-वस्त्र पहनाकर अपने देवी-देवता बना लिया और उनकी पूजा के लिए बृहद् मन्दिरों, रहस्यमय विधि-विधानों एवं भयानक पर-मोरंजक प्रथाओं की सृष्टि की। मिस्री, यूनानी और रोमन देवी-देवताओं के चित्र देखकर और उनके कार्य-कलापों के विवरण पढ़कर पता चलता है कि आदिम मानव ने ईश्वर को विभक्त भौतिक शक्तियों के रूप में देखा और समझा। उसके अनुसार संसार और मानव का भाग्य इन क्रूर, निरंकुश शक्तियों की मुट्ठी में है और ये उसके साथ मनमानी करने में अमानुषीय रस लेते हैं। पर सभी देवता ऐसे नहीं हैं। कुछ सरल, उदार और सदय भी हैं, जो आसुरी शक्तियों के विरुद्ध मानव की सहायता करते हैं और उसे सौभाग्य प्रदान करते हैं। मानव की कल्पना ने इन सुरासुरों के बीच मजेदार नोक-झोंक और भीषण युद्ध कराये हैं। होमर के इलियड-ओडीसी में इन सबका रोमांचक पर अनुरंजक चित्र प्रस्तुत है। एक विशेष बात यह कि अपनी विभिन्न वृत्तियों, कामनाओं, वासनाओं का आरोप भी मानव ने इन देवी-देवताओं में किया और अपना जातीय इतिहास भी इनकी कथाओं में गूँथ दिया। इस प्रकार विराट् भौतिक शक्तियों को उसने अपनी सुविधा के लिये आकार-बद्ध बना लिया और अधिकांश भय से प्रेरित होकर वह उनकी पूजा करने लगा। मानव की ईश्वर-सम्बन्धी इस अन्तिम कल्पना का विशुद्ध नमूना यूनानी देवी-देवताओं में देखा जा सकता है। भारतीय (आर्य) देवी-देवता भी 'ग्रीक गाड्स' के समान ही कल्पित हुए होंगे, पर भारतीय देवी-देवताओं का रूप भारतीय दर्शन और संस्कृति के विकास के

साथ बहुत संस्कृत और परिष्कृत हो गया। वे उतने आदिम न रहे। दूसरे वे आरंभ से ही अमूर्त रहे, मूर्त नहीं। भारतीय कल्पना का रुख शुरू से ही सूक्ष्म की ओर बढ़ा। ग्रीक और भारतीय देवताओं का अन्तर भारतीय 'इन्द्र' की उसके समकक्ष ग्रीक 'जियस' से तुलना करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। पर इन सभी आदिम देवी-देवताओं में कुछ समान तत्त्व स्पष्ट हैं। इन सभी में भौतिक दुर्द्धर्ष शक्ति का बोलबाला है। ये अमानवीय, अलौकिक कारनामे करने में सक्षम हैं। मानव की बुद्धि इन शक्तियों के स्थूल दृश्य रूप पर ही अटकी है। वह इनकी अनेकता में एकता खोजने और पाने में प्रवृत्त नहीं हो पायी है। अभी मानव स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य, भौतिक-आत्मिक में स्पष्ट विभेद-विवेक नहीं रखता। वह भौतिक शक्तियों को अपनी अन्तर्वृत्तियों के चश्मे से देखता और समझता है और अवचेतन भाव से दोनों का मिश्रण कर उपर्युक्त देवी-देवताओं का निर्माण कर लिया है। यह ईश्वर की खोज में मानव का पहला कदम था।

एकेश्वरवाद

आरम्भ में ही यद्यपि मानव अस्तित्व की समग्रता को लेकर चला, पर उसकी गति संबुद्धि और भाव से ही प्रेरित रही, विभेदकरी प्रज्ञा की शक्ति उसे अभी उपलब्ध नहीं हो सकी थी। आगे इन देवताओं की निरंकुशता से तंग सामाजिक-राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक कारणों से विवश मानव को एक दिन अनुभूति हुई कि देवी-देवताओं की इन स्थूल भौतिक मूर्तियों और इनके विकट चरित्रों में असल सत्त्व और शक्ति का निवास नहीं हो सकता। शक्ति स्थूल तत्त्व नहीं है, वह सूक्ष्म है। वह सगुण नहीं निर्गुण है, दृश्य नहीं अदृश्य है। नित्य की घटित घटना मृत्यु ने भी किसी सूक्ष्म तत्त्व की ओर संकेत किया होगा। इस प्रकार धार्मिक रूढ़ियों के बीच एक नयी चीज ने जन्म लिया, जिसे आज की भाषा में रहस्यवाद कहा जा सकता है। सूक्ष्म और अदृश्य की ओर बढ़ते हुए मानस के चरण दो दिशाओं में बँट गये। प्रथम चरण ने अनगिनत देवी-देवताओं में एक को सर्वोच्च शक्तिशाली और देवाधिप घोषित किया। यूनानियों का जियस, यहूदियों का जहोवा, आर्यों का वरुण या इन्द्र ऐसे ही देवता थे। यह चरण सीधा एकेश्वरवाद-पैगम्बरवाद तक पहुँच गया। ईसाइयों-मुसलमानों का 'खुदा' यही पुरातन सर्वोच्च देवता है, जिस पर से मन्दिर-मूर्ति और पूजा-अर्चनाओं का आवरण तो उतार लिया गया है, पर जिसकी सर्वशक्तिमान् निरंकुशता को सुरक्षित रख लिया गया है। यह खुदा उपास्य, ज्ञातव्य और विवेच्य नहीं है। यह बहुत ऊँचे सातवें आसमान पर रहता है। इस तक तो विनीत-भयभीत दुआएँ ही मान्य पैगम्बर के माध्यम से भेजी जा सकती है। एकेश्वरवाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें दृश्यादृश्य, आत्मिक-भौतिक का विभेद

जाने-पहचाने बिना ही भौतिक शक्तियों से एकदम अलग और सृष्टि से बहुत दूर ऊँचे एक अदृश्य पर सर्वोच्च स्रष्टा, निरंकुश 'खुदा' को मान्यता दे दी गयी और स्रष्टा-सृष्टि का द्वैत स्थापित कर दिया गया। जीव सृष्टि का अंग बना, स्रष्टा का नहीं। यह द्वैत देवी-देवताओं के युग में उतना निर्दिष्ट और रूढ़ नहीं था। तब जैसे देवता और मानव परस्पर एक विचित्र भाषरण क्रीड़ा में संलग्न थे। समान क्रीड़ा का स्थान अब मानव की गुलामी ने ले लिया। मध्य-पश्चिम (Middle-East) के देश ईश्वर के सूक्ष्म, अदृश्य ब्रह्मरूप को, उसके उपर्युक्त 'खुदा' रूप से कभी भी पृथक् न कर पाये। इसीलिए वहाँ रहस्य-साधना यद्यपि आरम्भ से ही रही, पर उपनिषद् के ऋषियों की साधना जैसी स्वच्छता और स्पष्टता उसमें कभी न आ पायी। दोनों में अन्तर रहा और वही अन्तर 'खुदा' और 'ब्रह्म' में है।

ब्रह्म

मानव का दूसरा चरण देवी-देवताओं के झाड़-झंखाड़ों को पार कर ब्रह्म की ओर बढ़ा। ऐसा भारत में ही हो सका, क्योंकि वैदिक देवता भौतिक शक्तियों एवं परिस्थितियों के अमूर्त प्रतीक ही रहे, मूर्त, रूढ़ और जड़ वे नहीं बन गये। ऋषियों का चिन्तन सहज रूप उस सूक्ष्मतम अदृश्य तत्त्व की ओर बढ़ सका, जो भौतिक शक्तियों की प्रेरणा है और सभी दृश्य पदार्थों में अदृश्य बनकर व्याप्त है। इसे उन्होंने सभी देवताओं से परम कहा और ब्रह्म नाम दिया। उपनिषदों का यह ब्रह्म व्यक्ति नहीं, बल्कि परम तत्त्व और चरम सत्य है। वही सारी वास्तविकता का स्रोत है। जगत् उसके हाथों में थमी वस्तु नहीं, बल्कि उसका अंग है। सृष्टि उससे बनी है। शायद ब्रह्म उस सर्व-व्यापक विराट् ऊर्जा, चेतना का नाम है, जिसमें क्रमशः सूक्ष्मतर कामना (Will) नीति (Law) और विचार (Idea) अन्तर्गर्भित हैं। कोई जड़ पदार्थ सूक्ष्म ऊर्जा (Energy) शून्य नहीं। ऊर्जा से सूक्ष्म कामना, उससे सूक्ष्म नीति और उससे सूक्ष्म विचार है। और उससे भी सूक्ष्म शायद पीड़ा है। ये सभी तत्त्व ब्रह्म में परतों की तरह निहित और अणुओं की तरह मिश्रित हैं। शायद ऐसी ही कल्पना के आधार पर ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द रूप कहा गया। पर उसकी अदृश्य सूक्ष्मता और अकल्पनीय विराटता को दृष्टि में रखकर ही मिस्री रहस्यवादी इख्नेतन (१३७५- ८ ई० पू०) से लेकर औपनिषदिक ब्रह्मवादी तक और मसीही-मुस्लिम सूफियों से लेकर आधुनिक रहस्यवादियों तक सभी ने उसे बुद्धि, मन और वचन से परे कहा। उपर्युक्त सभी तत्त्व आंशिक-अनुपातिक रूप में जीवन में निबद्ध हैं। उनका सर्वश्रेष्ठ अनुपात मानव में उपलब्ध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहं' 'अन-लहक' आदि उक्तियाँ इन्हीं अर्थों में शायद सबसे अधिक सार्थक हैं।

शाश्वत है। स्थायित्व के खोजियों ने सूक्ष्मतम को ही ब्रह्म अथवा परमात्मा की संज्ञा दी और स्तरों को मानने से इनकार कर दिया। सूक्ष्मतम को छोड़ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और स्थूल सब उपेक्षणीय बन गये, क्योंकि उन्हें असल ब्रह्म की नश्वर नहीं, मात्र परिवर्तनीय है। प्रकृति स्थूल ब्रह्म है। आत्मा या परमात्मा को सूक्ष्मतम, परम, नित्य तत्त्व का पर्याय मान लिया गया। शरीर और प्रकृति आत्मा-परमात्मा से पृथक् दूर पड़ गये और उन्हें अब्रह्म की संज्ञा मिल गयी। यह बहुत कुछ भ्रम के कारण ही हुआ। प्रमाण यह कि ब्रह्मवादी 'पुरुष' ने स्वयं को परम ब्रह्म का प्रतीक और 'स्त्री' को प्रकृति का प्रतीक घोषित किया। यह घोषणा हास्यास्पद और असत् है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा शब्द शरीर से ब्रह्म तक के लिए प्रयुक्त हुआ है। वहाँ प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, आनन्दमय आत्मा का वर्णन है। भृगु के आख्यान में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार उपनिषदों में आत्मा नाम 'सत्' (अस्तित्व) की समग्रता को दिया गया है, मात्र गर्भस्थ सूक्ष्मतम को नहीं। 'आत्मिकता', 'आत्मीयता' आदि उक्तियाँ भी किसी सूक्ष्मतम के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका अर्थ परस्परता होता है और परस्परता एकांगी सूक्ष्म-स्तर पर नहीं, समग्र के तल पर ही सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्म को विराट् समग्रता के रूप में देखना और मानना सभी दृष्टियों से सार्थक और उपयोगी है। गीता के विराट् रूप दर्शन के माध्यम से शायद यही बात कही गयी है। हिन्दू-दर्शन में ब्रह्म का समग्र रूप स्वीकृत पर उपनिषद्-काल के बाद उसका एकांगी आध्यात्मिक परमसूक्ष्म रूप मानस में प्रतिष्ठित हो गया। यह प्रतिष्ठा ही मायावाद का प्रेरणा-स्रोत बनी।

आस्तिकता

उपनिषद् के ऋषियों से लेकर आधुनिक विचारकों तक कितनों ने ही ब्रह्म के उपर्युक्त समग्र विराट् रूप का समय-समय पर साक्षात्कार किया है। यही साक्षात्कार जैनेन्द्रजी ने भी किया और उसी में से उन्हें वे उद्भावनाएँ मिलीं, जो बार-बार छुप जाने वाले सूक्ष्म सत्य को उद्घाटित करती हैं। जैनेन्द्रजी ने इस भ्रम को विश्वास और उपासना का विषय मात्र न रहने देकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप में इसकी अत्यन्त वैज्ञानिक और अकाट्य व्याख्या की है, जो उनकी सबसे बड़ी देन है। उपर्युक्त समग्र ब्रह्म में विश्वास ही उनकी आस्तिकता है और यही आस्तिकता उनके दर्शन का पहला तत्त्व है।

अहं का आरम्भ

फिश्ते ने ब्रह्म का वर्णन उस परम पुरुष के रूप में किया है, जो अपनी एकता से ऊबकर स्वयं को अनेकता में विभाजित कर लेता है, जिससे वह अपने ही एक अंश

को दूसरे अंश की आँखों से परखने का मजा ले सके । उपनिषदों में भी वर्णन है कि ब्रह्म ने ईक्षण किया और उसके संकल्प मात्र से सृष्टि उत्पन्न हो गयी । सृष्टि का अर्थ ही है विविधता, अनेकता । बादरायण की मान्यता है, सृष्टि से पहले उसके असद् होने का अर्थ उसका अभाव नहीं है । अर्थात् स्थूल तत्त्व अथवा पिण्ड विशेष सूक्ष्मतम रूप में परिवर्तित होकर भी अपने व्यक्तिगत सत्त्व को सुरक्षित रखते हैं । उनके स्थूल रूप के अनस्तित्व को उनका अभाव न मान लिया जाय । परमाणुओं में परस्पर विभिन्नता है । सांख्य में अनगिनत नित्य-पुरुषों अथवा जीवात्माओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । इस प्रकार एक पक्ष यह हुआ कि सूक्ष्मता की चरम स्थिति में भी तत्त्वों का वैविध्य सुरक्षित रहता है । दूसरा पक्ष यह कि वहाँ विविधता नहीं रहती; अन्त में बस एकता ही शेष बचती है । शायद सच यह है कि अन्तिम अवस्था में पहुँचकर अनेकता इतनी अचेत और तद्गत बन जाती है कि मानो असद् ही हो उठती है । ब्रह्म जैसे सागर है और उसके अन्तस्तल में लहरों की अनेकता नहीं है । सूक्ष्मतम विचार (Idea) से स्थूल पिण्ड तक अस्तित्व के विविध स्रोत ब्रह्म सागर में पर्यवसित, विलुप्त हो जाते हैं और ब्रह्म में सृष्टि-संकल्प उत्पन्न होते ही फिर से प्रकट होने में देर नहीं लगाते । विराट् ब्रह्म में विलीन भौतिक तत्त्व, चेतन जीव और जड़ वस्तु जिस क्षण अपनी विसर्जित पृथक्ता को प्राप्त करते और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात का क्रम आरम्भ करते हैं, इसी क्षण से जैनेन्द्र तत्त्व, जीव, पिण्ड के व्यक्तिगत अहं की सत्ता स्वीकार करते हैं ।

अहन्ता और आत्मता

मैं समझता हूँ 'अहं' अर्थात् 'मैं' केवल चेतन जीव तक सीमित नहीं है । जड़ भी अपना 'मैं' पन, अपनी अहन्ता, रखती है, यद्यपि उसे उसका बोध, उसकी अनुभूति नहीं है और उसमें अपने 'मैं' पन को दूसरे के 'मैं' पर आरोपित करने की इच्छा अथवा क्षमता भी नहीं होती । जड़ता पूरी तरह प्रवाह पर आश्रित होती है । प्रवाह को चुनौती वह नहीं दे सकती । चेतना वैसा कर सकती है । इसलिये जीव का 'अहं' व्यक्त, प्रखर और सक्रिय होता है, जब कि जड़ का 'अहं' अव्यक्त और निष्क्रिय । पर जड़ में भी ऊर्जा है और एक धातु में निहित ऊर्जा दूसरी धातु में निहित ऊर्जा से विविध है । यह विविधता जड़ के भी 'अहं' की स्थापना करती है । जीव की चेतना और जड़ की ऊर्जा में अन्तर है । एक में कामना है, दूसरे में नहीं । पर दोनों एक ही परम प्रेरणा से चालित हैं । तभी चेतना ऊर्जा का उपयोग करती है और ऊर्जा चेतना को जीवन-दान देती है । अस्तु । असंख्य ग्रह, धरती, भूत, जीव, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, फल, फूल, अणु, परमाणु सब अपनी-अपनी अहन्ता रखते

हैं। अपनी-अपनी आत्मता रखते हैं। 'अहन्ता' और 'आत्मता' को यहाँ प्रचलित लौकिक अथवा नैतिक अर्थ में न लेकर वैज्ञानिक अर्थ में ही लेना होगा। अहन्ता अर्थात् अंश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अंश का समग्र व्यक्तित्व। जैनेन्द्र इस व्यक्तिगत अस्तित्व के 'अहं' को सृष्टि और जीवन का केन्द्र मानते हैं, क्योंकि 'अहं' की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है और उसके क्षय के साथ उनका विलय।

अहं की सजगता और सक्रियता

वैज्ञानिक अर्थों में जीव और पिण्ड दोनों के 'अहं' की सत्ता स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक अर्थों में चेतन प्राणियों के ही 'अहं' को जाना और माना जाता है। प्राणि-मात्र में भी मानव-प्राणी का 'अहं' सर्वाधिक सचेत और सतेज है और उसमें भगवत्प्रवाह के अनुभव उसकी अभिव्यक्ति और उसको प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता है। मानवेतर प्राणी भगवत्प्रवाह का आंशिक अनुभव भले ही कर लें, पर उसकी अभिव्यक्ति और उसको प्रभावित कर पाने का विवेक-बल उनको नहीं मिला है। अन्य प्राणियों का 'अहं' रूढ़ और जातिगत है, जब कि मानवीय 'अहं' व्यक्तिगत और विकासशील है। यह विकासशीलता मानव को प्राप्त प्रज्ञा के कारण ही सम्भव हुई है। प्रज्ञा ब्रह्म के संकल्प एवं विचार (Idea) का अंश है, जो मानवेतर जीवों को उपलब्ध नहीं है। उनके मानस का विकास चेतना-स्तर तक ही हुआ है ? उनमें (Instincts) की प्रधानता है। मानव में इन्यटिंक्ट्स हैं, पर प्रज्ञा उनके ऊपर स्थापित है। प्रतीत होगा कि यहाँ 'अहं' का अर्थ व्यक्तिगत या जातिगत मानस अथवा चरित्र हो गया है और भौतिक अस्तित्व की उपेक्षा हो गयी है। पर भौतिक अस्तित्व समस्त प्राणियों में इतना अधिक स्थिर और उसका विकास इतना अधिक अदृश्य है कि वह सविवेष नहीं रहता और मानसिक 'अहं' में निहित—स्वीकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार 'अहं' अंश के अस्तित्व ही नहीं, उसकी गति और उसके आचरण-चरित्र का पर्याय भी बन जाता है। वस्तुतः अंशता के अननुभूत अस्तित्व से ही नहीं, अंश द्वारा उसकी सचेत अनुभूति और क्रिया-प्रतिक्रिया से भी अहं का आरम्भ है। अपने अस्तित्व के प्रति इस सजगता और सचेत सक्रियता को ही जैनेन्द्रजी अहं नाम देते है। वैसे अहं कोई पृथक् भौतिक तत्त्व नहीं है।

समग्र अहं को समझना

अहं का लौकिक एवं नकारात्मक भाव अहंकार शब्द में निहित है, जिसका अर्थ गर्व या घमण्ड किया जाता है। पर जैनेन्द्र के 'अहं' का यह सीमित अर्थ नहीं है। वह समग्रात्मक है। उसमें सिर्फ अंश के अस्तित्व के सभी स्तरों (भौतिक,

प्रमाणिक, मानसिक, बौद्धिक) का ही समावेश नहीं है, उसकी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का भी उसमें ग्रहण है। ये प्रवृत्तियाँ हैं—अश का शेष के प्रति स्वीकार एवं समर्पण का भाव और उसका शेष के प्रति निषेध और हठ का भाव। इन दोनों प्रवृत्तियों को ही जैनेन्द्रजी क्रमशः अहिंसा एवं हिंसा नाम देते हैं और ये ही द्वन्द्व की आधारशिला हैं। यह है जैनेन्द्रजी का 'अहं' जिसकी सही समझ बहुत आवश्यक है। इस 'अहं' को लौकिक, निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करके ही जैनेन्द्रजी के कई आलोचक उनके पात्रों की त्रुटिपूर्ण आलोचना कर गये हैं। वास्तव में किसी भी मानव अथवा धारा को सही रूप में समझने के लिये उसके 'अहं' को उपर्युक्त सर्वांगीण रूप में (अस्तित्व एवं प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से) आत्मगत कर लेना अनिवार्य है, नहीं तो उसके प्रति दोषपूर्ण एकांगी रुख अपनाने का खतरा हमें उठाना होगा और हम घटना अथवा समस्या के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पायेंगे। सहानुभूति का अर्थ दम्भ दिखाना नहीं है। उसका अर्थ है, विषयी द्वारा विषय के साथ, विषय की दृष्टि से सोचना, अनुभव करना। तभी हम समक्ष मानव अथवा धारा विशेष का गूढ़, सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

संगठित सामूहिक अहं

जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि 'अहं' केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, समूह का भी संगठित 'अहं' होता है। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और समाजवाद ऐसे ही संश्लिष्ट संगठित 'अहं' हैं। सामूहिक 'अहं' का आचरण ठीक व्यक्तिगत अहं जैसा ही होता है। जैनेन्द्रजी इस विश्वास का खण्डन करते हैं कि समूहों, संगठनों का आचरण अनिवार्य रूप से व्यक्ति की अपेक्षा ही अधिक उदार अहिंसात्मक एवं शुभ होता है। उनका कहना है, दायरा फैल जाने से प्रकृति और प्रवृत्ति में अन्तर नहीं पड़ जाता। व्यक्ति हो या समूह, जब तक उसका 'अहं' शेष के प्रति स्वीकारात्मक—समर्पणात्मक नहीं होगा, तब तक उससे कल्याण की सम्भावना नहीं है। इसलिए वे राष्ट्रवाद, पूँजीवाद या समाजवाद के प्रशंसक नहीं दीख पाते, क्योंकि ये सभी छोटे-बड़े दायरे हठवादी हिंसात्मक रुख अपनाकर खड़े होते और चलते हैं। जितना सीमित हित ये कर पाते हैं, उससे कहीं असीम द्वन्द्व, त्रास एवं ह्रास के प्रेरक ये जान ही बन जाते हैं। जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि व्यक्ति, समूहों और संगठनों के अन्तर्गर्भ में से जब तक अहं की इस निषेधात्मकता और हठवादिता को पहचाना और पकड़ा नहीं जायगा और उसे समर्पणात्मक, समन्वयात्मक नहीं बनाया जायगा, तब तक युद्धों का समूलोन्मूलन असम्भव है। जैनेन्द्रजी आज के आतंक और त्रास का जिम्मेवार विज्ञान को नहीं, 'अहं' के इस पर-निषेधात्मक रुख को ही मानते हैं। उनकी सम्मति में विज्ञान सहायक है। वह जो अवरोधक बना है, वैसा

उसके निषेधात्मक अहं के हाथों में पड़ जाने के कारण ही हुआ है । इसलिये समस्या विज्ञान की नहीं, 'अहं' की है ।) आज बुद्धिवादियों एवं दार्शनिकों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य इस अहं का संस्कार करना ही हो जाता है (। और जब अहं संस्कृत अर्थात् शेष के प्रति समर्पणात्मक हो जाता है, तब व्यक्तिवाद और समाजवाद-समूहवाद दोनों ही समान रूप से कल्याणमय बन जाते हैं । ऐसा न होने पर व्यक्ति समाज के हाथों और समाज व्यक्ति के हाथों में खिलौना बनकर रह जाता है ।) हो सकता है, अहं का ऐसा परिष्कार असम्भव कल्पना ही माना जाय, पर उसे प्रज्ञा के सामने निरन्तर उपस्थित रखे, यह मानवता के बुद्धितत्त्व का कर्त्तव्य बन जाता है । अहं को इस रूप में देखना निश्चय ही जैनेन्द्र-विचारणा की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है । व्यक्ति अहं को गालियाँ देने से हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे, क्योंकि जैनेन्द्रजी का कहना है कि हम हर घड़ी व्यक्ति (प्रज्ञा-शक्ति-भावना) के ही सम्पर्क में तो आते हैं । तथाकथित समाज घटक से हमारा सामना कभी नहीं होता ।

अंश अहं ब्रह्म से आवृत

अहं के सम्बन्ध में दूसरा सबसे विशेष तथ्य यह है कि अहं अंश और शेष भगवत्ता (पूर्ण अस्तित्व) के बीच एक अनिवार्य द्वार है, जिस प्रकार द्वार के माध्यम से घर शेष सृष्टि के भौतिक तत्त्वों, आकाश, पर्वत, जल, धरती, अन्न तथा अन्य प्राणियों से जुड़ा होता है, उसी प्रकार अंश भी शेष भगवत्ता के ऋत, चेतना, कामना, नीति, विचार आदि सभी अंगों से जुड़ा है । ब्रह्म स्वयं को अंश यानी अहं में अभिव्यक्त करता है । अहं शेष का अंश है । स्वयं को अंश मानने की भावना अहं में जितनी विकसित और दृढ़ होती है, उतना ही अहं विस्तृत बन जाता है और पूर्णता उतने ही वेग से व्यक्ति-मानस के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है । तब अहं की दीवारें जैसे पारदर्शी बन जाती हैं । सम्पूर्ण ब्रह्म अहं में फूटा पड़ने लगता है । इस प्रकार जैनेन्द्र व्यक्त मानसिकता (Conscious Mind) के नीचे किसी रहस्यमय अन्धकारमय ग्रन्थिमय अवचेतन मानसिकता (Sub-Couscious Mind) की सत्ता को नहीं, ब्रह्म को ही मानते हैं । अवचेतन के सत्ता से एक कुटिल आतंक की-सी ध्वनि निकलती है । उसे हम अशुभ मान लेते हैं । पर व्यक्त, दृश्य, मानव-व्यक्तित्व के नीचे जो अव्यक्त, अदृश्य छुपा है, उसे कुटिल और अशुभ मानने की आवश्यकता जैनेन्द्रजी को नहीं दीख पड़ती । वरन् वे उस तथाकथित अव्यक्त, अदृश्य अवचेतन को ब्रह्म की संज्ञा देते हैं, ब्रह्म में अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं । यदि व्यक्ति-अहं शेष भगवत्ता के प्रति उन्मुख रहे, तो व्यक्ति की सम्भावनाएँ गुणानुगुणित होती हैं । यदि अहं सिर्फ स्व में केन्द्रित रहे, तो वे संकुचित-अवरुद्ध होती हैं । जहाँ तक पाश्चात्य मनोविज्ञान के ग्रन्थि-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, जैनेन्द्रजी उसे यथावत् स्वीकार नहीं करते । उसकी

कार्य-कारण व्यवस्था, विशेषकर फ्रायड की व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या उन्हें मान्य नहीं। वे व्यक्ति अहं की स्व-केन्द्रिता और पर-निषेधक हठवादिता को ग्रंथियों के बनने का कारण और उसकी समर्पणात्मकता को उनके खुलने और मानस के स्वच्छ होने का उपाय मानते हैं। पर ग्रन्थि शब्द के प्रयोग में ही जैनेन्द्रजी की विशेष श्रद्धा नहीं है। वे अहं और ब्रह्म (समग्र) की इस परस्परता को और व्यक्ति के ब्रह्म (समग्र) द्वारा आवृत होने की सत्यता को ही मनोविज्ञान का आधार कहते हैं। जुंग ने अवचेतन के भेद किए हैं, व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक अवचेतन और इस प्रकार उसने व्यक्ति-मानस के नीचे समग्र के अस्तित्व को आंशिक रूप में स्वीकार किया। यदि इस परस्परात्मक दृष्टि से विचार किया जाय, तो मनोविज्ञान पर एक नया प्रकाश पड़ता है और स्वयं मनोविज्ञान की ग्रंथियां खुलती हैं। तब अवचेतन-चेतन बुद्धि-सम्बुद्धि परस्पर विरोधी होने के बदले सहयोगी सिद्ध हो जाते हैं। जुंग ने इस सहयोग की सम्भावना की ओर संकेत किया है। व्यक्ति-मानस को ग्रन्थियों की गुलझट मात्र मान बैठना और उन ग्रंथियों को मात्र साँसारिक तृप्तियों से खोलने का प्रयास करना रोग का सही, वैज्ञानिक निदान नहीं है। मानव के प्रति इतना अविश्वासी होना और उसके रोग को इतने ऊपरी तल से छूने का प्रयत्न करना प्रभावी नहीं हो सकता। उसके रोग का मूल इंद्रिय, मन और बुद्धि से बहुत गहरे में उसके अहं की दुधारी (पर-स्वीकार, पर-निषेधात्मक) प्रवृत्तियों में निहित है। अहं जीव को ब्रह्म की ओर से मिली एक सत्ता है। जीव की कृतार्थकता उस सत्ता को समर्पित करने में है, कि हठ से उसे जड़ीभूत और ग्रंथिमय बनाने में।

अहं की कसौटी परस्परता

अहं-तत्त्व का अध्ययन इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। अहं की कसौटी परस्परता है। अहं का पर-स्वीकार और समर्पण-भाव उसका शुक्ल पक्ष, उसकी प्रियता और नैतिकता है। और उसका पर-निषेधात्मक हठवाद उसकी अप्रियता और अनैतिकता। इस नैतिकता-अनैतिकता की जाँच तभी हो सकती है, जब एक अहं अन्य चेतन-अचेतन अहं शक्तियों के सम्पर्क में आता है। ऊपर अहं और ब्रह्म की परस्परता का जिक्र आ चुका है। इस परस्परता पर विस्तृत विचार किए बिना अहं की गति और उसके आचरण का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता और शेष के साथ उसकी सापेक्षता को समझा नहीं जा सकता। हम आगे देखेंगे कि सभ्यताओं-संस्कृतियों की उन्नतावनत अवस्था इसी बात पर निर्भर करती है कि परस्परता को कितना प्रिय, सहज और समग्र वे बना पायीं। परस्परता की इस समस्या के हल की कोशिश में ही सारा ज्ञान-विज्ञान विकसित हुआ। इस समस्या के कई रूप हैं। ब्रह्म और विभिन्न चेतन-अचेतन अहं शक्तियों की परस्परता; प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्प-

रता; मानव-मानव की परस्परता। यद्यपि मानव के लिये सबसे अधिक तात्कालिक महत्व की चीज मानव-मानव के बीच का सम्बन्ध ही है, पर पहले और दूसरे रूप से भी उसका कम सीधा रिश्ता नहीं है। वस्तुतः अहं की हर सक्रियता समस्या के उपर्युक्त तीनों रूपों से घनिष्ट होकर ही क्रियमाण हो सकती है।

ब्रह्म-जीव पारस्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप क्या है, यह पहले ही विचार का विषय बन चुका है। अस्तित्व की समग्रता, पूर्णता का नाम ही ब्रह्म है; मानव की सीमित बुद्धि उसकी यही परिभाषा कर सकती है। सारे ग्रह, लोक उस समग्र, पूर्ण के तुच्छ अंश हैं। सब अपनी-अपनी सीमित कक्षाओं में घूमते हैं और एक-दूसरे के साथ अटूट आकर्षण और सम्बन्ध में बँधे हैं। सब एक-पर को प्रभावित करते हैं। क्षण-क्षण इन ग्रहों का प्रलय और नूतन निर्माण हो रहा है। मानव-कल्पना के लिए अन्तरिक्ष में सधे इन विराट् ग्रह-मण्डलों के और उनकी परस्परता के चित्र को आत्मगत करना असम्भव है, पर अनादिकाल से ये हमारी भाव-कल्पना, जिज्ञासा और खोज के विषय रहे हैं। अंतरिक्ष विज्ञान इसी खोज का परिणाम है। हमारी अपनी धरती पर जो नाना विस्फोट, ज्वार-भाटे और भौतिक परिवर्तन होते हैं, वे भी समग्र की प्रेरणा से निरपेक्ष नहीं होते। वर्तमान विभिन्न ऋतुओं, धातुओं, वनस्पतियों, जीवों की यह विषमता-विविधता शेष समग्र में उपस्थित नानात्व से असम्बद्ध नहीं है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध पर तो धर्म, दर्शन और विज्ञान सभी ने खुलकर विचार किया है। ज्योतिष और भाग्यवाद इसी विचारणा के अधकचरे फल हैं। असल में जो समग्र, भौतिक शक्तियों अन्तरिक्ष के ग्रहों, उनकी किरणों के रूप में प्राण-जगत् को प्रभावित करता है और इस प्रकार उसके भविष्य का निर्माण करता है, उसका सम्पूर्ण ज्ञान न मानव आज तक प्राप्त कर सका है और न ही विज्ञान की सहायता से शायद वह कर सकेगा। जितना हम जान पाते हैं, उतना ही अगाध अंधेरा हमारे सामने लहरा उठता है। इसीलिए प्राणी के क्या, हर अस्तित्व के भाग्य को अज्ञेय कहा गया है और जैनेन्द्रजी अज्ञात के अज्ञेय बने रहने में ही आकर्षण और शुभता देखते हैं। शेष विराट् में निहित सम्भावनाओं के व्यक्ति-अहं में आंशिक प्रवेश पा लेने पर ही महान् प्रतिभाएँ जन्म लेतीं और विकसित होती हैं। ऐसा तभी होता है, जब व्यक्ति अहं का द्वार अवरुद्ध नहीं, उन्मुक्त होता है। जैनेन्द्रजी प्रतिभाओं की उत्पत्ति का यही स्पष्टीकरण देते हैं। और जब अहं के दर-दीवार एकदम पारदर्शी, वायव्य बन जाते हैं, तब ऋषियों, पैगम्बरों और समर्पित भक्तों-प्रेमियों की सृष्टि होती है। सर्वग्रासी परस्परता की समुचित साधना के लिए इस ब्रह्म-जीव की परस्परता को जानना-मानना, उपलब्ध

करना बहुत आवश्यक है। हर भक्त, दार्शनिक और कवि ने ईश्वर का जो गुणानुवाद किया है, उसका यही रहस्य है। यही आस्तिकता है। इस दृष्टि से नास्तिकता एक अर्थहीन उक्ति बन जाती है और किसी को भी नास्तिक समझना असंगत प्रतीत होने लगता है।

प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति

परस्परता का दूसरा रूप है, प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्परता। ब्रह्म और विविध अहं-घटकों के बीच के सम्बन्ध लीला-प्रधान हैं, पर जीव और प्रकृति की परस्परता का सार-तत्त्व उपयोगिता है। चेतन प्राणी अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। प्रकृति जीवों की प्राण-शक्ति को और उनकी वृत्तियों को पुष्ट बनाती है। जीवों का प्रकृति से जो भावमय सम्बन्ध प्रकट है, वह लीला पर नहीं, उपयोग पर आधारित है। जीव प्रकृति का ही उपयोग नहीं करते, अन्य हीनतर जीवों का भी उपयोग करते हैं। वे उनको खाते हैं। मानव की उपयोग क्षमता प्रकृति और मानवेतर प्राणियों तक ही सीमित नहीं है। मानव अन्य मानवों का भी विधिवत् शारीरिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक उपयोग अथवा शोषण करता है। मानवेतर प्राणियों द्वारा उपयोग इंस्टिक्ट—नियमित होता है, जब कि मानवीय उपयोग-प्रणालियाँ बुद्धि-नियमित होती है। मानवों-मानवेतर जीवों और प्राकृतिक तत्त्वों की परस्परता में से ही जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, रसायन, चिकित्सा, भौतिकी भूगर्भ विज्ञान, धातु-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और नाना प्रकार के शिल्प आदि उपजे हैं। विद्युत्, गैसीय और अणु-उद्जन शक्तियों का विकास भी इसी परस्परता की देन है। जैनेन्द्रजी इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को ब्रह्म-जीव और मानव-मानव की परस्परता के स्वस्थ विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और विज्ञान को विरोधी नहीं, परस्पर पूरक घोषित करते हैं। यह भौतिक उपयोगवाद भावना और लीला तक पहुँचने के लिए सीढ़ी है, उसके मार्ग की बाधा नहीं। जैनेन्द्रजी का मानना है कि विज्ञान ने मानव को जो गति की तीव्रता प्रदान की है, उसने शिक्षा और सहानुभूति का जो अप्रतिम विस्तार किया है, उससे मानव-मानव के निकटतर आया है और दूरी नगण्य बन गई है। उसी के कारण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति सभ्यताओं का सम्मिलन-सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है, जिसके फलस्वरूप एक विश्व-सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हो चला है। अणु-युद्धों द्वारा अन्तिम प्रलय का जो संकट आज मानव के सिर पर मँडरा रहा है, उसके लिए विज्ञान नहीं सामूहिक तल पर हमारी अपरिष्कृत मानसिकता और विस्तृत अहं-चेतनाओं के संघर्षशील वृत्त (राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, समाजवाद आदि) ही उत्तरदायी हैं। जैनेन्द्रजी उपयोगितावाद के पीछे अहं का उदात्त समर्पण देखना चाहते हैं। इस प्रकार कर्मवाद

अभिशाप के स्थान पर वरदान बन सकेगा और वह साध्य नहीं साधन की औचित्य सीमा में बँध जायेगा।

मानव-मानव की परस्परता

मानव-मानव के सम्बन्धों की समस्या मानव के सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या है। इस वैज्ञानिक युग की गुत्थी ही यह है कि हमने मानव-प्रकृति की परस्परता को मानव-मानव की परस्परता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है और हम चेतन मानवों की सम्भावनाओं को भी मानवेतर अथवा जड़-प्रकृति के गणना-प्रक्रियात्मक माप-दण्ड से ही नापने का दुःसाहस करते हैं। और उसी को वैज्ञानिक कहते हैं। समाजवाद-साम्यवाद में यही हुआ है। व्यक्ति के प्रति अविश्वस्त इन प्रणालियों में मानव को अन्न-वस्त्र-सेक्स और सांस्कृतिक कार्यक्रम मात्र से तृप्त रहने वाला यन्त्र मान लिया गया है। जैसे उसके अहं की सत्ता ही वहाँ अस्वीकृत है। असाम्यवादी देशों में भी राजनीतिक-आर्थिक स्थितियाँ एवं आवश्यकतायें कुछ ऐसी हैं कि व्यक्ति को उपयोग का उपादान भर ही मानने को शासन-यन्त्र बाध्य हैं। सभ्यता का अर्थ भौतिक-स्तर का उन्नयन और संस्कृति का अर्थ कलात्मक मनोरंजन बन गया है। अण्वस्त्रों के आतंक की छाया है, सामूहिक अहं-चेतना की वेदी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि दे दी गई है। उपयोगितावादी योजनाओं के लिए मानव-यन्त्रों के थोक उत्पादन का लक्ष्य ही सरकारों के सामने रहता है। जैनेन्द्र मानते हैं कि यह बहुत स्वस्थ और संस्कृत प्रक्रिया एवं परम्परा नहीं है। इससे व्यक्ति-अहं में ज्वरोत्पीडन की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। मानव-मानव के बीच सरकार और पार्टी की लौह-भित्ति खड़ी दीखती है और वह व्यक्ति की परस्परोन्मुखता के मार्ग में सहायक होने के बदले बाधक ही सिद्ध होती है। मानवों के जड़वत् उपयोग को जितने बड़े पैमाने पर आज साधा जा रहा है, उतने बड़े पैमाने पर इतिहास में कभी भी साधा नहीं गया था। और ऐसा राष्ट्रीय-सामूहिक अहं-चेतनाओं की तृप्ति के लिए वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है, प्राचीन शारीरिक गुलामी की प्रणाली से नहीं। जैनेन्द्रजी मानव-मानव की परस्परता के उपर्युक्त पक्ष में सबसे बड़ा दोष यह देखते हैं कि किसी भी समूह-अहं के प्रति निष्ठावान् मानव अन्य मानवों के और समग्र ब्रह्म के प्रति समर्पित रह ही नहीं पाता अथवा वह इतना यन्त्र बन जाता है कि किसी के प्रति भी निष्ठा रखने की उसमें रुचि और शक्ति ही वर्तमान नहीं रहती। आज सामूहिक महत्त्वकांक्षाओं का ऐसा भीषण दबाव व्यक्ति-अहं पर पड़ा है कि वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गया है और उसमें वैज्ञानिक प्रगति को सामने और झेलने में समर्थ मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है। जैनेन्द्रजी के अनुसार ऐसी मानसिकता का आधार मानव का मानव के प्रति प्रेम

हो सकता है, उसका समूह-विवेक में विलीन हो जाना नहीं। संगठन 'एक के स्वीकार—शेष के निषेध' इस स्फूर्ति से ही प्रेरित होते हैं। किन्तु व्यक्ति के अन्य व्यक्ति के प्रति प्रीति-भाव में शेष के प्रति निषेध-भाव अनिवार्य नहीं मिलता। इस प्रकार मानव-मानव की परस्परता मूल व्यक्ति-अहं के परिष्कार एवं विकास का साधन बन जाती है और ऐसे व्यक्ति-अहं सामाजिक-राष्ट्रीय अहं-चेतनाओं में से हिंसात्मक डंक नोच फेंकने और उन्हें नैतिक स्तर तक उठाने में समर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा जैसा उदात्त निर्माण सम्भव है, वैसा सामूहिकता के हाथों सम्भव नहीं है। महात्मा गाँधी व्यक्तिगत सम्पर्क और प्रीति के माध्यम से ही पंडित नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, सरदार पटेल जैसे व्यक्तित्व भारत को दे पाये, एक संगठनवादी जोश और रोष में से वैसा हो पाना दुःसाध्य था। इस प्रकार जैनेन्द्रजी व्यक्ति-व्यक्ति के सम्पर्क, प्रेम और समर्पण में वह नैतिक विद्युत् देखते हैं, जो एक साथ लाखों की मानसिकता को उदात्त और प्रकाशमय बना देने में और उनकी सक्रियता को सर्व-भूतहित की ओर मोड़ देने में समर्थ है। व्यक्ति-मेधा ने ही विज्ञान का सृजन किया है। व्यक्ति-हृदय ही उसकी प्रलयंकरता को मुट्ठी में बांधने में सफल होगा। यह आश्चर्य का ही विषय है कि भौतिक अणु की विराट् सम्भावनाओं के प्रति सजग वैज्ञानिक द्वारा मानव-चेतना की घोर उपेक्षा कैसे सम्भव हो पा रही है।

सेक्स, प्रेम, साहचर्य

मानव-मानव की परस्परता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग नर-नारि संयोग अर्थात् सेक्स है। सेक्स पर जैनेन्द्रजी ने बहुत लिखा है। वे सेक्स को उपेक्षणीय अथवा घृण्य नहीं मानते। वे उसका कार्य-प्रभाव क्षेत्र मात्र संतति-उत्पादन तक भी सीमित नहीं करते। सेक्स को वे मूलभूत शक्ति और स्फूर्ति मानते हैं, जो व्यक्ति-अहं का परिष्कार करने और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में समर्थ है। व्यक्ति-अहं का नग्नतम वस्तुवादी रूप सेक्स क्षेत्र में ही प्रकट होता है और यहाँ जो संस्कार और प्रभाव वह ग्रहण करता है, वे उसके सारे जीवन को और उसके जीवन के माध्यम से सारे विश्व को प्रभावित करते हैं। सेक्स का यह नर-नारी द्वैत कैसे निर्मित हुआ? इस प्रश्न की जैनेन्द्रजी ने बड़ी अनूठी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि समग्र में अहं-चेतनाओं के पृथक् होते ही उनमें पर के सान्निध्य की चाह पैदा हुई। इस चाह के दो रूप हो गये। एक ने चाहा 'वह मुझमें हो।' वह अहं स्त्रीत्व-प्रधान हो गया। दूसरे ने चाहा 'मैं उसमें हूँ' और यह अहं पुरुषत्व-युक्त हो गया। स्त्री-पुरुष एक ही अहं के दो रूप हैं और इस प्रकार अर्द्धनारीश्वर की पौराणिक कल्पना को जैनेन्द्रजी स्वीकार करते हैं। 'वह मुझमें हो।' यह चाह सामने की चाह है और स्त्री अवधारण-शक्ति की प्रतीक है। उसकी प्रवृत्तियाँ हैं ग्रहण, वहन और व्याप्त

आकर्षण । 'मैं उसमें हूं' यह चाह स्थूल पिण्ड में निहित गति और शक्ति की चाह है । पुरुष उसी का प्रतीक है और उसकी प्रधान वृत्तियाँ आरोप और प्रगति हैं । जिस प्रकार शून्य पिण्ड को धारण करता है और उसकी गति-प्रगति का क्षेत्र बनता है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष को, शरीर, मन, बुद्धि और भावना हर दृष्टि से धारण करती और उसकी प्रगति को गति देती है । जैनेन्द्रजी आज की सभ्यता को पुल्लिगी सभ्यता कहते हैं, क्योंकि उसमें गति और हिंसा की प्रधानता है । नारी की ग्रहण वहन-वृत्तियों का समुचित योग उसे नहीं मिल पाया है । तभी इस वैज्ञानिक सभ्यता में इतना उद्वेग और विषम असमन्वय है । स्त्री के संयोग से पुरुष अहं में एक स्निग्ध द्रवणशीलता आती है । द्रवित होना, अरूप-शून्य बनना जैसे पुरुष की अन्ततंम की चाह है, जिसे अपनी गति-प्रगति में वह कितना भी ढँके, जो दब नहीं पाती । इसी प्रकार स्त्री की अन्तस्थ कामना रहती है, पुरुष को स्वयं में लेकर उसे गति देकर ग्रह-पथ (Orbit) में फेंक देना । स्त्री-पुरुष के मध्य, उपर्युक्त अन्तस्थ कामनाओं से प्रेरित घात-प्रतिघात निरन्तर चलते रहते हैं और यही मानवीय सक्रियता के मूल गुह्य प्रेरक बन जाते हैं । आज सामूहिक स्वार्थों एवं महत्त्वाकांक्षाओं ने नैसर्गिक व्यक्तिगत आकर्षण-अपकर्षण के उपर्युक्त रूप और क्रम को विचलित कर दिया है । स्त्री और पुरुष के बीच सामूहिकता आ गयी है, जिसने प्रगतिशील नर-नारियों को परस्पर समर्पित होने से रोक दिया है और उनमें एक गहरी घुटन पैदा कर दी है। जैनेन्द्रजी नर-नारी के बीच किसी वायव्य आदर्श अथवा स्थूल रूढ़ि को नहीं, शुद्ध प्रेम को वर्तमान देखना चाहते हैं । प्रेम सहनशील और हठशून्य होता है । प्रिय की प्रेमी से अधिक हित-कामना और कोई भी नहीं कर सकता । प्रेमी प्रिय के अहं को सबसे अधिक जानता-पहचानता है और उसका विकास-विस्तार ही उसका लक्ष्य बन जाता है । इससे दोनों को ही समग्र तृप्ति मिलती है और कृतार्थता का अनुभव होता है । इस तृप्ति और कृतार्थता के स्व की सीमाएं टूटतीं और व्यक्ति परोन्मुख—ब्रह्मोन्मुख बनता है । इस प्रकार जैनेन्द्रजी द्वारा की गयी सेक्स की व्याख्या नर-नारी के शरीर-सम्भोग को न तिरस्कृत करती है, न हीं उसमें बँधती है । शरीर सम्भोग प्रेम का स्वाभाविक परिणाम भर रह जाता है । प्रधान चीज है प्रेम, जिससे मिली तृप्ति शरीर-सम्भोग से कहीं गहरी, स्थायी और सर्वग्रासी होती है । यह मानव की सम्भावनाओं को विस्तृत करती और उसके कदमों को विराट् ब्रह्म की ओर मोड़ती है ।

अहंचर्य, ब्रह्मचर्य

जैनेन्द्रजी का 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ भी प्रसिद्ध, लौकिक नहीं है । अपनी वृत्तियाँ सब ओर से हटाकर अहं में केन्द्रित कर लेना अहंचर्य है, शेष सबको अपने प्रेम का

दान करना ही ब्रह्मचर्य कहला सकता है । जो स्व को शेष सबको दे डालने के लिये आतुर बन चुका है, वह शरीर उसकी सीमाओं—वासनाओं में बँधा रह ही नहीं सकता । वह ब्रह्ममय बन जाता है । वह 'पर' का निषेध नहीं, उसका स्वागत करता है । ब्रह्मचर्य को इन्द्रिय-निग्रह के अर्थ तक सीमित करना जैनेन्द्रजी हास्यास्पद समझते हैं । इस विषय में गाँधीजी का उदाहरण हमारे सामने है । वे महात्मा इन्द्रिय-निग्रह के कारण नहीं, अहं की विराटता के कारण कहलाये । अहं के परिष्कार-विस्तार के मार्ग में इन्द्रिय-निग्रह उन्हें स्वतः सिद्ध हो गया । स्व, अहं अथवा काम की विराटता को जैनेन्द्रजी ने और अधिक सूक्ष्मता से समझाया है । वे चंगेजखाँ और बुद्ध, हिटलर और गाँधी के प्रयासों के नीचे काम की विराटता को ही पाते हैं । उनके अनुसार उपर्युक्त विभूतियों के सामने अनन्त जन-विस्तार जैसे स्त्री के समान ही फैला पड़ा था और उसमें उनको उन्मुक्त गति प्राप्त थी । चँगेजखाँ और हिटलर की गति को जैनेन्द्रजी भय और हठ-प्रेरित मानते हैं तथा बुद्ध-गाँधी की गति को प्रेम-समर्पण प्रेरित । इन चारों के पीछे असंख्य लोग उसी प्रकार पागल हो उठे थे जैसे कृष्ण के पीछे गोपियाँ । यदि काम का शरीर-बद्ध अर्थ न लेकर उदात्त सूक्ष्म अर्थ लिया जाय, तो मानव की हर सक्रियता के नीचे 'वह मुझमें हो'—'मैं उसमें हूं' इन दो मूल कामनाओं में से एक अवश्य मिलेगी । काम को विराटता तब मिलती है, जब 'वह मुझमें हो', 'मैं उसमें हूं' के स्थान पर क्रमशः 'सब मुझमें हो',–'मैं सबमें हूँ' । उक्तियाँ मानव- कामनाएँ बन जाती हैं ।

काम और अर्थ (उपयोगितावाद)

मानव की मानसिकता और कार्मिकता का निर्माण दो तत्त्वों से होता है—प्रेम-अप्रेम मूलक काम से और सांसारिक उपयोगितावाद अर्थात् अर्थ से । दम्पति, परिवार, सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व ये क्रमशः बड़ी होती संस्थाएँ काम और अर्थ के इस द्वैत से ही मिलकर बनी हैं । आज उपर्युक्त सभी संस्थाओं में अर्थ-पक्ष की प्रधानता और काम अर्थात् प्रेम-पक्ष की क्षीणता हो चली है । जैनेन्द्रजी चाहते हैं कि हमारी सभी संस्थाओं का मूल उत्स प्रेम में हो । अर्थ में से रस ग्रहण करके ही अपना विकास-विस्तार करे । काम और अर्थ, प्रेम और उपयोगिता का समन्वय धर्म से होता है, जिसका वैज्ञानिक अर्थ है, नीति । नीति-शोषण की नहीं पोषण की; कूट नहीं सरल । हमारा दाम्पत्य, समाज, उत्पादन, वितरण और शासन काम-अर्थ के संयोग से प्रसूत प्रेम-नीति से चले । अनन्त अहं चेतनाओं में उपस्थित घोर विषमताओं के समक्ष प्रेम-नीति का प्रचलन और पालन बहुत कठिन दीखता है, पर यदि प्रेम का अस्तित्व है तो यह फलित होने के लिये ही है, निष्फल होने के लिए नहीं । जैनेन्द्रजी कल्पना के मूल्य को भी खोना नहीं चाहते । कल्पनाएँ ही वास्त-

विकता में बदला करती है । फिर प्रेम कल्पना नहीं है । व्यक्ति-स्तर पर उसका चमत्कार हम नित्य देखते हैं । आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर गाँधी जैसे महापुरुषों ने उसका चमत्कार हमें दिखाया है । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे नेहरूजी उसी सुहृद-नीति के प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं । इसलिये प्रेम को कल्पना मानना मानव का अपमान करना ही समझा जाना चाहिये । हाँ, प्रेम-नीति की सफल सिद्धि तभी सम्भव है, जब उसके पीछे उदात्त काम की तीव्रता अधिक हो, उपयोगितावाद की जड़ता कम । निरस्त्रीकरण की समस्या का हल प्रेम की, ब्रह्मचर्य की इस तीव्रता में से ही आ सकता है । मात्र उपयोगितावाद के उलट-फेर में से वैसा होना असम्भव है । और विज्ञान पर अंकुश भी प्रेम-नीति ही लगा सकती है, समूहवादी कूट-नीति नहीं । समूह से, सबसे प्रेम वही कर सकता है, जो एक से प्रेम करने में समर्थ है । एक मूर्त है, समूह अमूर्त, वायव्य । इस विषय में जैनेन्द्रजी के विचार पहले रखे जा चुके हैं ।

सत्य संयुक्त अहिंसा

जैनेन्द्र-दर्शन के तीसरे तत्त्व परस्परता का यत्किंचित् स्पष्टीकरण मैंने ऊपर किया । परस्परता को अलग तत्त्व का रूप देने का उद्देश्य था अहं की सापेक्षता पर बल देना । अहं की प्रंशता और सापेक्षता अस्तित्व का सबसे बड़ा सत्य है । किसी भी अहं-चेतना को नितान्त रूप में जाना और समझा नहीं जा सकता । जैनेन्द्र-दर्शन का चौथा तत्त्व अहिंसा इसी तथ्य को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करती है । जैनेन्द्रजी के अनुसार अहं में अपनी सापेक्षता की चेतना ही अहिंसा है और नितान्तता का हठ हिंसा है । नितान्तता अव्यवहार्य और अप्रकृत है । इसीलिए उसकी हठ पर की अवमानना और 'स्व' के शेष 'पर' आरोप को प्रेरित करती है । यही हिंसा है । सापेक्षता की अनुभूति 'पर' के स्वीकार और शेष के सम्मुख 'स्व' के समर्पण पर बल देती है । यह अहिंसा है । हिंसा-अहिंसा की यह व्याख्या इन्हीं के लौकिक अर्थों-जीव-वध, जीव-रक्षण—से कहीं अधिक व्यापक वैज्ञानिक और व्यावहारिक है । यह व्याख्या पूर्वोक्त ब्रह्म, अहं और परस्परता में निहित तथ्यवाद का स्वाभाविक विकास है । ऊपर जिस नैतिकता अथवा प्रेम-नीति का जिक्र किया गया था, अहिंसा उसी का अधिक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण है । अहिंसा में तथ्य यानी सत्य की शक्ति और प्रेम के रस दोनों का ग्रहण है । मानव का सम्पूर्ण आचार-शास्त्र जैसे इस एक शब्द में समा गया है । महात्मा गांधी ने इस अहिंसा-शास्त्र को जीवन-व्यवहार में सर्वोच्च स्थान दिया था । किसी भी अहिंसात्मक आचरण को तीन अंगों में बांटा जा सकता है । पहला अंग है, समग्र की अपेक्षा में समस्या के सत्य की अर्थात् स्व और पर की स्थिति की सत्य अवधारणा (Right assessment) दूसरा है, सभी सम्बद्ध व्यक्तियों

के प्रति हृदय के स्नेह का दान और स्व-पर सबके हित का आयास करना। किसी के प्रति भी द्वेष और निन्दा से शून्य होना। तीसरा है, सत्य का निर्भय सशक्त, पर विनम्र आग्रह। इस प्रकार पालित अहिंसा ही सत्याग्रह है। इस पद्धति में सत्याग्रही की स्थितप्रज्ञता, स्नेह-सिक्तता, कष्ट-सहिष्णुता और सर्वस्व-त्याग की तत्परता आदि शर्तें बहुत कठोर शर्तें हैं। सारी प्रक्रिया में द्वेष, क्रोध आदि के आवेश का पूर्ण अभाव वांछ्य है और जो कुछ भी किया जाना है, वह सर्वग्रासी सत्य की प्रेरणा से ही किया जाना है। सत्य की सर्वग्रासिता समग्र ब्रह्म, अंश, अहं और परस्परता, इन तीनों के तथ्य के पूर्ण ग्रहण से ही प्राप्त की जा सकती है। यह सत्य ही अहिंसा की शक्ति है। इसके बिना अहिंसा एक फटा ढोल है, जिसे गले में डाले फिरना हास्यास्पद बन जाता है। यदि सत्य की सूक्ष्म दृष्टि सतत रहे, तो अहिंसक को मात्र 'सीधा', 'भला' कहने का दुराग्रह कोई भी व्यवहार-निपुण व्यक्ति नहीं कर सकता। गांधीजी की सूक्ष्म सत्यनिष्ठता ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों को आधी शताब्दी तक छकाती रही। सत्य की अग्नि के बिना अहिंसा राख-ढके बुझे कोयले के समान है और वह राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय तो क्या, व्यक्तिगत दायरे में भी शक्ति नहीं रहती। जैनेन्द्रजी अहिंसा के इस सत्य-पक्ष पर सबसे अधिक बल देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार गांधीजी के बाद गांधीवादी विचारकों ने इस अनिवार्य तत्त्व 'सत्य' की उपेक्षा प्रदर्शित की है और केवल अहिंसा पर बल दिया है।

हिंसा-अहिंसा

अहिंसा की अग्नि-परीक्षा तब होती है, जब विरोध में कोई ऐसा हठवादी अहं आ टकराये, जिस पर सविनय आग्रह का कोई भी प्रभाव न हो। जब प्रेम की शक्ति ऐसे अहं को झुकाने में विफल हो जाय, तब क्या अप्रेम और हिंसा का आश्रय लिया जाय? जैनेन्द्रजी 'झुकाने की चाह' और 'अप्रेम' इन दोनों उक्तियों के विरुद्ध हैं। इनके पीछे 'पर' के अहं का निषेध छुपा है। पर के अहं के पूर्ण स्वीकार के साथ अर्थात् प्रेम का निषेध न करते हुए अहिंसक को अधिकार है कि वह उपलब्ध सत्य को कार्यान्वित करे। इस कार्यान्वयन में अपने से ईमानदार रहना बहुत जरूरी है। सत्य और प्रेम के उसके 'दावे' 'डिप्लोमेटिक' न हों। वह बड़े-से बड़े आत्म-त्याग को दाँव पर लगाने के लिए और घोर-से-घोर कष्ट को सहने के लिए तैयार हो। उसमें पर के हठ के लिए दुःख हो, आत्म व्यथा हो, क्रोध न हो। इन सब शर्तों को पूरा करते हुए यदि सत्य की रक्षा के लिए अहिंसक से बल-प्रयोग भी यदि हो जाय तो वह, मैं समझता हूँ, जैनेन्द्रजी को अस्वीकार्य नहीं है। फिर भी जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि यदि अहिंसक की निष्ठा पूर्ण हो और उसमें सत्य का तेज प्रखर हो तो उसका सविनय आग्रह विफल नहीं हो सकता। सत्याग्रह की विफलता में कारण हो सकता है

तो वह अहिंसक की अपूर्णता ही हो सकता है। इस विषय मे जैनेन्द्रजी प्रेम-तत्त्व पर विशेष बल देते हैं। नर-नारी प्रेम-रस में जिस प्रकार सब मीठा ही मीठा नहीं रहता, खट्टा, कड़वा और तीखा भी उसमें गर्भस्थ चलता है, उसी प्रकार समस्त सांसारिक व्यवहार में यदि सत्य और प्रेम से प्रेरणा लेकर कुछ नकारात्मक वृत्तियाँ भी सक्रिय रहें तो उनसे हानि नहीं होगी। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, ये सब विष हैं। जन-मानस इनको आसुरी और तामस ही मानता है। पर अहिंसा की विधि से सत्य की अग्नि में फूँककर इन विषों को भी अमृत बनाया जा सकता है। तब ये भी प्रेम और कल्याण को पुष्ट और सिद्ध ही करते दीखेंगे। इन विषों को रस बनाना बहुत दुस्साध्य, पर अनिवार्य साधना है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। हिंसा अर्थात् पर का निषेध अन्तर्मन में रहे, तो ऊपरी अहिंसा ढोंग बन जाती है, लेकिन अन्तर में अहिंसा और प्रेम यदि स्थिर रहें, तो उनसे प्रेरित हिंसा अपना डंक और विष खो देती है, यह निर्विवाद है। जैनेन्द्रजी ने हिंसा-अहिंसा को स्पष्ट करने के लिए सम्भोग-प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत किया है। हिंसा एवं आघात-प्रत्याघात उसमें निहित है। पर वे सब मिलकर युगल को कृतार्थ करने दीखते हैं। विराट् ब्रह्म की समग्र दृष्टि से विचार करें, तब भी यही तत्त्व स्थिर होता है। सृष्टि-प्रलय का क्रम ब्रह्म-शरीर में सतत चलता रहता है। जिसकी सृष्टि होती है और जिसका प्रलय होता है, दोनों ही एक समग्र ब्रह्म के अंग हैं, उससे 'पर' नहीं। इसीलिये ब्रह्म को हिंसा-अहिंसा से परे कहा गया है। उसके लिए न सृष्टि अहिंसा है, न प्रलय हिंसा। क्योंकि हिंसा-अहिंसा स्व-पर भाव से होती है, जो उसमें नहीं है। स्व-पर भाव के मिट जाने पर सीमित उद्देश्य विराट् में परिवर्तित हो जाता है और ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी करता है, वह हिंसा नहीं हो सकता। वह बस विराट् से तद्गत ही हो सकता है। लौकिक हिंसा-अहिंसा दोनों उसमें डूब जाते हैं, खो जाते हैं। जैनेन्द्रजी गांधीजी को उस विराट् से तद्गत मानते हैं और हिंसा-अहिंसा की व्याख्या में उन्होंने बार-बार गांधी-जीवन का हवाला दिया है। अमृतसर में जलियांवाला काण्ड से पीड़ित एक वृद्धा उनके सामने आयी। उसके दो बेटे गोलीकाण्ड में मारे गये थे। वह फूट-फूटकर रो रही थी। बिलख रही थी। उसे देखकर सभी उपस्थित लोगों की आँखों में आँसू भर आये। पर गांधीजी भावहीन रहें। उन्होंने बुढ़िया से पूछा, क्या तुम्हारे कोई और बेटा भी है। बुढ़िया ने 'हाँ' की तो गांधीजी ने तत्काल कहा, तो उसे भी तैयार करो, उसे भी काम आना है। गांधीजी की इस उक्ति को क्यों प्रेम से शून्य और हिंसामय न मान लिया जाय? एक स्थूल-दृष्टि अहिंसाभक्त ऐसी ही गलती करेगा। पर सूक्ष्मता से विचार करें, तो गांधीजी की उपर्युक्त उक्ति के पीछे कोई निर्दयता, पर के कष्ट से अनुरंजित होने की प्रवृत्ति या हिंसा नहीं थी। विराट् मानवता के हित से तद्गत होने का सत्य ही

उनको प्रेरित कर रहा था। इस वृत्ति से ममतावश सारा पंजाब उनके पीछे पागल हो उठा। सत्यनिष्ठ अहिंसक भावुक नहीं हो सकता। मात्र जन्म-मृत्यु, लौकिक हिंसा-अहिंसा उसे उद्वेलित नहीं कर सकते।

जैनेन्द्र-दर्शन की विशेषताएँ

ऊपर जैनेन्द्र-दर्शन के चारों मूल तत्त्वों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने किया है। जैनेन्द्र की विचारणा की एक झाँकी ही इस प्रकार मैं दे पाया हूँ। इस विचारणा की जिन विशेषताओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, उनका उल्लेख किये बिना इस प्रसंग को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। यह विचारणा अत्यन्त वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं क्रमबद्ध है और किसी पूर्वाग्रह को अपनी सिद्धि के लिए अनिवार्य नहीं ठहराती। जैनेन्द्र के ब्रह्म को किसी अन्धविश्वास का उपादान बनने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ है, वह हमारे चारों ओर है। यह जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल सब ब्रह्म है और हम उसके अंग हैं। अपनी बुद्धि और कल्पना के अनुसार व्यक्ति इस ब्रह्म का यथाशक्ति आत्मग्रहण और साक्षात्कार कर सकता है। जैनेन्द्र का ब्रह्म मात्र सूक्ष्मतम तत्त्व अथवा केवल अदृश्य परम शक्ति नहीं है, जिसे कल्पना में लाना कवियों या दार्शनिकों के लिये ही सम्भव हो सकता हो, साधारण जनता के लिए नहीं। वह शून्य और पिण्ड का समन्वय है और कोई अस्तित्व ऐसा नहीं, जो उसमें समाविष्ट न हो। पुरुष प्रकृति का द्वैत वहाँ नहीं है। हो सकता है, ब्रह्म की यह समग्र-अद्वैत व्याख्या नयी न हो, पर उसकी समग्रता पर इतना नितान्त जोर बिरले ही दार्शनिकों ने दिया है। अद्वैतता का विवेचन निःसन्देह काफी हुआ है। जैनेन्द्र का अहं तत्त्व भी विचारक मानस को एकदम आकर्षित करता है। अहं पृथक् व्यक्ति होते हुए भी समग्र का अंश है; इस तथ्य को प्रकाशित करता और उभारता है। अहं में व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व सन्निविष्ट है। मात्र सूक्ष्म चेतना नहीं। यह तत्त्व व्यक्ति की नितान्तता पर सापेक्षता (ब्रह्म से भी अन्य अहं-चेतनाओं से भी) का अंकुश लगाता है। सूक्ष्म, स्थिर तत्त्व आत्मा में अंकुश गर्भित नहीं है, क्योंकि वह शरीर का निषेध करके चलती है और मूल में ही नितान्ततावादी है। इस सापेक्षता में से ही तीसरा तत्त्व निकल आता है परस्परता, जो ब्रह्म-अहं के वैज्ञानिक सत्य को व्यवहार और कर्म की ओर मोड़ देता है। यदि सापेक्षता और परस्परता सत्य अनिवार्य हैं तो वे पर के स्वागत अर्थात् अहिंसा के द्वारा ही सिद्ध और फलित हो सकते हैं। जैनेन्द्रजी की अहिंसा की व्याख्या भी परस्परता पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त मौलिक बन पड़ी है। असल में सापेक्षता और परस्परता जैसा वैज्ञानिक और क्रमबद्ध बल जैनेन्द्रजी की विचारणा देती है, वैसा अन्य दर्शन नहीं देते। यह सापेक्षता और परस्परता उनकी दृष्टि से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सबकी नीतियों

की कसौटी है। यही धर्म एवं नैतिकता है। यह किसी वायव्य आदर्श से प्रेरित नहीं, बल्कि ब्रह्म और अहं के अंशी-अंशभाव से बाध्य है। फिर ब्रह्म और अहं का जो रिश्ता है, उसमें अहिंसा ही सच्ची नीति ठहरती है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र-दर्शन श्रद्धा और जिज्ञासा सूक्ष्म सत्य और स्थूल व्यवहार, पुरुष और प्रकृति सबको अपने में समेट और साथ लेकर चलता है। वह नितान्त नहीं, सापेक्ष है। वह किसी विचार या वस्तु का निषेध नहीं करता। सब में निहित सत्य को खोजता और उपलब्ध करता है।

गाँधीवाद और जैनेन्द्र

गाँधीजी और गांधीवाद ने जैनेन्द्र की विचारणा के निर्माण में कितना याग दिया है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। जैनेन्द्र गांधी-युग की उत्पत्ति है। गांधी ही उनकी विचारणा के मूर्त आदर्श हैं। उन्हीं का वे हर कदम पर हवाला देते हैं। साथ ही गांधीवाद के व्याख्याताओं में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। इससे प्रकट दीखता है कि गाँधीवाद ने उनकी विचारणा को मौलिक रूप में प्रभावित किया है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, जैनेन्द्र को गांधी और गांधीवाद मूल में नहीं, मार्ग में मिले। उनकी विचारणा का स्रोत ब्रह्म की समग्रता के उस साक्षात्कार में है, जिसे जैनेन्द्रजी ने 'आस्तिकता का पाना' कहा है। शेष सब उसमें से निःसृत होता चला गया। सामने ही गांधी थे, जिनका व्यक्तित्व और जिनके कार्य अपनी विचारणा के पुष्ट प्रमाणरूप जैनेन्द्र को दीखे। गाँधीजी ने उन्हें सुलझाव दिया और एक कसौटी प्रदान की। इस प्रकार कहानियों, उपन्यासों और लेखों के रूप में जैनेन्द्र की विचारणा व्यक्त हो चली और धीरे-धीरे एक सुनिश्चित रूप ग्रहण कर चली। जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति में जो सहजता और अनायासता है, वह अन्तःसाक्षात्कार का ही फल मालूम पड़ती है, बुद्धि द्वारा बाहरी विचारों के ले लेने से वह नहीं आ सकती थी। ब्रह्म, अहं और विशेषकर परस्परता की उनकी व्याख्या एकदम मौलिक है और उससे स्वयं गांधीवाद को एक वैज्ञानिक पुष्टि-क्रम प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्रजी गांधीजी का अन्तःस्थ मूल प्रेरणाओं को शायद सबसे अधिक गहराई से समझ और पकड़ सके हैं, इससे अधिक प्रस्तुत प्रसंग में और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

× × ×

आवश्यक है कि कुछ उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर, जिनका स्पष्ट अथवा यथोचित उल्लेख ऊपर के विश्लेषण में नहीं आ पाया, जैनेन्द्रजी के विचार अत्यन्त संक्षेप में यहाँ दे दिये जायँ। वे इस प्रकार हैं :

आत्मा-पुनर्जन्म-कर्मसिद्धान्त

आत्मा शब्द का प्रयोग मुख्यतः उस सूक्ष्मतम नित्य तत्त्व के अर्थ में किया गया

है, जो व्यक्ति-प्राण और चेतना का आधार है, जो पुरुष है, शरीरी है और शरीर में 'मैं' करके स्थित है। शास्त्रों में इस आत्मा को ब्रह्म का अंश कहा गया है। शास्त्रानुसार यही वह है, जो नाना जन्म और शरीर पाता और कर्मफल भोगता है। जैनेन्द्रजी ब्रह्म को ही अन्तिम स्थिर तत्त्व मानते हैं। इसलिए आत्मा को इतनी नितान्त क्षमता वे नहीं दे पाते कि वह ब्रह्म से निरपेक्ष होकर कर्मफल के अनुसार एक शरीर से दूसरा शरीर प्राप्त कर चला जाय। उनका विश्वास है कि हमारा आत्मा शरीर की समाप्ति के साथ ही ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिसका पुनर्जन्म माना जा रहा है, उसमें वही विलुप्त आत्मा वर्तमान है अथवा कोई अन्य अथवा कई अन्यों के अंश, यह कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। कौन कह सकता है कि पेड़ का यह पत्ता वही है, जो पिछली पतझड़ में वृक्ष की शाखा की इसी टहनी पर से टूटा था। चेतना के अजस्र प्रवाह में असंख्य जीव बुलबुलों के समान उठते और खो जाते हैं। जैनेन्द्रजी पुनर्जन्म को इसी रूप में समझ पाते हैं। आत्मा को वे समग्र अहं से भिन्न नहीं मान पाते। यह आत्मा अथवा अहं जब बिखरता है, तो उसके विभिन्न तत्त्व (पंचभूत, चेतना, कामना, विचार आदि) ब्रह्म के समानान्तर तत्त्वों में उसी प्रकार घुल जाते है, जैसे बूँद सागर में एकरूप हो रहती है। साथ ही नये अहं भी निरन्तर उठते रहते हैं। इस प्रकार विलय और प्रकट होने का यह क्रम अबाध चलता रहता है आत्मा उसी रूप में अजर, अमर, अनादि, अनन्त है कि ब्रह्म वैसा है। आत्मा के नित्य व्यक्तित्व को, इस व्यक्तित्व के कर्माधीन पुनर्जन्म को जैनेन्द्रजी व्यवहार और धर्म के लिए उपयोगी मान लें, पर वैज्ञानिक नहीं कह पाते; क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी को भी नित्य वे स्वीकार नहीं कर सकते। प्रश्न उठता है कि तब उन कर्मों का क्या होता है, जो व्यक्ति जीवन भर करता है? जैनेन्द्रजी कहते हैं कि जीवनभर के कर्म भी सक्ष्म रस (Idea), व्यथा रूप ग्रहण कर वाणी की तरह अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाते हैं। नये अहं को अन्य तत्त्वों के साथ-साथ कर्म-रस में से भी एक भाग मिलता है। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म, मात्र व्यक्ति का न रहकर सारे ब्रह्म का बन जाता है और व्यक्ति की जिम्मेदारी घटने के बजाय और बढ़ जाती है।

काम-प्रेम-परिवार

इस विषय पर जैनेन्द्र की उक्तियों एवं मान्यताओं की बड़ी कटु आलोचना हुई है और उन्हें अश्लील एवं अनैतिक घोषित किया गया है। अश्लील और अनैतिक ये दोनों समाज-सापेक्ष शब्द हैं। पर समाज क्या है? क्या वह आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक संगठन मात्र है। जब समाज का अर्थ संगठन किया जाता है, तब उसके नीचे अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न प्रधान बन जाता है, परस्परता का तत्त्व गौण। तब

श्लील और नैतिक का अर्थ समाज-संगठन की अनुकूलता और अश्लील-अनैतिक का अर्थ उसकी अननुकूलता बन जाता है। ये अनुकूलताएँ-अननुकूलताएँ देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय हैं और उन्हें समाज का व्यावहारिक स्थूल अस्थायी आधार ही माना जा सकता है। सूक्ष्म आधार परस्परता है और उसे ही जैनेन्द्रजी स्थायी तत्त्व मानते हैं। अक्सर समाज की नीतियाँ-रूढ़ियाँ परस्परता को अर्थात् प्रेम को अपनी टक्कर में देखती मानती हैं। इसलिए परम्परावादी नीति परस्परतावाद अर्थात् प्रेम को अश्लील और अनैतिक घोषित कर बैठती है। परस्परता की दृष्टि से सच्ची श्लीलता और नैतिकता अहं की मानव-मात्र की ओर उन्मुखता है, जब कि संगठनवाद यह दर्जा व्यक्ति अथवा संगठन की स्वनिष्ठता को देता है। परिवार सबसे छोटा संगठन है। प्रश्न उठता है कि परिवार चहार-दीवारी में ही बन्द रहे या शेष समाज से अपना खुला सम्बन्ध रखे। परम्परावादी भी मानते हैं कि शेष से परस्परता स्थापित किये बिना जिया नहीं जा सकता। पर वे परस्परता का अधिकार केवल पुरुष को देना चाहते हैं। स्त्री की परम्परता उन्हें अनैतिक, अश्लील, अधार्मिक मालूम पड़ती है। प्रश्न है कि जब पुरुष का परस्परता-विस्तार उसे और उसके परिवार को समृद्ध करता दीखता है, तब स्त्री का आत्म-विस्तार उसे विपन्न क्यों करेगा ? जैनेन्द्रजी के अनुसार हम भूल करते हैं, जब विपरीत-लिंगियों में परस्परता, आत्मीयता का अर्थ हम अनिवार्य रूप से कामुकता लगा लेते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। समाज-संगटन के उद्देश्य से, काम के नियमन के लिए, विवाह-संस्था की स्थापना हुई, जिसका नैसर्गिक परिणाम हुआ सपरिवार। परिवार के दम्पति और अन्य व्यसक कितनी सीमा तक विपरीत लिंगियों के सम्पर्क में आये ? देखना होगा कि दाम्पत्य विशेष, परिवार विशेष किस पर टिका है, स्थूल मर्यादा पर अथवा हृदय के समर्पण अर्थात् प्रेम पर ? प्रेम पर टिके दम्पति को एक-दूसरे पर पहरा लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। उनमें परस्पर विश्वास होगा। वे शेष संसार को अपने विरोध में नहीं पायेंगे और यथाशक्ति अपनी आत्मीयता के विस्तार में नहीं हिचकेंगे। यदि कभी स्खलन होगा भी, तो प्रेम समाधान ढूंढ़ लेगा। स्खलन का अनुताप उनके प्रेम को और सुदृढ़ ही करेगा। जहाँ मर्यादा को महत्त्व मिलता है, वहां कामुकता और शरीर सम्भोग मूल्य और उनके प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। बन्दिशें बढ़ती हैं और ग्रन्थियाँ गुणानुगुणित होती हैं। जिस भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से विवाह-संस्था बनायी गयी थी, वही भूगर्भ में पनपता और फैलता है। जैनेन्द्र समाज और परिवार को मर्यादा अथवा समान हित पर आधारित न करके व्यक्ति-व्यक्ति के हार्दिक प्रेम और समर्पण पर स्थिर करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि

प्रेम ही कामुकता, आर्थिक स्वार्थ तथा हिंसक महत्त्वाकांक्षा पर विजय पा सकता है। नीति-नियम, आदेश, मर्यादा वैसा करने में असमर्थ सिद्ध होते है। असल में अस्तित्व-रक्षा भी प्रेम और परस्परता के माध्यम से जैसी हो सकती है, शुद्ध मर्यादा से नहीं। इसलिए परस्परता ही नीति है, नैतिकता है और श्लीलता है। परस्परता के विपरीत जो है, सब अनैतिकता और हिंसा है।

पूँजीवाद-समाजवाद

पूँजी का वाद बनना कब आरम्भ हुआ? एक समय था, जब एक ओर श्रम और दूसरी ओर आभिजात्य ही समाज-मूल्य थे। उस समय जो व्यापार-वाणिज्य द्वारा लाखों-करोड़ों बटोरते थे, उनका समाज-मूल्य नगण्य था। पूँजी का वाद बनना उस दिन आरम्भ हुआ, जिस दिन पूंजी को समाज-मूल्य मिला और पूँजी पैदा करने की स्पर्द्धा जन-साधारण में पैदा हुई। पूँजीपतियों ने विकासशील यन्त्र-विज्ञान का सहारा लिया। उद्योगों का सूत्रपात हुआ। राज्य-सरकारों ने उद्योगों पर कृपा का रुख त्याग कर उनमें सजीव रुचि लेनी आरम्भ की और व्यक्तिगत पूँजी के रक्षण और विकास के लिए कानून बनाये। उद्योग, उत्पादन और वाणिज्य मानव-मानसिकता पर छा गये और धर्म, मर्यादा, नैतिकता के भाव ढँक गये। समय आया कि पूँजीपति सरकार में पहुँचा और सामन्त के स्थान पर स्वयं विधायक बना। सत्ता पूँजीपति के हाथ आ गयी। समाज की सुविधायें पूँजी के आधार पर मिलने और छिनने लगीं। पूँजी ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, पारस्परिकता का नियमन करने लगी और हर समस्या के आर्थिक पहलू को हम सर्वाधिक महत्व देने लगे। इस अर्थ-मानसिकता को ही जैनेन्द्रजी पूँजीवाद का नाम देते हैं। उनका मत है कि पूँजीवाद से समाजवाद तक पहुँच जाना इस अर्थ-मानसिकता से छुट्टी पा जाना नहीं है। खतरनाक चीज यह अर्थ-मानसिकता है, जो उपर्युक्त दोनों ही वादों का समान आधार है। पूँजी से प्रेरित व्यक्ति हो या राष्ट्र, दोनों की विचारणा एक ही पटरी की होगी और दोनों ही नैतिकता और पारस्परिकता को लाँघकर चलेंगे। जैनेन्द्र समाजवाद को राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) कहते हैं, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण पैदा करने की क्षमता आ जाती है। जैनेन्द्र बनिये के हाथ में शस्त्र और कानून का देना शुभ नहीं मानते। राज्य का वणिक् और पूँजीपति बन जाना उनकी दृष्टि में कल्याण का वाहक नहीं बन सकता। आज पूँजीवाद और समाजवाद में जो अन्तर माना जाता है—अर्थात् व्यक्तिगत आर्थिक प्रयास की स्वच्छन्दता और उसका सरकारी प्रयास में विलुप्त हो जाना—उसे जैनेन्द्र बहुत महत्त्व नहीं दे पाते। वे सत्ता के केन्द्रीकरण से भी सहमत नहीं हैं। वे केन्द्रित और अनुशासनात्मक शासन को ही नैतिक मान पाते हैं। उनका सिद्धान्त है कि परस्परता से विमुख स्व-निष्ठ

अहं चाहे व्यक्ति का हो या संगठन का, समस्यायें ही पैदा करता है। विज्ञान की शक्ति ने राष्ट्रीय अहं-वादिता को जो दुर्द्धर्ष बना दिया है, यही हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या है।

अर्थ का परमार्थीकरण

आज विशालकाय उद्योगों और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर टिकी हमारी अर्थ-व्यवस्था इतनी जटिल हो गई है कि वह साधन न रहकर साध्य का स्थान ले चुकी है। अर्थ-मानसिकता इतिहास के प्रवाह में हमें मिली है और विश्व की राजनीतिक कूटनीतिक अवस्था ऐसी है कि सुदृढ़, केन्द्रित समाजवाद सबको अल्प पाप (Lesser Evil) के समान अनिवार्य लग उठा है। अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न आज सबसे विकट है और विज्ञान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में केन्द्रित सामूहिक प्रयास के बिना गुजारा नहीं रहा है। इतिहास के वेग को लौटाया नहीं जा सकता, पर एक बात की जा सकती है। वह यह कि नैतिकता को अर्थ-मानसिकता के प्रतिपक्ष में से हटाकर उसे अर्थवाद का शक्ति-स्रोत बना दिया जाय। हमारी आर्थिक योजनायें मात्र 'स्व-अर्थ' से प्रेरित न होकर 'पर और परमार्थ' से प्रेरणा प्राप्त करें। राष्ट्र मात्र के राष्ट्रीय-हित के आधार पर मोल-भाव, क्रय-विक्रय और दाँव-पेंच न करके समस्त विश्व का हित सोचें। यह तभी होगा, जब व्यक्ति 'परम अर्थ' की शिक्षा लेगे और उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में अन्वय करेगे। अर्थ-नीति और राजनीति को परस्परता की प्रेम-नीति पर चलाये बिना स्पर्द्धा, द्वेष, घृणा के वातावरण को बदला नहीं जा सकता। जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि अर्थ का परमार्थीकरण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी असम्भव नहीं है। जो भी देश ऐसी पहल करने के लिए आगे बढ़ेगा, यदि उसमें सिर्फ एक जोश ही न होकर समग्र और अहं की सही अवधारणा (Right Assessment) की क्षमता और कुछ कर गुजरने का साहस होगा तो उसे घाटे में नहीं रहना पड़ेगा। विज्ञान इस दिशा में मानव की पूरी सहायता कर सकता है। उससे सहायता लेना या न ले पाना यह मानव की अपनी नैतिकता पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिक अध्यात्म

जैनेन्द्रजी ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ जैनेन्द्र दर्शन पर वह नाम ठीक बैठता है। आत्मिकता अर्थात् पारस्परिकता को लक्ष्य मानकर चलाना और वैज्ञानिक सत्यों का आत्मिकता के विकास-क्रम में पूरा उपयोग करना ही वैज्ञानिक अध्यात्म कहला सकता है। ब्रह्म की समग्रता, अहं की अंशता, दोनों की सापेक्षता—ये तीन अस्तित्व के सबसे अधिक वैज्ञानिक सत्य हैं। इन तीनों का परस्परता और अहिंसा के लिए उपयोग हो, यही व्यावहारिक अध्यात्म और उसका

लक्ष्य हो सकता है। जैनेन्द्र जी का यह प्रेमवादी अध्यात्म सर्वग्रासी है और शून्यवादी अध्यात्म की तरह चेतना को रुद्ध, निष्क्रिय और जड़ित नहीं करता, वरन् उसे एक स्वस्थ स्फूर्ति प्रदान करता है और मानसिक ग्रंथियों को खोलता है। वह मानव के सामने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता की योजना प्रस्तुत करता है। मानवता के साथ वह एक उच्च नैतिक लक्ष्य स्थापित करता है और उसकी प्राणवत्ता को असीम-अबाध बनाकर भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देता है। जैनेन्द्र की विचारणा गाँधीवाद का वैज्ञानिक अध्ययन करती है और उसकी मूल गहन प्रेरणाओं को बौद्धिक और व्यावहारिक तल पर ले आती है। भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे-परे' करना आस्तिकता से इन्कार करना है क्योंकि ये दोनों भी भगवान् की ही देन हैं। जैनेन्द्रजी का मत है कि इन दोनों से भय खाना व्यक्ति-चेतना के नीचे ब्रह्म की सत्ता को अमान्य ठहराना है। विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष बनकर घुले-मिलेंगे, तो उसका सुफल यही हो सकता है कि राष्ट्रों के बीच परस्परता और प्रीति बढ़े, श्रद्धा की सम्भावना कम हो और एक विश्व-संस्कृति का विकास हो।

श्री सत्यप्रकाश 'मिलिंद'

भाई साहब और मैं

बात सन् १९४०-४१ की होगी···एक दिन अनायास यूनिवर्सिटी से लौटते समय कुछ मित्रों से हिन्दी-उपन्यासों की गतिविधियों पर चर्चा चल गई। बिना किसी संकोच के मैंने मित्र-मंडली में सुनीता, कल्याणी और परख पर खासे छींटे कस दिये। आज जब मैं मन की गहराइयों में उतर कर झाँकता हूँ तो ऐसा लगता है कि मेरा उस प्रकार आलोचना करना सम्भवतः विद्यार्थी जीवन की 'ईगो' का समर्थक रहा होगा।

इन तीनों उपन्यासों के सर्जक जैनेन्द्रजी का नाम मैं १९३६-३७ में ही सुन चुका था। नवीं और दसवीं कक्षा में यद्यपि मेरा वैकल्पिक विषय विज्ञान था, तो भी साहित्य की कल्पना मुझसे दूर नहीं भाग पाई थी। 'सुनीता' नामक उपन्यास के माध्यम से जैनेन्द्रजी के छोटे-बड़े, जाने-अनजाने कई धुँधले और बिखरे चित्र मैं बना पाया था। किसी दिन मैं सोचता जैनेन्द्र कोई लम्बे बालों वाले, क्लीनशेव, मोटे-ता(ज़े) व्यक्ति होंगे, तो दूसरे ही क्षण मेरे मन में यह आता कि जैनेन्द्र के साहित्य में जितनी दुरूहता है, उतना ही दुरूह उनका व्यक्तित्व भी होगा। जैनेन्द्रजी के दो-एक उपन्यासों को पढ़ने के बाद मेरी ऐसी कुछ धारणा बन गई थी कि जैनेन्द्रजी स्वतन्त्र प्रबुद्ध विचारक हैं और उनमें परम्परागत रूढ़िवादी सनातनता ढूँढ़े नहीं मिल सकती। मैं जैनेन्द्र के विषय में तरह-तरह की धारणाएँ बना बैठा था। मन में यह आकांक्षा मैंने अवश्य संजोकर रख ली थी कि मैं अवसर आते ही उनके उपन्यासों का क्रमिक और विस्तृत अध्ययन करूँगा। अपनी उस समय की उस धारणा पर आज जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र एक कुशल चितेरे की भांति जिस असंकोच और निर्द्वन्द्वता के साथ अपने चरित्रों के गोपनीय व्यक्तित्वों की उलझनों और उनके दुराव-छिपावों को खोल कर रख देने में दक्ष हैं, उसी का प्रयोग वे चरित्रों की मनोग्रन्थियों के विश्लेषण में कर बैठते हैं।

+ + +

आज करीब २२ साल पुरानी बात है। मुझे याद पड़ता है मैंने जैनेन्द्रजी के उपन्यासों पर किसी पत्र में समीक्षा कर दी थी, पर विस्मृति के गर्त से खोज कर मैं उसे पूरी तरह से नहीं प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। मुझे याद है मेरे मन में जो विद्रोह

जैनेन्द्र के नारी पात्र-चित्रण के विरोध में बार-बार जागकर डट खड़ा होता था, उसी के प्रकाशन के लिए मैंने ऐसा किया था।

\+ \+ \+

लगभग दस वर्ष पूर्व की बात है। एक दिन सांस्कृतिक समारोह में एक दुबले-पतले, खुद में ही खोये हुए व्यक्ति को देखने का अवसर मिला था। कुछ लोग दूर से ही बता रहे थे···ये जैनेन्द्रजी हैं। उत्सुक तो मैं इतने दिन से था ही। मैं भी वहीं मार्ग में खड़ा खोया-सा देखता रहा। मैंने उनकी आँखों की गहराई में उतरने की कोशिश की, उनकी वेशभूषा को देखा और उनके खुद में ही खोये हुए व्यक्तित्व में से कुछ ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की। कुछ ही देर बाद मुझे ऐसा लगा कि इस कृतिकार के प्रति अजनबी बना रहना मेरी मूर्खता ही नहीं तो और क्या है। पर मैं न जाने क्यों··मन में संजोये उस परायेपन को वापस लेकर ही लौट आया।

\+ \+ \+

आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र से मेरी वार्ता प्रसारित हो चुकी थी। मैं पाँच नम्बर स्टूडियो से निकल ही रहा था कि मुझे एक आवाज सुनाई दी···मैंने कुछ अंश सुनने के बाद पूछा "किसकी टाक है।" मेरे एक मित्र महोदय ने कहा, "आपने देखा नहीं। अभी-अभी तो जैनेन्द्रजी गए हैं।" मैं लपक कर बाहर आया और पूछता-पाछता उस स्थान पर पहुँच ही गया, जहाँ से जैनेन्द्रजी निकल कर जाने को थे।

अब तक मैं जैनेन्द्रजी के सुनीता, त्यागपत्र, विवर्त, अतीत और सुखदा उपन्यासों का अध्ययन कर चुका था। उनके चरित्रों की मनोग्रंथियों से टकराते-टकराते मैं यह समझने लगा था कि जैनेन्द्र के साहित्य को समझना मुश्किल है। मैं ऐसे ही विचारों में उलझा हुआ था कि इतने में मैंने देखा एक व्यक्ति सामने से आ रहा है। वही तो जैनेन्द्रजी थे। मैं ध्यान से देखता रहा। उनके सीधेपन और उनकी सादगी का मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि जैनेन्द्रजी का सत्य एक वैज्ञानिक के सत्य से कहीं ऊँचा है और उनका जीवन अपने परिवेश में कहीं अधिक व्यापक है।

मैं मिला, नमस्कार किया और दर्शन-मात्र का सुख प्राप्त करके ही चला आया। लौटकर घर आने पर सोचता रहा कि जैनेन्द्र की जो तरह-तरह की समीक्षाएँ की जाती हैं और जो उपेक्षा की जाती है, उसमें कोई सत्य होगा यह विचारणीय विषय है।

\+ \+ ×

और आज···आज बहुत कुछ सोचता हूँ···पिछले दो-तीन साल जैनेन्द्रजी के सम्बन्धों को बड़े कुतूहल के साथ देखता हूँ। सोचता हूँ जैनेन्द्रजी के (भाई साहब के) हाँ, मैं उन्हें भाई साहब ही तो कहता हूँ। इस ढेर से प्यार को मैं समेट कर, संजोकर

रखने की क्षमता भी रखता हूँ क्या ? मैं कई बार यहां तक सोच बैठता हूँ कि घनिष्ठ-तम सामीप्य कहीं मनुष्य की रचनात्मक विवेचना शक्ति को समाप्त तो नहीं कर देता। एक बार यदि कोई उनके पास पहुँच जाता है तो उसे उठने की फुर्सत नहीं मिलती। उनका समूचा स्नेह···सच्चा और हृदय का स्नेह···उस आगन्तुक पर पूरी तरह से बिखर जाता है। उनकी ईमानदार अनुभूति आपको पूरी तरह से परख डालती है और कभी-कभी आदर्श और यथार्थ की उलझन में उलझ कर स्वयं जैनेन्द्रजी से ही आप पूछ बैठते हैं, आपकी बात यथार्थ है तो अमुक व्यक्ति ने ऐसा क्यों कहा है ? जैनेन्द्रजी हँसते हुए केवल अपने पक्ष को समझाते हैं···दूसरे किसी भी विद्वान् पर छींटा कसना या कीचड़ उछालना उन्हें पसन्द नहीं है।

जैनेन्द्र अपने परिवार में हरेक को अपना स्नेह देते हैं। उनकी एक कमजोरी है। वे जीवन में परिवार के महत्त्व को कम नहीं होने देते। हां, 'अर्थ' से उनका उतना अधिक लगाव नहीं है, जितना और बहुत से लोगों को होता है। 'हिमाद्रि' की योजना या 'गंगाराम अस्पताल' के जीवन को देखकर स्वीकार करना ही होता है कि स्वतंत्र विचारक होते हुए भी जैनेन्द्र पारिवारिक एकरूपता को बनाए रखने में बहुत दक्ष हैं।

कई बार मैं, पता नहीं, क्यों भाई साहब से कह बैठता हूँ···"भाई साहिब आप प्रैक्टिकल बिल्कुल भी नहीं हैं।" और जैनेन्द्र हैं कि हँसकर टाल देते हैं। कभी-कभी वे अपनी दिशा और लक्ष्य का स्पष्टीकरण भी करते हैं, पर बार-बार जब मैं एकान्त के क्षणों में विचार करता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि उनके निष्कर्षों का उनके जीवन से अपना ही सम्बन्ध है।

रीति-रिवाज और दस्तूर···जैनेन्द्रजी को रीति-रिवाजों और दस्तूरों का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है···मैं तो यह भी कहने की धृष्टता कर डालता हूँ। उन्हें केवल वही दस्तूर पसन्द हैं जो उनके मन को रुचें। जोश उनको छूकर भी नहीं गया है। रोष उनमें होगा, पर वह क्षणिक है। एक दिन की बात है मेरी किसी बात से क्षुब्ध होकर भाई साहब ने मुझसे फोन पर कह दिया···"बस हमारा तुम्हारा सम्बन्ध समाप्त।" और जब उन्हें स्थिति स्पष्ट हो गई तो तुरन्त ही बुला भेजा। बेहद आश्चर्य हुआ। अभी तो भाई साहिब नाराज हो रहे थे और अभी बुला भेजा और जब मैं पन्द्रह-बीस मिनट में ही जा पहुँचा तो मैं स्तब्ध रह गया। उन्होंने ऐसा स्नेह प्रदर्शित किया मानो कुछ हुआ ही न हो। इसलिये मेरी ऐसी धारणा बन गई है कि बहुत से भाई उनकी मंगल-प्रेरणा को अमंगलकारी मान बैठते हैं और उनके अपने ही विचारों को अटपटा बताते हैं। वातावरण में उनकी उपलब्धियों का जब मैं शान्ति से मूल्यांकन करना चाहता हूँ तो मुझे जैनेन्द्रजी के अन्तर्मानस से निकलने वाले चलते-फिरते वाक्यों और प्रवचनों को संजोकर रखने की इच्छा होती है।

'दुनियां ऐसा कहती है, दुनियां में ऐसा होता आया है'...ये वाक्य जैनेन्द्रजी के अन्तर्मानस में शायद रमते नहीं। एक बार एक उच्चकोटि के साहित्यकार से जैनेन्द्रजी की चर्चा छिड़ गई। उनका स्पष्ट मत था कि जैनेन्द्र में 'ईगो' बहुत है। मैंने हर दृष्टिकोण से इस बात को परखने की कोशिश की है। मुझे ऐसा लगता है कि भाई साहिब के अन्तर की ईमानदारी को भी लोग गलत समझ बैठते हैं। कुछ सामाजिक विभीषिकाओं ने उन्हें सहमा दिया है और उनमें समाज की झूठी मर्यादाओं को पालने की क्षमता लगभग शेष नहीं रही है। जीवन की वास्तविकताओं को वे अपने ही दृष्टिकोण से समझना और परखना चाहते हैं। माधुर्य और गति दोनों के समन्वय की मांग भी जैनेन्द्रजी से आध्यात्मिकता का त्याग नहीं करा सकतीं। अभावग्रस्त और दूषित समाज पर प्रहार करते जैनेन्द्र डरते बिल्कुल भी नहीं हैं।

मुझे कई बार ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र स्वयं एक समस्या हैं और जब वे अपने दार्शनिक विचारों का प्रकाशन करते हैं तो अनेक व्यक्ति उनकी दुरुहता के कारण उपहास तक कर बैठते हैं। हां, यह अवश्य है कि समस्याओं के समाधान में वे नीचे इतने उतर जाते हैं कि वे शायद यह भी भूल बैठते हैं कि उनके लेखों को पढ़ने वाला पाठक उनको दुरूह देखकर उसके उल्टे अर्थ भी लगा बैठेगा। अभी उस दिन की ही तो बात है; भाई साहिब से सरकार की हिन्दी नीति की चर्चा छिड़ गई। 'मैं उनकी हजार गलतियों को क्यों देखूं, जब मुझमें स्वयं ही चार हजार गलतियाँ भरी पड़ी हैं।' कितनी महान् स्वीकारोक्ति है, जिसमें उनके व्यक्तित्व की महानता व्यक्त होती है।

जैनेन्द्रजी में कोई भी दुराव-छिपाव है ही नहीं। वे स्वयं अनेक बार अपने निकम्मेपन और प्रमाद की दुहाई देते पाये गये हैं, पर मैं यह समझता हूँ कि यह उनका भ्रम ही है, क्योंकि वे तो द्रुतगति से आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। नित्य प्रति उनकी नई कृतियाँ आ रही हैं और 'समय और हम' ने तो हिन्दी भाषा में निश्चय ही एक नया अध्याय खोल दिया है।

भाई साहिब से घरेलू मसलों पर जब-जब बातें होती हैं, वे खुलकर अपनी राय देते हैं और अधिकांश उनकी राय चाहे दुनियादारों को अटपटी-सी लगे, पर अन्ततः होगी बिल्कुल सच्ची ही।

"इफ्स एंड बट्स" लगता है, उन्हें लगाने ही नहीं आते। यही उनकी व्यावहारिक अकुशलता है।

कई बार मैंने देखा है कि जैनेन्द्रजी में अटूट प्यार भरा पड़ा है, लेकिन घर वाले 'बाबूजी' से बहुत डरते से हैं। बात यह है कि उन्हें किसी परिस्थिति को स्वीकार कराने के लिये बाध्य कर सकना किसी के लिये भी संभव नहीं है। अपने राम तो

अपनी जन्मजात उद्दंडता के आधार पर उचित-अनुचित सभी कुछ कह डालते हैं। जैनेन्द्रजी की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि जो भी उन्हें अपने मन में सत्य जंचता है, वे उसके प्रकाशन में लेशमात्र भी संकोच नहीं बरतते। इसी से वे समाज के लिए प्रतिक्रियावादी और समस्या प्रधान से बन जाते हैं और मित्रों के लिए अप्रिय।

जैनेन्द्रजी के उपन्यासों, कहानियों और उनके प्रवचनों पर जब कभी चर्चा छिड़ती है तो मेरा उत्तर यही रहता है कि मैं तो भाई साहिब को घर के बुजुर्ग की हैसियत से ही देखता हूँ। और यह बात बिलकुल सच है। श्रद्धेय पिताजी गतवर्ष जिस दिन डाक्टर महाजन के नर्सिंग होम में दाखिल हुये, उसी दिन से भाई साहब का यह नित्य प्रति का क्रम-सा हो गया था कि पिताजी के स्वर्गारोहण के दिन तक वे रोज दो-दो घन्टे उनकी रोगशैया के पास बैठे रहते।

वे महात्मा नहीं है। जैसा वे बार-बार कहते हैं, उनमें बहुत-सी कमियाँ भी हैं, पर उनमें एक विचित्र-सा आकर्षण है। वे कोमल हैं और सहृदय हैं, बेहद दर्जे के और अपनी मुसीबतों को खुद ही झेलने के आदी बन गये हैं। अपनी समस्याओं को लेकर वे औरों से बहुत ही कम बोलते हैं। मन ही मन घुटना मानो उन्हें बहुत पसन्द है।

अंग्रेजी वे धारा-प्रवाह बोलते हैं, पर कितना विस्मय और अपार आनन्द मुझे उस दिन नैनीताल से लौटने पर हुआ, जब मैं उनके घर गया तो डाक्टर रघवीर के साथ सम्मेलन की चर्चा चल गई। भाई साहिब ने स्वतंत्र रूप में खुलकर कहा कि मैं उर्दू-हिन्दी के विवाद को महत्त्व देने से भी कहीं अधिक महत्त्व अंग्रेजी को राष्ट्र-भाषा बनाने के विरोध को देता हूँ। इससे स्पष्ट है कि उनका अनन्य हिन्दी प्रेम उनको राजनैतिकता की दलदल से कहीं ऊपर उठा ले जाता है।

जैनेन्द्रजी दूर विदेशों में घूमे फिरे हैं, उनका ज्ञान अपरिसीम है और सामान्य व्यक्ति को तो उनकी सादगी को देखकर उनके ज्ञान का अनुमान तक लगा सकना मुश्किल होता है।

कई बार मुझे स्वयं ही ऐसी आशंका हो उठती है कि जैनेन्द्रजी को सर्वथा बन्धनहीन होना चाहिये था, लेकिन वस्तु-स्थिति तो यह है कि यह क्रियाशील, सहृदय और साधनारत साहित्यिक हर प्रकार से आज इन बंधनों से ऊपर उठ चुका है। यों दुनियाँ दिखावे को वे इन बन्धनों से घिरे भले हों, पर उन पर वातावरण और परिस्थितियों का कोई विशेष बन्धन नहीं है। दुनियां मति-भ्रम और दिग्भ्रम दूर होने पर एक दिन इस सत्य का अनुभव अवश्य करेगी।

———

रामरतन भटनागर, एम० ए०, डी० फ़िल

उपन्यासकार जैनेन्द्र : पुनर्मूल्यांकन

(१)

जैनेन्द्र के आलोचकों ने उनकी रचनाओं में कथा ही देखी है, उनकी व्यथा से वे अपने को बचा गये हैं। मैं मानता हूँ कि उपन्यास में हम कथा चाहते हैं, परन्तु कथा से बड़ी चीज़ यदि कोई उपन्यासकार देता है तो हम उसे क्यों अस्वीकार कर दें ? यह बड़ी चीज़ यदि हमारी सामाजिक और व्यक्तिगत मर्यादाओं को चुनौती देती है तो क्या बुरा है ? क्या उपन्यास दो घड़ी जी बहलाने की चीज़ रह गया है ? क्या उसकी चरितार्थता मानव-चरित्र की सम्भावनाओं को उन्मुक्त करने में नहीं है ? उपन्यास के पात्र क्या अपने में स्वतंत्र, सर्वनिरपेक्ष इकाई हैं कि उपन्यासकार और पाठक भी उनकी दुनियाँ में डूबकर वहीं के होकर रह जायें और विचारों की टकराहट से अपने को बचा लें ? ये कुछ प्रश्न जैनेन्द्र की रचनाओं के अध्येता के सामने खुल कर आते हैं। प्रेमचंद को जो सतही, कम-मनोवैज्ञानिक और बोझल कहते चले आये हैं, वे जैनेन्द्र की तलस्पर्शी, मनोमयी और तन्वि कलाकृतियों से क्यों कतराना चाहते हैं ? यह आश्चर्य की बात है कि हम श्रेष्ठ रचनाओं और कलाकारों का फ़ैसला कला के हाथों सौंपकर निश्चित होना चाहते हैं और अपनी सुविधा और सुरक्षा में ही अपने समीक्षा-धर्म का निर्वाह समझते हैं। यह आवश्यक है कि हम जैनेन्द्र की रचनाओं का मूल्यांकन करें और उनमें कुछ गहरा उतरें। प्रश्न न जैन-धर्म की ध्वजा का है, न जैनेन्द्र-धर्म की ध्वजा का, प्रश्न हमारी सामर्थ्य का है, क्योंकि प्रत्येक सशक्त रचना युग के प्रति ही चुनौती नहीं है, वह सहृदय और समीक्षक के लिए भी चुनौती है। कृति से बच कर या कृतिकार पर धूल डाल कर हम उसके तेज को कुंठित नहीं कर सकेंगे। अस्तु।

एक के बाद, एक जैनेन्द्र ने आठ उपन्यास हमें दिये हैं। "तपोभूमि" को हम छोड़ देते हैं और "अनाम स्वामी" अभी अपूर्ण ही सामने आया है। ये उपन्यास जैनेन्द्र के कथा-जगत के महदांश भी नहीं हैं, क्योंकि उनकी कहानियों में उन समस्याओं को तथा और भी अनेक समस्याओं को उठाया गया है जो सुविधा और सामर्थ्य रहने पर उपन्यास भी बन सकती थीं। यही नहीं, जैनेन्द्र का विचारक निबन्धों, वार्ताओं और टिप्पणियों में भी उन कुछ मूल प्रश्नों पर विचार करता रहा है जो

इन उपन्यासों में उभरे हैं। इस जीवन व्यापी कृतित्व की भूमिका में ही हमें उनकी स्फुट रचनाओं को देखना होगा और उनके पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए भी उनके सामाजिक कथाकार पर दृष्टि केन्द्रित रखनी होगी। क्या जैनेन्द्र की इन रचनाओं के पीछे कोई क्रमविकासात्मक सुचिन्तन है ? वह जीवन के पीछे दौड़े हैं या विचार के ? उनकी रचनाओं में वस्तुस्थिति का चित्रण है या संभावनाओं का ? वह मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं या सामाजिक कथाकार या वैचारिक कथाकार ? यदि हम इन रचनाओं में कोई आंतरिक व्यवस्था और सुनिर्दिष्ट चेतना पा सकें तो क्या हम उनके सत्य की आँच को झेलने के लिये तैयार हैं ? साहित्य का धर्म न जीवन के धर्म से बच सकता है, न उसे खण्डित कर सकता है। हम जैनेन्द्र जैसे मूलबद्ध चिंतक से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अवचेतन को निरंकुश छोड़ कर अराजकता पैदा करेगा या चमत्कार-सिद्धि पर टिककर विस्फोटक बन जायेगा। अपने कथा-साहित्य में जैनेन्द्र ने बुद्धि को निरंतर हराया है, परन्तु वह कहीं भी अबौद्धिक नहीं हुए हैं। बुद्धि पर टिक कर ही वह उसकी असमर्थता को चरितार्थ करते हैं। फलतः यह आवश्यक है कि उनके पुनर्मूल्यांकन के लिए हम नये प्रश्नों को उभारें और नये मानदण्ड सामने लायें। दर्शन, अध्यात्म, धर्म, समाज—ये जीवन के बाहर नहीं हैं और जैनेन्द्र इनमें पूरे-पूरे रमे हैं। उनके निबंध, परिसंवाद, वार्ताएं आदि प्रमाण हैं। फिर हम उनसे किस स्वतंत्र साहित्य-धर्म का आग्रह करते हैं जो मनोविज्ञान या रस की सीमा मात्र में सिमट आये। विचारक कथाकार कथा को विचार में से ही उभारेगा, परन्तु कथा अपने साथ वह सब कुछ लायेगी जो जीवन का निर्माण करता है। उसमें मनोवैज्ञानिकता भी भरपूर रहेगी, परन्तु वह किताबी होकर भी किताबी नहीं होगी, क्योंकि कोई भी श्रेष्ठ कलाकार शास्त्र की बैसाखी पकड़कर चलना स्वीकार नहीं करेगा। जैनेन्द्र जीवन-धर्मी कलाकार हैं और उनकी कला सामाजिक और सर्वग्राही रही है। अतः उनको हम न रोमांस का बंधन दे सकते हैं, न आदर्श का, न यथार्थ का, क्योंकि जीवन इन सबको सिमेट कर भी इनसे ऊपर है। होने में ही उसकी सार्थकता नहीं है, कुछ आगे बढ़ कर बनने में भी उसकी सार्थकता है। इसीलिये वास्तव-अवास्तव का प्रश्न भी उनके साहित्य में नहीं उठता।

समाधान यह है कि हम जैनेन्द्र के उपन्यासों को सहें, उनकी आंच में तपे, उनकी व्यथा को पढ़ें और न मनोविज्ञान में उलझें, न दर्शन में, न 'कहे' में; क्योंकि 'कहे' के पीछे 'अकहा' भी कुछ कम ध्वनित नहीं है। प्रेमचंद के मापदण्ड पर हम जैनेन्द्र को नहीं आंक सकते, अधिक-से-अधिक वह मापदण्ड 'परख' पर लागू हो सकता है। स्वयं प्रेमचंद उसे 'सुनीता' पर भी लागू नहीं कर सके थे और इस रचना के आदर्शवाद को उन्होंने अतिवादी और अव्यावहारिक माना था, परन्तु यह आवश्यक

नहीं है कि जैनेन्द्र किसी के मानदण्ड पर चलें। उनका मानदण्ड उनके साहित्य के भीतर ही मिलेगा, परन्तु वह विशुद्धता और एकांगिता का मानदण्ड नहीं हो सकता। नया उपन्यास बुद्धि, धर्म, समाज, चारित्र्य, नीति सब पर प्रश्नचिह्न लगाता चला गया है। उसमें करने की लाचारी नहीं उभरी है, होने की मजबूरी सामने आई है। वह हेमलेटी है या फाउस्टी। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के द्वन्द्व ने उसे दुर्बोध बना दिया है; क्योंकि वह जीवन को कुरुक्षेत्र के रूप में नहीं, धर्म-क्षेत्र के रूप में लेना चाहता है। हम यह क्यों देखते हैं कि पात्र क्या कर रहे हैं ? हम यह क्यों नहीं देखें कि वह क्या हो रहे हैं ? व्यथा के भीतर से होने की पीड़ा उभारना ही क्या कलाकार का धर्म नहीं है ?

जैनेन्द्र के पहले उपन्यास 'परख' (१९२९) में ही हमें उनके विचारक रूप का आभास हो जाता है। यद्यपि कथाप्रवाह और नई भाषा-शैली के चमत्कार में हम उन महत्वपूर्ण प्रश्नों को शीघ्र ही भूल जाते हैं जो पृष्ठभूमि में झांक रहे हैं। पहली बात तो यह है कि जैनेन्द्र जीवन के केन्द्र में स्त्री को रख देते हैं और यहाँ तक कह जाते हैं कि धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है। उनके शब्द हैं : "पुरुष बनाता है, विधाता बिगाड़ देता है—अंग्रेजी की एक कहावत है। संशोधन कर यह भी कहा जा सकता है, पुरुष बनाता है, स्त्री बिगाड़ देती है। तब भी कहावत में कम तथ्य या कम रस नहीं रहता। बात वास्तव में यह है कि पुरुष कम बनाता या बिगाड़ता है। इसी तरह पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती हैं स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है, जाति और देश को भी, मैं कहता हूँ, स्त्री ही बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती भी वही है। आनन्द भी वही और कलह भी, हराव भी और उजाड़ भी, दूध भी और खून भी और फिर आपकी मरम्मत और श्रेष्ठता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है और फ़ैशन की जड़ भी वही है। बात को बढ़ाओ, एक शब्द में कहें—दुनिया स्त्री पर टिकी है। जो आँखों में देखते हैं, चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर, दबके बैठे रहते हैं, ज़ियादे चूँ नहीं करते। जिसके आँखें नहीं, वह मानें या न मानें, हमारी बला से।"--'परख', दूसरा संस्करण, १९४१, पृ० ५८-५९।

परन्तु स्त्री की यह प्रमुखता अपने में यों ही नहीं है। वह प्रेम और विवाह के प्रश्नों को लेकर है, क्योंकि यही जीवन के अधिकांश क्षेत्र को घेरते हैं, परन्तु प्रेम और विवाह में से यदि किसी एक को चुनना पड़ जाये तो आदमी क्या करे ? वह प्रेम को चुने या विवाह को ? द्वन्द्व की स्थिति यहीं से शुरू होती है। एक अवश्य टूटेगा—प्रेम या विवाह, क्योंकि दोनों को लेकर चलने वाले सौभाग्यशाली कम ही

होगे। फिर यह भी तो संभव है कि प्रेम घर के बाहर से भीतर आकर विवाह पर चोट करे और घरौंदा ही टूट जाये। कौन टूटेगा, पति या पत्नी ? या दाम्पत्य की गाँठ इतनी दृढ़ रहेगी कि बाहर से आने वाला प्रेम पलायन कर जायेगा ? परन्तु यदि वह प्रेम दोतरफ़ा है तो कुछ-न-कुछ संकट तो उपस्थित ही होगा। इस प्रकार प्रेम और विवाह की समस्या जैनेन्द्र के उपन्यासों की प्रमुख समस्या बन जाती है।

इस तरह चलकर विवाह के माध्यम से समाज आता है और समाज हमें यानी कालबद्ध मनश्चेतना को चुका कर किसी और भी सूक्ष्म और सशक्त मूलाधार की ओर इंगित कर देता है—नियति, या ईश्वर, या क्या ? जैनेन्द्र अपनी रचनाओं की परिणति इसी नियतिवाद या ईश्वरवाद में करते हैं—और स्पष्ट ही यह समस्या का कोई समाधान नहीं है। उससे न व्यक्ति सार्थक होता है, न समाज; परन्तु समझौते और समाधान हमें मिल जाते हैं। इस 'ईश्वर' को बीच में लाकर औपन्यासिक कला की दृष्टि से जैनेन्द्र अबूझ बन गये हैं। उन्होंने बुद्धि को हरा दिया है और मनो-विज्ञान को पीछे डाल दिया है, परन्तु विचारक कथाकार के लिए कोई तो आधार चाहिये, जिस पर टिक कर वह घटनाओं और पात्रों को संभाल सके। जैनेन्द्र की टेक है नियति या परमात्मा। दोनों एक हैं, क्योंकि दोनों अबूझ और अंतिम हैं और उन पर मनुष्य का कोई बस नहीं चलता। 'परख' में यह परमात्मा पहली बार आया है। उसे हम समझें। जैनेन्द्र के शब्दों में "लेकिन दिन एक-से नहीं रहते। काम चला जाता है और चीज़ों को नई-पुरानी कर जाता है। नई का काम है पुरानी हो जाये। वह मरी, फिर शायद किसी विशेष पद्धति से नई हो जाती है। वह विशेष विधि क्या है, सो हम क्या जानें। जिसे विद्वानों ने खोजा, मर गये पर नहीं पा गये, खोज रहे हैं, मर रहे हैं, पर नहीं पा रहे हैं—उसी को हम क्या जानें। हमसे बहुत ज्यादा मेहनत नहीं होती, हम खोजने-खोजने में ही और पाने के लालच में खोने-खोने में ही हमसे ज़िंदगी नहीं बितायी जायेगी। हमने तो एक शब्द में कह दिया 'परमात्मा' और मानों हमने पा लिया। पर लोग हैं, खोजने से थकना ही नहीं चाहते। कहते हैं, हम पाकर ही छोड़ेंगे। हम उनको धन्यवाद देते हैं, हाथ जोड़ते हैं, बड़ी श्रद्धा से 'नास्तिक' कहते हैं, भाई खूब खोजो, जितना बने उतना। पर बिदा से एक दिन पहले समाधान नहीं मिल पाये, तो हमारे साथ हो जाना और कहना 'परमात्मा' मिल गया तो हम इसका ज़िम्मा लेते हैं कि जितने कोष मिलेंगे, हम ज़बरदस्ती उनमें से 'परमात्मा' मिटा डालेंगे।" 'परख', वही, पृ० १२७-२८। इन अवतरणों से जैनेन्द्र के चिन्तन की दिशाएं स्पष्ट हो जाती हैं। उनके लिए कथा की सार्थकता यही है कि वह उन्हें प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में समाधान दे और ईश्वर को भी अपने समा-धान में खपा डाले।

'परख' में इस समस्या का क्या हल है ? सत्य समाज से समझौता कर लेता है, प्रेम को छोड़ कर वह विवाह पर टिक जाता है और गरिमा उसकी हो जाती है। वह समाज का संभ्रांत और सफल सदस्य बनता है। उधर कट्टो और बिहारी विवाह के स्थान पर अतीशय प्रेम, प्लेटॉनिक लव-का मार्ग चुनते हैं। यों समाज भी बना रहता है और प्रेम की समस्या भी सुलझ जाती है, क्योंकि समाज के लिये उसमें कोई द्विधा नहीं है कि उसको स्वीकार कर लिया गया और चुपचाप उससे बाहर चला गया। कसौटी है समाज और उसकी परख में सत्यधन क्या पूरे उतरे ? परन्तु क्या कसौटी प्रेम भी नहीं है और उसमें कट्टो-बिहारी ही पूरे-पूरे नहीं उतरे ? अपना-अपना दृष्टिकोण। परन्तु लेखक आदर्शवादी है और कट्टो-बिहारी के साथ है, सत्यधन के साथ नहीं। सत्यधन का हृदय कट्टो के ही साथ है और उसी के नाते (और आग्रह पर) गरिमा का पति वह बना रहेगा, परन्तु समाज का सफल व्यक्ति क्या अपने प्रति ईमानदार रह सकता है ? क्या उसने समाज के साथ समझौता नहीं किया है ? प्रश्न मूल्यों का है और जिन मूल्यों को लेकर सत्यधन चलना चाहता है, वे उसी के द्वारा खण्डित हो गये हैं। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र केवल कथा ही नहीं कहना चाहते। वे सांस्कृतिक और शाश्वत जीवन-मूल्य भी उभारना चाहते हैं। उनकी कथा का अस्तित्व सिद्धांत के भीतर से है या यों कहें कि सिद्धान्त ही उसकी चरितार्थता है। हम क्या चुनें ?—तात्कालिक या शाश्वत ? उत्तर जैनेन्द्र के पास नहीं है, क्योंकि हम अपनी प्रकृति और क्षमता के अनुसार ही चुनेंगे, परन्तु सत्यधन और बिहारी-कट्टो के रूप में दोनों विरोधी दिशायें हमारे सामने हैं। प्रेम जीता,—क्योंकि वह समाज के नियंत्रण से बाहर निकल गया, परन्तु क्या कट्टो-बिहारी की इस परिणति में समाज के कर्म-कवच की धज्जियां नहीं उड़ाई गई हैं। जैनेन्द्र की इस रचना के एकदम आदर्शवादी भूमिका पर लेकर हमने उसकी व्यंग की मुद्रा को अनदेखा ही कर दिया है। परन्तु क्या व्यंग उन्हें भी स्पष्ट था ?

अपनी दूसरी रचना "सुनीता" (१६३२) में जैनेन्द्र प्रेम और विवाह के इस द्वन्द्व को और भी गहरा कर देते हैं, क्योंकि प्रेम यहाँ पूर्वरागी नहीं है, विवाह में उसकी परिणति नहीं होगी। वह विवाह (दाम्पत्य जीवन) के प्रति चुनौती के रूप में सामने आया है। जैनेन्द्र ने सुनीता के विरस दाम्पत्य जीवन की तीव्रता को उभार कर इस चुनौती को उपयुक्त भूमिका भी दे दी है। प्रश्न यह है कि घर-बाहर में कौन जीतता है। प्रेयसीत्व की शोभा से अलंकृत नारी घर में रह जाती है या नारीत्व की दीपशिखा बन कर घर से बाहर समाज में आ जाती है ? घर टूटता है या घर की दीवारों से टकरा कर "बाहर" बाहर ही रह जाता है। हरिप्रसन्न यहाँ बाहर का प्रतीक है। यह समस्या नई नहीं है। रवि बाबू के "घरे-बाहिरे" में ही उसे उभारा गया है, परन्तु

वहाँ द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक है, सैद्धान्तिक नहीं,—न उसके लिए पति को घर से ग़ायब होकर मार्ग निकालना पड़ता है। अन्तर भी है। रवीन्द्र की रचना में घर टूटा है, परन्तु जैनेन्द्र में वह बना ही नहीं रहा है, और भी सुदृढ़ हो गया है। परन्तु इसका क्या भरोसा कि फिर उस पर आक्रमण नहीं होगा और फिर टूटने की समस्या उठ नहीं खड़ी होगी ? 'सुखदा' और 'विवर्त्त' (१९४६) में जैनेन्द्र ने इस समस्या को फिर लिया है और घर को तोड़ डाला है। एक में पत्नी टूटी है, दूसरे में पति। इस प्रकार ये तीनों उपन्यास एक ही प्रश्न के तीन समाधान प्रस्तुत करते हैं ? परन्तु क्या पुरुष ही घर पर आक्रमण कर सकता है, स्त्री नहीं ? जैनेन्द्र जानते हैं कि यह दूसरी समस्या भी आज के खुले हुए शिक्षित समाज में असम्भव नहीं है। "इनाम" और "प्रमिला" कहानियों में उन्होंने अपने इन तीन उपन्यासों की समस्या को नई भूमिका देनी चाही है। समाधान उन्हें नहीं मिले हैं, परन्तु चित्रण वहाँ स्पष्ट है। यह स्पष्ट है कि घर और बाहर की नए समाज की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या को जैनेन्द्र कई धरातलों पर सामने लाते हैं।

कालक्रम से "सुनीता" के बाद "त्यागपत्र" (१९३५) का प्रकाशन हुआ। इसमें टूटे हुए घर की समस्या है। घर-बाहर की कोई समस्या नहीं है, क्योंकि घर एक तरह से बना ही नहीं है या बनते-बनते रह गया है। वास्तव में 'त्यागपत्र' समस्यामूलक नहीं है, क्योंकि जो समस्या थी, वह मृणाल की मृत्यु से (बलिदान से) हल हो गई है। रह गई है व्यथा, जो भतीजे चीफ़ जज सर एम० दयाल से त्यागपत्र दिलवाती है। इसी बुआ मृणाल ने भोगा और चली गई, परन्तु भोगने से क्या कोई चुक जाता है ? इसीलिए मृणाल की कथा शेष होकर भी निःशेष नहीं हुई है। 'त्यागपत्र' ने सारे हिन्दू समाज को ही अदालत में खड़ा कर दिया है : समस्या यदि है तो गहरी है अर्थात् पाप-पुण्य की है—कि बुआ (मृणाल) पापी है या नहीं। कथाकार ने उतनी ही कथा दी है, जितनी भतीजे की आँखों ने देखी, या उसने अनुमानित की, शेष मृणाल जाने या भगवान्, क्योंकि इस उपन्यास में कथाकार सर्वद्रष्टा का चोला उतार कर कथा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। जहाँ तक सर एम० दयाल का सम्बन्ध है, उपन्यास की कहानी उनकी आत्मप्रवंचना की कहानी है, परन्तु उनकी आत्मप्रवंचना उनकी कथा बन सकती है, वह समाज की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। 'त्यागपत्र' शीर्षक ने मृणाल को पीछे डाल दिया है, परन्तु ध्येय वही है।

प्रश्न यह है कि दोषी कौन है—मृणाल ? या दयाल के माता-पिता ? या मृणाल का पति ? या समाज ? क्यों मृणाल गहरे गर्त्त में बराबर उतरती जाती

है ? क्या यह अबला नारी का विद्रोह है, या समाज के प्रति उसकी चुनौती है या बोधिसत्त्वी बलिदान ? मृणाल के चरित्र को फ्रायडीय मनोविज्ञान के सूत्रों में बाँधने का प्रयत्न हुआ है, परंतु आरम्भिक प्रसंगों से आगे बढ़ने पर उसका रंग उतर जाता है और समाज की आँच में तपती हुई पति-परित्यक्ता नारी मृणाल रह जाती है। वह न कट्टो है, न सुनीता है, न जाह्नवी। वह समाज के पंक में डूबी हुई मृणाल है, परंतु इस मृणाल पर नारीत्व का अलिप्त पंकज भी खिला है। समीक्षकों ने उसे देखना नहीं चाहा तो इससे क्या ? एक ओर प्रेमचन्द की 'निर्मला' (१९२३) जो समाज की वेदी पर तिल-तिल कट कर बलि हो जाती है और करुणा की प्रतिमूर्त्ति बन जाती है। उसकी व्यथा निश्चय ही त्रासकीय है, परंतु मृणाल उससे कम नहीं गली है, फिर भी वह त्रासकीय नहीं बन सकी, चुनौती ही बन सकी। उसकी चुनौती अहिंसात्मक या बलिदानी है। उसमें आक्रोश नहीं, लाचारी की कथा है। लाचारी समाज को बनाए रखने की है, क्योंकि मृणाल विद्रोहिणी नहीं बनना चाहती और समाज की अनिवार्यता जानती है, परंतु उसका अज्ञान सहना निर्मला के अज्ञान सहने से भिन्न है। इससे संपूर्ण उपन्यास सामाजिक बन जाता है। जो टूटा रहा है, उसे बचाने का मृणाल का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, हास्यास्पद भी है। परिस्थिति के इस व्यंग ने ही इस उपन्यास को चुनौती बना दिया है। आज भी हम उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल विवाह से टूट कर घर के बाहर खड़ी हो गई है, परन्तु समाज पति-परित्यक्ता नारी को कैसे स्वीकार करे। वह उसे पापिन मानता है और उपन्यासकार को मृणाल का पक्ष लेकर समाज की इस मान्यता पर आघात करना पड़ता है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में समाज हारा है, मृणाल जीती है परंतु वह कब—जब वह मर चुकी है, परंतु हार कर भी समाज बदला नहीं है, सर एम० दयाल को ही उससे बाहर जा कर हरिद्वार में विरक्त जीवन बिताना पड़ रहा है। समाज और मृणाल के बीच में सर एम० दयाल किसी एक को निश्चित रूप से दोषी नहीं ठहरा सके हैं। क्योंकि वे स्वयं समाज भीरु हैं। 'त्यागपत्र' का सारा द्वन्द्व इन पंक्तियों में है जिनमें विरक्त एम० दयाल कहते हैं : ' विवाह की ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है ? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है ? वह गांठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाये, परन्तु टूटना कब किसका श्रेयस्कर है ?" (त्यागपत्र, पृष्ठ ३०)

परन्तु प्रश्न यह है कि व्यक्ति क्यों टूटे और समाज क्यों बना रहे। इस प्रश्न का कोई समाधान जैनेन्द्र नहीं देते, क्योंकि कोई समाधान उस समय तक सम्भव नहीं

है, जब तक हम अराजकतावादी न बन जाएं और समाज की अनिवार्यता को अस्वीकार ही न कर दें। नारी के विद्रोह को समाज पर ख़र्च न कर जैनेन्द्र उसे गलने देते हैं और इस प्रकार समाज को टूटने से बचा जाते हैं, परन्तु यहाँ लेखक की दार्शनिकता और वस्तुस्थिति का उसे सहारा है। नियतिवाद और समाज का प्रस्तुत ढांचा जो होने देता है, वही तो होता है। लेखक अनेक सम्भावनाओं में से वही लेगा जो शाश्वत जीवन-बोध और सामयिक स्थिति पर लागू हो सकेगी। इसके लिए हम उसे क्यों दोष दें ? इसे हम लेखक का आदर्शवाद कह कर भी छुट्टी पा सकते हैं, परन्तु यह मानना होगा कि जैनेन्द्र ने फिर भी समाज को बचाया नहीं है, उसे खपाया ही है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में आलोचकों के प्रति उसका उत्तर अन्तर्निहित है। तात्कालिक प्रश्न समाज की सीमाओं को लेकर है और उस पर समाज की कहानी असंभव नहीं उतरती और शाश्वत प्रश्न नियतिवाद या ईश्वर को लेकर है और उस पर लेखक का दृष्टिकोण भारतीय-संस्कृति से पुष्ट है। इन दोनों सीमाओं के भीतर ही 'त्यागपत्र' आलोच्य बन सकेगा और इन्हें ध्यान में रखकर ही हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे।

जैनेन्द्र की दृष्टि मानव-जीवन की अबूझता और अगाधता पर अटकी है और उन्होंने उपन्यास के अंतिम अध्याय में प्रतीकवादी ढंग से मृणाल के मनस्तत्व का बड़ा काव्यात्मक विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। "वह समंदर है। अपनी नन्हीं काग़ज की डोंगी लिये हम भी उसके किनारे खेने के लिये आ उतरे हैं। पर किनारे पर ही कुशल है, आगे थाह नहीं है। हिम्मत वाले आगे भी बढ़ते हैं। बहुत डूबते हैं, कुछ तैरते भी दीखते हैं। पर अधिकतर तो किनारे पर साँस लेने भर जगह के लिए छीन-झपट और हाय-हाय मचाने में लगे हैं। नहीं तो वे और करें भी तो क्या ? लड़ते-लड़ते अपने छोटे से वृत्त की परिधि में घूम लेते हैं। सागर तीनों ओर कैसे उल्लास से लहरा रहा है। पर वह लहराता रहे, हमें अनेक धंधे हैं, उधर करने को आंख खाली नहीं है।" आदि, आदि। (त्यागपत्र, पृ० ८९-९०) इस अवतरण से सर एम० दयाल की मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है और चूंकि वे मध्यवर्ती सफल मनुष्य के प्रतिनिधि पात्र हैं, अतः हम इसे लेखक की मान्यता के रूप में नहीं, मध्यवर्गीय दुर्बल चेतना के प्रति लेखक के व्यंग के रूप में ही ले सकते हैं। इस अवतरण के आगे के अंश में लेखक ने अगम जल में आगे बढ़ती, डूबती-उतराती मृणाल और समाज की मान-मर्यादा पर खड़े प्रतिष्ठित उसके भतीजे सर एम० दयाल के बीच में जो संवाद चलाया है, उससे मृणाल ही नहीं, लेखक के भी दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है। लेखक को 'जो-है-सो' वादी अथवा यथास्थितिवादी माना गया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण भ्रामक है, क्योंकि यह लेखक की दृष्टि नहीं, मध्यवर्गीय मनश्चेतना के प्रतीक

सर एम० दयाल की दृष्टि है। कम-से-कम सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में जैनेन्द्र अग्रगामी ही हैं, वे चाहे समाज तोड़क नहीं हों।

परन्तु अपने समाजदर्शन को लेखक ने शाश्वत जीवन-दर्शन में पचा डाला है। उसको लेकर हम क्या करें? क्या उसमें जैनेन्द्र कहीं भी प्रगतिशील हैं? यह नियति-वाद? पीड़ावाद? बलिदानवाद? परन्तु ये मूल प्रश्न हैं और प्रत्येक युग में उठाये गये हैं। इनका उत्तर हमें कभी भी मिला है जो हम जैनेन्द्र से आशा करें कि वह हमें उत्तर देंगे? 'त्यागपत्र' के चौथे अध्याय में जैनेन्द्र ने समाज को दोषी न ठहरा कर दर्द को अपने ऊपर ओढ़ लेने की बात कही है और उसी में सत्य, ईश्वर का निवास माना है। यह अध्यात्मवादी या गांधीवादी भूमिका पर उनके चिन्तन का प्रसार है। माना, यह दृष्टि सबकी दृष्टि नहीं हो सकती या अधूरी दृष्टि ही हो सकती है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह भी एक दृष्टि होगी। देखिये, पृष्ठ ४५-४८। इस व्यापक और मूलगत जीवन-दृष्टि ने 'त्यागपत्र' की कथा को सामाजिक भूमिका से ऊपर उठा कर आत्मिक (या दूसरे ध्रुव से शाश्वत) बना दिया है। एक ओर मृणाल का व्यक्तित्व बलिदानी बन कर प्राणमय बन जाता है और दूसरी ओर उसकी जीवन-गाथा मनुष्य एवं नियति के संघर्ष की कहानी बनकर त्रासकीय ऊँचाई प्राप्त कर लेती है। प्रश्न यह होता है कि जैनेन्द्र कोई एक दृष्टिकोण क्यों नहीं अपनाते और हमारी पकड़ में क्यों नहीं आ जाते, परन्तु यदि वह जीवन की अनेकांतता (या अबूझता) ही हमें देना चाहें तो दोषी क्यों माने जायें? लेखक क्यों सर्वदृष्टा बने, क्यों ईश्वरत्व ओढ़े, क्यों पाप-पुण्य पर फ़तवा दे? वह जीवन देता है, आप पाठक) संभावनाओं पर सोचें-विचारें। कलाकार की महत्ता प्रश्न उभारने में है, समाधान में नहीं है? एक ही रचना यदि अनेक प्रश्नों का उत्तर हो, या उन्हें स्पर्श करे तो बुराई ही क्या है? व्यक्ति, समाज, ईश्वरीयता उत्तरोत्तर अधिक व्यापक भूमिकाएं हैं, परन्तु जो व्यक्ति को छूता है वह अनिवार्यतः समाज को छूता है और समाज को छूकर ईश्वर, नियति तथा पाप-पुण्य के मूलभूत प्रश्नों से उलझता है। जैनेन्द्र की यह कृति एक साथ तीनों धरातलों पर चलती है। व्यक्ति की भूमिका पर मृणाल कुंठित प्रेम से लेकर पाति-व्रत्य और अंत में संतत्व की सीमा तक जाती है और उसकी बलिदानी स्वरूप प्राणमय होकर भी अबूझ बन जाता है। समाज की भूमिका पर वह व्यक्तित्व के दुर्बल, परन्तु प्राणमय विद्रोह की सूचना देती है और उसकी पीड़ा सामाजिक संस्थाओं की दुरूहता और कठोरता को व्यंग के 'काश में ला खड़ा करती है। ईश्वरीयता की भूमिका पर मृणाल की जीवन-लीला नियति का खिलौना बन जाती है और उसकी त्रासकीय गरिमा हमारी आस्तिकता को उभारती है (झकझोर भी सकती है!)। इस प्रकार तीन भूमिकाओं पर समाधान की तीन दिशायें हैं। त्यागपत्र समाज को अपराधनीय

ठहराता है और मृणाल को बलिदानी संत भी बना देता है, परन्तु नियतिवाद का कोई भी समाधान उसके पास नहीं है। यह गहरी गांठ है और उसका संबंध मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य से है। जैनेन्द्र ने इस प्रश्न को समाधृत न कर अपनी दार्शनिकता की रक्षा ही नहीं की है, उसकी चेतनता को पुष्ट भी किया है।

यह स्पष्ट है कि 'त्यागपत्र' को लेकर समीक्षकों को कठिनाई हुई है, क्योंकि उन्होंने मृणाल की कथा को लिया है, उसकी व्यथा को नहीं लिया। जैनेन्द्र के व्यापक सामाजिक और दार्शनिक सूत्रों को वे अनदेखा कर गये अथवा उन्हें अप्रासंगिक मान बैठे, परन्तु जैनेन्द्र पहले विचारक हैं, फिर कथाकार। कथा उनके विचार को खोलती है। वह उदाहरण है, मात्र उदाहरण नहीं है और भी कुछ है, क्योंकि उसकी पीड़ा कुछ दुर्वह भी दे जाती है। 'सुनीता' के दाम्पत्यनिष्ठ पातिव्रत्य की तेजोमयता के बाद जैनेन्द्र एकदम विरोधी ध्रुव पर चले जाते हैं, जहाँ प्रथित ढंग के पातिव्रत्य का कोई अर्थ नहीं है। यदि 'सुनीता' की नग्नता क्षम्य है और उससे उसका सतीत्व या पातिव्रत्य धुँधला नहीं होता, निखरता ही है तो मृणाल के जड़ शरीर (या शरीर को शरीर मान कर) बेचने में वह क्यों लांछित होगी। देह और आत्मा का नैसर्गिक द्वन्द्व जैनेन्द्र अपनी कथाओं में लेकर चले हैं और उन्होंने देह को हरा कर बराबर आत्मा को जिताया है। यह उन्हीं की चेतना नहीं, पारंपरिक त्रासकीय योजना भी है। मृणाल के पास उसकी देह के सिवा और क्या है ? यदि वह उसे अस्त्र की तरह उपयोग में लाती है या उसे ढ़ाल बनाकर अपनी आत्मा को बचा जाती है तो समाधान चाहे अतिवादी हो, उसकी संभावना तो बनी ही रहेगी। मृणाल ने सामान्य नारी की भांति प्रेयसीत्व (चारुत्व) में अपनी चरितार्थता पानी चाही, परन्तु नहीं पा सकी। समाज और पति बीच में आ गये और अंत में तिरस्कृत होकर उसने नारीत्व (ममता, करुणा) में अपनी सार्थकता निबाही। जो खोया, उससे अधिक पा लिया। इससे समाज और पति का दोष कम नहीं हो जाता, परन्तु हम क्यों यह चाहें कि लेखक मृणाल की उपलब्धियों को महत्त्वपूर्ण नहीं माने और समाज से ही टकराता रहे। आगे बढ़ कर वह यह भी मान लेता है कि इसमें नियति का हाथ था या इसे हम ईश्वर की लीला मान लें, परन्तु इससे समाज दोष से मुक्त नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति के बलिदान की महार्घता कम नहीं होती। स्थूल कथा से आगे बढ़ कर जैनेन्द्र यदि सूक्ष्म चिन्तन और गंभीर व्यथा की भूमिका पर उपन्यास का निर्माण करते हैं और अपनी भाषा-शैली की सारी क्षमता से उसे प्रश्नचिह्न की तरह 'तत्ता' बना देते हैं तो इसके लिये क्या वे हमारे धन्यवाद के पात्र नहीं हैं ?

'कल्याणी' (१९३९) जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है और इसकी रचना का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इसके बाद जैनेन्द्र मौन

चली जाती है (या भेज दी जाती है)। डाक्टर असरानी के रूप में लेखक ने महाजनी समाज में उच्च शिक्षिता नारी के सामग्रिक शोषण का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह पतित होने के साथ भयावह भी है। जहाँ मूल में ही कुत्सा है, वहाँ दाम्पत्य कब है? क्या 'कल्याणी' पति की संस्था पर भी तीव्र व्यंग नहीं है? परिवार ही नहीं टूटा है, दम्पति भी टूटे हैं, क्योंकि बाहर से प्रेम न आकर विछोह की आंच बीच में डाल दी है, परन्तु जहाँ दाम्पत्य पत्नी के शोषण पर खड़ा है, वहाँ बाहर से उसके तोड़ने की आवश्यकता भी नहीं, परन्तु कल्याणी यह सब कैसे सहती? कदाचित् इसलिये जैनेन्द्र ने उपन्यास के अंत में 'प्रीमियर' के प्रेम का नया सूत्र चलाकर इस उपन्यास को पूर्वरागी भूमिका दे डाली है। पति उसे जानकर "प्रीमियर-प्रेमी" से आर्थिक लाभ उठाना चाहता है और यह अवसरवादिता नारी से तन बिकवाने से भी बड़ी विभीषिका है, परन्तु इस मोड़ के बिना भी कहानी कम मार्मिक नहीं थी। कहानी में मिस्टर देवलालीकर और कल्याणी का उनके संबन्ध में स्वप्नाभास कल्याणी की मनोस्थिति का सूचक भले हो, इससे कथा की शास्त्रीयता ही बढ़ी है, वेदना नहीं। इसी प्रकार पॉल में हरिप्रसन्न और सुखदा तथा 'विवर्त्त' के क्रांतिकारियों की पुनरावृत्ति है। ऐसा लगता है कि कृति में मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हुए जैनेन्द्र पूर्वकृति के समाधान पर पहुँचे हैं और अंत में 'प्रीमियर' उन्हें हाथ लग गये हैं। इससे देवलालीकर और पॉल कथा तथा चरित्र के विकास की दृष्टि से व्यर्थ भी हो गये हैं। इससे रचना का कला-सौष्ठव अवश्य संकट में पड़ा है और वह उलझ गई है। जो हो, यह स्पष्ट है कि 'कल्याणी' में जैनेन्द्र घर के भीतर की तोड़फोड़ को पति और प्रेमी के दो केन्द्रों में बांटकर उत्पीड़न की विभीषिका और सहन की पराकाष्ठा के दो अंतिम छोरों पर जा टिके हैं। एक तरह से यह उनकी सबसे अधिक अतिवादी रचना कही जा सकती है।

'त्यागपत्र' की तरह 'कल्याणी' भी समूचा व्यंग है। यह व्यंग मृणाल और कल्याणी के हार कर गल जाने में है। भीतर के महान् आदर्श भी उन्हें बचा नहीं सके, परन्तु वे उन पर टिकी रहीं। यह आदर्शों के प्रति जैनेन्द्र का पक्षपात कहा गया है और उन्हें अतिवादी आदर्शवादों का [illegible]नक माना गया है, परन्तु यह मनुष्य की लाचारी है कि वह गल कर ही आदर्श को सार्थक बना सकता है। उसकी अपनी सार्थकता गलने में है, परन्तु यह गलना औरों की आँखें खोल देता है। व्यक्ति के लिए जो आदर्श बने, वह समाज के लिए अभिशाप भी हो सकता है, चुनौती भी बन सकता है। गाँधी और निराला का जीवन प्रमाण है। उपन्यासकार दोनों पक्षों को सामने रखकर अलग हो जाता है, क्योंकि उसका काम व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को दिखाना भर है, उसे

पाटना उसका काम नहीं है। कल्याणी के पक्ष को लेखक ने उपन्यास के बारहवें अध्याय (पृष्ठ ६५-६७) में मुखरित किया है। कल्याणी के इन लेखबद्ध विचारों में उनके जीवन का सत्य उभरा है परन्तु क्या उनका जीवन आत्मप्रवंचना की भूमिका पर भी नहीं जिया गया है। आत्मतुष्टि और आत्मप्रवंचना में कितना थोड़ा अंतर है ? जहाँ ये दोनों ही कल्याणी को लेकर सत्य हैं, वहाँ उनकी आत्मप्रवंचना से पति खण्डित होता है । व्यक्ति पति तो चारित्रिक दृष्टि से ही खण्डित है, यहाँ हमारा तात्पर्य पति नाम की संस्था से है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में तटस्थ कलाकार विभिन्न पहलुओं को उभारकर अलग हो जाता है। प्रेमचंद की तरह उनका साहित्य कर्म का साहित्य (लिटरेचर एनगेजी) नहीं है, वह भाव का साहित्य है और उन्होंने भाव को ज्ञान की तराज़ू पर तोलकर ज्ञान की अनेकांतता दिखलाई है (असार्थकता भी)। जीना ही हमारी सार्थकता है, परन्तु वह किसी या किन्हीं के लिए चुनौती भी हो सकता है। 'कल्याणी' उपन्यास में जीना कल्याणी का है और इस जीने की दो नैरंतिक व्याख्याएं हैं,—एक वकील साहब की, दूसरी उनके मित्र प्रो० श्रीधर की। चौदहवें और सोलहवें अध्याय में लेखक ने कल्याणी को वकील साहब के दृष्टि-कोण से देखा है : "सोच होता था कि अगर उस नारी को नियति ने कुछ सरल और समतल परिस्थिति जीवन की दी होती तो क्या बुराई है।" इत्यादि। (पृष्ठ ८१-८५) ज्ञान की ऊँचाई से यह तर्क-वितर्क यहाँ प्रस्तुत हैं, परन्तु ज्ञान से जीने का काम नहीं चलता। जीना एक भी हो सकता है और दो भी। तब प्रश्न यह होता है कि कल्याणी का भीतर-बाहर एक है। क्या वे जानती हैं कि वे आत्म-प्रवंचिता हैं ? लेखक का उत्तर है,—नहीं, वे नहीं जानतीं, परन्तु भीतर-बाहर तो दो शब्द हैं, वे दो नहीं हैं। मनोविश्लेषक जहाँ जीने को भीतर-बाहर के विरोधों में बांध कर चलता है और अपने तर्क से अंतराल को भरता है, वहाँ जैनेन्द्र दर्शन की भूमिका से विरोध को द्वन्द के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इस संबंध में जैनेन्द्र के अपने शब्द महत्वपूर्ण हैं (पृष्ठ ६५-६७) 'त्यागपत्र' में लेखक ने मृणाल के जीवन को भतीजे सर एम० दयाल की आँखों से देखा है, परन्तु 'कल्याणी' में वकील साहब और श्रीधर के रूप में दो द्रष्टा हैं और दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं, वकील साहब का दृष्टिकोण ही उपन्यास में प्रसारित है और उसके आदर्शवाद को श्रीधर के यथार्थवादी दृष्टिकोण से संतुलित बनाया गया है। इस प्रकार कल्याणी के जीने को हम यथार्थ और आदर्श तथा संवेदना और प्रवाद दोनों धरातलों पर देख सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इससे हम कल्याणी के मर्म तक पहुँचे हैं या उससे दूर पड़ गये हैं।

"परख" से "कल्याणी" तक जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन का एक चक्र पूरा हो

जाता है और वह दस वर्षों के लिए चुप हो जाते हैं, परन्तु वह एकदम चुप भी नहीं रहते; क्योंकि अपनी प्रेम और दाम्पत्य की कहानियों के द्वारा वह समाधानों की खोज में लगे रहते हैं। आत्मा के लिए देह की आसक्ति का त्याग संत-साधना है, परन्तु जैनेन्द्र उसे उसी प्रकार सामाजिक भूमिका पर नर-नारी के अनेक संबन्धों में उतारना चाहते हैं, जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने उसे राजनीति के क्षेत्र में लागू किया है। इसे हम भाव की साधना मान सकते हैं, परन्तु इससे यदि जीवन (या जीने) की नई सम्भावनाएँ खुलती हैं तो हमारा हर्ज ही क्या है ? यदि एक भी मनुष्य इस प्रकार का जीवन जीता है तो शेष मनुष्यों के लिये चुनौती क्यों नहीं बन सकता ? जैनेन्द्र के इस कथा-साहित्य की भूमिका यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक नहीं हैं, यद्यपि उसमें दोनों का आभास और सहारा है। वह आदर्श को आकांक्षा के क्षितिज तक ले जाती है और मानव-सम्बंधी (विशेषतः नर-नारी के सम्बंधों को) भीतर से मूलतः बदल देना चाहती है। प्रेम के लिये दांपत्य की यथार्थता ('परख') दाम्पत्य की अपरिसीम निष्ठा ('सुनीता'), उसके टूटने की पीड़ा ('त्यागपत्र') और उसके छले जाने की मर्मान्तिक वेदना ('कल्याणी') और दाम्पत्य के टूटने पर नारीत्व और आत्मिक प्रेम पर टिक कर अपने को बचा जाने और भीतर की सार्थकता पाने की कहानियाँ ही इन उपन्यासों में कल्पित हैं; नहीं, वे पात्रों के साथ जी भी गई हैं। उनकी कथा चमत्कारक है, परन्तु व्यथा कथा से भी अधिक अद्भुत है और वह हमें भीतर तक झकझोर देती है। यथार्थ और मनोविज्ञान के भ्रम में हमें उलझा कर जैनेन्द्र का दार्शनिक हम पर हँसता नहीं, तो हमारी बुद्धि की हारी होड़ पर मुस्कराता तो अवश्य है। आलोचक जरा सावधान रहें।

दस वर्षों के बाद जब जैनेन्द्र "सुखदा", "विवर्त्त" और "व्यतीत" के साथ फिर एक बार उपन्यास की ओर मुड़े तो घर की सुदृढ़ता के प्रति उनकी आस्था चलायमान हो उठी है। रवीन्द्र के 'घरे-बाहरे' और 'चार अध्याय' की भूमिकाओं ने उन्हें जो सूत्र दिये थे उनकी सारी सम्भावनाएँ अभी तक समाप्त नहीं हुई थीं। 'कल्याणी' में वह मि० पाल के रूप में एक क्रांतिकारी को लाये ही थे, परंतु उससे कल्याणी का विवाह-पूर्व का प्रेम-संबंध नहीं था। पत्नी के पूर्व प्रेमी को दाम्पत्य के बीच में लाकर पति-पत्नी की मनःस्थितियों का अध्ययन कथा और विचार की नई-नई सम्भावनाएँ विकसित कर सकता था। पत्नी को तोड़ कर ('सुखदा') या उदारमना पति को पीछे हटा कर ('विवर्त्त') लेखक दाम्पत्य को उदार बनाने का संदेश दे सकता है, जिससे घर भीतर से बड़ा बन कर सारे बाहर को सिमेट सके, परन्तु यह उदारता चेतन मन की साधना हो सकती थी, अवचेतन मन को उससे सहारा नहीं मिल सकता था। इसीलिये पति या पत्नी में से किसी एक को टूटने की वेदना सहनी आवश्यक बात थी,

परंतु इस प्रकार पात्रों को संकट में डाल कर विवाह पर प्रेम के दबाव का गम्भीर अध्ययन सम्भव था। जैनेन्द्र के ये दो नए उपन्यास 'सुनीता' की पुनरावृत्ति मात्र नहीं हैं, परंतु ढाँचा बहुत कुछ उस जैसा है। यहाँ पति के मित्र का स्थान पत्नी के मित्र और प्रेमी ने ले लिया है और विफल प्रेम की पीड़ा सह कर क्रांति की ओर बढ़ता हुआ जब थका-हारा वह पूर्व प्रेमिका के यहां संवेदना के लिये आने का साहस करता है तो नारी का मातृत्व उसके लिये सजग हो उठता है। मातृत्व यानी नारीत्व। वह उसे संरक्षण देती है, परन्तु जानती है कि उससे पूर्व प्रेमी की तृप्ति सम्भव नहीं है। वह न विवाह को तोड़ सकती है, न प्रेम को। या तो वह स्वयं टूट जाती है या उदारमना पति कर्त्तव्याकर्त्तव्य के घात-प्रतिघात में चकनाचूर हो जाता है। इन उपन्यासों में कथानक की जटिलता बढ़ी है और 'सुखदा' में पत्नी के मुँह पर कथा कहलाई जा कर अधिक प्रामाणिक भी बन गई है। इन्हें हम आत्मकथात्मक उपन्यास कह सकते हैं। फलतः इनमें विश्वसनीयता अधिक है और पाठक कम उलझता है। वक्ता पात्र के मनः संघर्ष अत्यन्त सफाई से उपन्यास में उभरते हैं और अन्य दो पात्रों के मन की पीड़ा हम कल्पित ही कर सकते हैं। इस प्रकार कथा में अनेकांती दृष्टि नहीं रह जाती और अबूझ की रहस्यमयता से हट कर हम स्पष्ट वेदना के देश में आ जाते हैं। सम्भवतः इसीलिये ये उपन्यास अधिक मांसल और प्रभावोत्पादक बन सके हैं।

"सुखदा" की कथा नारी की नारीत्व-साधना की कथा है। पति से स्वतंत्र बन कर पत्नी (विवाहिता नारी) अपना जीवन अपने हाथ में लेना चाहती है, परंतु इस स्वातंत्र्य के पीछे विद्रोह का आक्रोश और संस्कारबद्ध कुंठा भी काफ़ी मात्रा में है जो कथा को मनोवैज्ञानिक दीप्ति तो देती है, परंतु उससे नारी का विवाह सामाजिक न होकर व्यक्तिगत भी बन जाता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि पति की उदारता को अपरिसीम विस्तार देकर भी जैनेन्द्र इस समस्या का समाधान नहीं कर पाये हैं, क्योंकि घर तो टूटता ही है, परंतु इसके साथ हिंसात्मक क्रांतिकारियों की कथा भी है जो पति के बालमित्र हरिदा (हरीश) के आत्मसमर्पण पर समाप्त होती है। यह समर्पण सुखदा के पति (कान्त) के हाथ से ही हुआ है और इसने उसके विद्रोह को विच्छेद तक पहुँचा दिया है। सुखदा को क्षय तक पहुँचा कर लेखक मध्यवित्ती नारी के स्वातंत्र्य को भ्रम ही सिद्ध करता है, परंतु यह स्पष्ट है कि यह उपन्यास लेखक की घर-बाहर की समस्या को एक नया मोड़ देता है। प्रेमचन्द की भी एक सुखदा है। ('कर्मभूमि' में) और उनके साहित्य में सुमन ('सेवासदन' में) में भी नारी के विद्रोह और स्वातंत्र्य के चित्र हमें मिलते हैं, परंतु वहाँ यह विद्रोह जीवनदर्शन नहीं बना है, न उसे मनोवैज्ञानिक ग्रंथि ही बनाया गया है। सुमन एक झटके में घर के बाहर आ जाती है और अन्त में हार कर संन्यासी पति द्वारा स्थापित सेवासदन (आश्रम) में

आश्रय ग्रहण करती है। सुखदा को पति का साथ देने के लिए घर की चहारदीवारी से निकल कर नेत्री बनना पड़ता है, परंतु जैनेन्द्र की सुखदा को पति के बन्धन से मुक्त होने के लिए अपने से ही झगड़ना पड़ता है, क्योंकि जहाँ बन्धन नहीं है, वहाँ भी उसके संस्कार विद्रोह की कल्पना कर लेते हैं। यह स्पष्ट है कि बंधन बाहर के नहीं हैं, भीतर के हैं और एक बार तोड़ कर उन्हें जोड़ा नहीं जा सकता। रवीन्द्र के 'चार अध्याय' और शरच्चन्द के 'पथेर दावी' से प्रभावित होने पर भी जैनेन्द्र नारी विद्रोह की इस कहानी को मार्मिकता दे सके हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनकी सुखदा की तेजस्विता सुमन या 'कर्मभूमि' की सुखदा से कम नहीं है। यद्यपि वह औपन्यासिक (कर्ममयी) कम है, मानसी अधिक है। एक कारण यह भी है कि वह व्यतीत है, बीत गई है और बीते की स्मृति में दंश तो है, परंतु जीवन नहीं है। फिर भी यह सच है कि वह विचारक उपन्यासकार का नया प्रयोग है। 'सुखदा' और 'विवर्त्त' में अंतर यह है कि 'सुखदा' में संकट की ओर साहस से बढ़ने वाली नारी का चित्रण है जो कहीं भी आत्मरक्षक नहीं है, परंतु 'विवर्त्त' में विपत्ति अनाहूत आई है और एक ही समस्या के दो विभिन्न समाधान या चित्रण हमें इन उपन्यासों के द्वारा मिल जाते हैं। भुवनमोहिनी को जो अनायास ही प्राप्त हो गया है, उसे हम कैसे अस्वीकार कर दें? 'सुखदा' में नारी-जीवन की मुक्ति की आकांक्षा पल्लवित है। वैवाहिक जीवन में भी पत्नी पत्नीत्व के बोझ से मुक्त होकर स्वातंत्र्य का अनुभव कर सकती है या नहीं, वह आत्मोपलब्धि के क्षेत्र में कहाँ तक अपने पैरों पर बढ़ सकती है, यह सुखदा की समस्या है, परन्तु 'विवर्त्त' में प्रेम के बीच में वर्ग आया है और वर्गमुक्ति का प्रयास पुरुष को क्रांतिकारिता की ओर बढ़ा देता है। रेल गिरा कर जितेन वर्गवाद (अमीरी) के प्रति ही अपने आक्रोश को प्रगट नहीं करता, अपने प्रति अपनी खीज को भी कर्म की वाणी बना देता है। यह कर्म की वाणी प्रेम की असफलता का विस्फोट मात्र है। इस प्रकार उपन्यास में दो जीवनमूल्यों को तर्क की डोर में नहीं, भाव की डोर में बाँध दिया गया है। प्रेम और अमीरी (वर्ग) के प्रति विद्रोह हिंसात्मक क्रांति (या आक्रामक राष्ट्रीयता) से जोड़ दिये गये हैं। अंत में जितेन पार्टी को भंग करने का आदेश देकर आत्मसमर्पण कर देता है, परन्तु यह समर्पण हरिदा के आत्मविश्वास और हृदय-परिवर्तन के भीतर से नहीं आता। वह प्रेमजन्य कुंठा पर आत्मबलिदानी प्रेम की विजय है। अंत में विजय भुवनमोहिनी की होती है। वह जितेन के भीतर से जीवन की विफलता को नष्ट कर देती है, क्योंकि वह जितेन के अवचेतन को विफल कर देती है—वह अपने जीवन की आत्मप्रवंचना से परिचित हो जाता है। इससे उसका ग्रंथि-मोचन होता है। वह नाव लेकर निकल पड़ता है और रात भर रेत पर लोटपोट कर द्वन्द्वों से मुक्ति पाने में सफल होता है। मोहिनी की अडिगता ने उसके भीतर की गाँठ

निकाल दी है। अब वह आत्मप्रवंचक नहीं, आत्मनिष्ठ है। इसीलिए वह अंकुठित और सहज भाव से अपनी देह को चड्डा के हाथ में सौंप देता है। जितेन जान लेता है कि उसका प्रेम अस्वीकृत नहीं है, परन्तु वह पति और पत्नी दोनों में से किसी को नहीं तोड़ सकता। वह दोनों को अधिक निकट ही ला सकता है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य यही है कि वह अपने प्रति अहिंसक बने। नरेश के घर में पहुँचते ही पहले दिन जितेन ने जान लिया है कि वह विवाह को तोड़ नहीं सकेगा। मोहिनी जब उसके पूछने पर कहती है कि वह खुश है तो अनायास ही जितेन (सहाय) के मुँह से निकल जाता है : "खुश होने की बात ही है। देखता हूँ, यहाँ सब हैं और आधिपत्य पर इतना विश्वास कि शंका की छाया को जगह नहीं। तो इसको विवाह कहते हैं ?" (पृ० २६)

"विवाह क्या बंधन है ? नहीं, प्यार को लेकर वह बंधन नहीं है, क्योंकि पति नरेश ने समझ कर ही कहा है— "मोहिनी, मुँह छिपाने की तुम्हारे लिये कोई बात नहीं। प्यार का हक सबको है। तुम्हारा, मेरा, उसका, सबका।" और मोहिनी स्तब्ध रह गई है, क्योंकि इस तरह समझी जायेगी, ऐसा उसे गुमान न था।" (पृष्ठ ३३)

प्रश्न घर के बने रहने या मिटने का है। मोहिनी जब स्थिर दृष्टि से जितेन को देख कर पूछती है—"क्या मैं समझूँ कि आप घर मिटाना चाहते हैं ? तो वह स्थिति को स्पष्ट कर देता है,— मोहिनी, तुम जानती नहीं, यह चाहने की बात नहीं है। हमारे-तुम्हारे चाहने से क्या होता है ? न चाहने से भी क्या होता है ? न चाहने से भी कुछ नहीं होता। मैंने कहा न था तुम से कि जाओ, मुझे पकड़ा दो। आज तुम यह कर सकती हो। तुमसे कहता हूँ कि लो, लाओ, मुझे मिटा दो। तुम में हिम्मत नहीं है तो मैं क्या करूँ ? लेकिन मोहिनी, एक को मिटना होगा। इसमें मैं या तुम कुछ नहीं कर सकते।···मुझको न मिटाओगी तो अब फिर कहता हूँ कि तुम्हारा घर मिटेगा।" (पृ० ५८)

अन्त क्या बीच में नहीं है ? मिटना मोहिनी को क्यों पड़े ? जितेन मिट कर अपने प्रेम को सार्थक क्यों नहीं करे ? अंत में यही होता है और मोहिना उसे नहीं पकड़वाती, वही अपने को व्यास के हाथों में सौंप देता है। मोहिनी का घर (दाम्पत्य) बच गया है और पति-पत्नी दोनों ने प्रेमी के प्रति उदार हो कर एक-दूसरे को और भी निकट से जान लिया है। दाम्पत्य के भीतर से यह अहिंसा की साधना नया सामाजिक (और मानववादी) जीवन-दर्शन नहीं तो और क्या है ?

विवाह सत्य है, परंतु प्रेम क्या असत्य है ? सत्य और स्नेह (प्रेम) दोनों की रक्षा करने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। एक साथ दोनों की रक्षा हो जायें यह तो साधारण साधना नहीं है। इसीलिये जैनेन्द्र ने उपन्यास के केन्द्र में अपने

जीवन-दर्शन को इन शब्दों में रख दिया है : "हार (वह) हमारी नहीं होती, सिर्फ मिथ्या की होती है।" लेकिन सत्य क्या ? क्या सब स्नेह-बन्धनों को अस्वीकार करता जाये, यही सत्य है ? क्या उनकी पवित्रता और आंतरिकता को निर्वस्त्र और निराव-लंब करता जाये, यही सत्य है ? नहीं, तो फिर इस जगत में कैसे चलना होगा ? सब कुछ तो बाहर जाने के लिये है नहीं। अन्दर हमारे क्या कुछ घृणा, कर्दम, अपरूप नहीं है ? वह भीतर बन्द है, इसी में तो सान्त्वना है। ऊपर रूप है कि अपरूप भीतर रहे। ऐसा है तो क्या ? उचित ही नहीं है ? इसमें अन्यथा क्या है ? क्या सत्य है यह कि रूप को ऊपर नहीं रहने दिया जायेगा और अपरूप ऊपर और बाहर सब ओर फैलने देना होगा।

नहीं, यह उलझन यों नहीं खुल सकती। उसे सुलझाना एक साधना है, बड़ी कठिन साधना है। साथ जाता है वह योगी है। साधना यह कि स्नेह को सत्य से कैसे मिलाया जाये। सत्य एक है, अखण्ड, निरवलंब है, निःसंग और निर्बोध है। स्नेह नाते खोजता है। इसका, उसका, सबका उसे संग चाहिये। वह अपने में नहीं है, अन्य में होकर है। इससे वह सब और संबंधों की सृष्टि करता है। सब संबंध अन्त में बंधन ही तो हैं। स्नेह उन बंधनों को रचता और फैलाता है। इन्हीं तारों से वह हमें यहाँ बाँधता है कि एकाकी होकर हम सूख न जायें, सपना होकर हम उड़ न जायें।

कैसे योग होगा इन दोनों का, सत्य और स्नेह का, भगवान जाने। लेकिन जैसे भी हो, आदमी को यही करना है। स्नेह उसका जीवन है, सत्य उसका जीव्य है। दोनों के बिना वह कहीं नहीं है। लेकिन दोनों के मूल में जो पूरी तरह नहीं बैठ पाता है, यही उसकी समस्या है, इसी में उसका पुरुषार्थ है।" (पृ० १३६-१३८)

जो प्रेमी हो, बाद में भी प्रेमी हो, निरन्तर प्रेमी हो, तो पति को क्या कहना ? उसका आशीर्वाद उस प्रेमी को क्यों न मिले ? पत्नी को सब का प्रेम मिले, सब ही का प्रेम मिले। पत्नी के पति की होने की सार्थकता तभी है कि अभिन्नता इतनी हो कि पति का आरोप उस पर न आये। इस उदारता और प्रेमपरता में ही विवाह की सार्थकता है। यों सत्य भी बना रहता है और स्नेह भी बना रहता है। विवाह का सत्य स्नेह से जहाँ अभिनय है, वहीं जीवन की पूर्णता है। यह जैनेन्द्र की विचार-धारा की परिणति है। कट्टो से (भुवन) मोहनी तक सुनीता, कल्याणी, मृणाल और सुखदा के बीच में लाकर जैनेन्द्र इसी दाम्पत्य-दर्शन को उजागर कर रहे हैं। विवाह तब संस्था न रहकर व्यक्ति की जीवन-साधना बन जाता है और वह मनुष्यता को चरितार्थ करने लगता है।

जैन-धर्म तप पर अडिग खड़ा है, परन्तु तप सबके लिये नहीं है। पंचमहाव्रतों

को लेकर दाम्पत्य के भीतर से ही प्रेम को चरितार्थ करना होगा। प्रेम को तप बनाकर ही हम विवाह को संस्था बन जाने से बचा सकेंगे। संस्था जड़ है, वह बन्धन है। प्रेम चेतन है, वह जीवन है। देह को अस्वीकार पर आत्मा की उपलब्धि होती है। विवाह को दम्पति के निःशंक आधिपत्य में बदल कर प्रेम के संकट से बचा जा सकता है। गेटे के 'सॉरो आफ वर्थर' से 'अन्ना करीनन' और 'घरे-बाहिरे' में होती हुई विवाहित जीवन में प्रेम के प्रवेश की समस्या का एक अत्यंत सूक्ष्म और समर्थ समाधान हमें जैनेन्द्र के उपन्यास देते हैं। उनकी चेतना सार्वभौमिक और सूक्ष्म है, क्योंकि वह आत्मिक है। प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' में इस प्रश्न को उठाया था, परन्तु वह सामाजिक बोध ही दे सके, प्रेम की स्वर्गीयमयता का चित्र भी उन्होंने दिया, परन्तु विवाह को तोड़ कर प्रेम की प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य था। जैनेन्द्र विवाह और प्रेम को एक साथ ही स्वीकार करते हैं और इसकी अनिवार्यता लेकर सामने आते हैं। वह व्यक्ति को बचाते नहीं, उसे द्वन्द की पीड़ा में खपा डालते है। कहा गया है कि यह जैन-धर्म (अहिंसा) है, या जैनेन्द्र धर्म (अव्यावहारिकता) है जो शायद लेखक के अपने दर्शन की उपज है या व्यक्तिगत जीवन की अवचेतनीय भूमिका पर से आया हुआ आत्मप्रवंचना का सत्य है, परन्तु समीक्षक कदाचित् यह मानने के लिए तैयार नहीं कि उच्चतर सांस्कृतिक बोध में नारी-स्वातंत्र्य की समस्या विवाह और प्रेम के द्वन्द पर ही आ कर ठहरती है और उसके समाधान में ही मनुष्य की चरितार्थता है। समस्या का एक समाधान मार्क्सवादियों की ओर से भी आया है जो आदिम मानव की यौन-जीवन की उच्छृंखलता और निबन्धता पर लौटना चाहते हैं। राज्य नहीं रहेगा, वैसे ही विवाह भी नहीं रहेगा। परन्तु इसमें मानव के सांस्कृतिक विकास और उसके उच्चतर आत्मपरिष्कार की अस्वीकृति भी रहेगी। इसी से जैनेन्द्र विवाह को पति-पत्नी की एकात्म-साधना का अभिन्न रूपक मान कर निरंतर प्रेम की छूट देते हैं। प्रकृति को खण्डित करके नहीं, उसे संस्कृत बनाकर ही हम मानव बनेंगे।

'व्यतीत' जैनेन्द्र के इस समाधान को प्रयोग की एक नई भूमि देता है। उसमें स्त्री को व्यर्थ नहीं किया है, जो व्यर्थ और व्यतीत हो गया है, वह पुरुष है। परन्तु इस व्यर्थता और व्यतीतता में ही उसकी उच्चतर सांस्कारिकता और सार्थकता भी निहित है। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में पुरुष आक्रामक है और पत्नी का पूर्व प्रेमी या नया प्रेमी बनकर घर को तोड़ना चाहता है, परन्तु इस उपन्यास में अमीरी की भूमिका लेकर स्त्री प्रेमी के जीवन से हट जाती है और अपने घर को बनाए रखकर भी उसके प्रेम को देह के ताप से खण्डित रखना चाहती है। अनिता के निरंतर प्रहार से जयंत को बचाकर जैनेन्द्र प्रेम के अलिंगी रूप को चरितार्थता

ते हैं और अपने उपन्यासों की समस्यामूलकता का आग्रह लेकर सामने आते हैं। ों जीवन और दाम्पत्य की सारी संभावनाओं को उन्होंने गणित के सूत्रों की नेक संभावनाओं के सदृश हल करना चाहा है और इसीलिये वह अतिवादी ोमाओं तक गये हैं और उनके समाधान ही विचित्र नहीं है, उनका जीवन-चित्रण ी अमर्यादिक और अस्वाभाविक बन गया है। उनके पात्र विस्फोटक बन गये हैं और नकी ऊर्जा हेमलेटी किंकर्त्तव्यता में बँध कर विमूढ़ता की मुद्रा बन गई है। यह ष्ट है कि अपने उपन्यासों में जैनेन्द्र विचार भी उभारते हैं और व्यथा भी, और नकी कथा विचारक उपन्यासकार की भाव-साधना बन गई है। उसकी सामाजिक ांतदर्शिता दार्शनिक ऊहापोह में खो गई है, परन्तु एक बार जैनेन्द्र की औपन्यासिकता के इस स्वरूप को स्वीकार करने के बाद उनसे किसी प्रकार की शिकायत नहीं रह जाती।

जैनेन्द्र का साहित्य संक्रांतिकालीन साहित्य है। उसमें मध्यवर्ग पहली बार अपने प्रति सचेतन और जागरूक दिखलाई देता है और अपनी मान्यताओं के संबंध में प्रश्न उठाता है। प्रेमचंद का साहित्य मध्यवर्ग के राष्ट्रीय, सुधारवादी और सत्याग्रही कर्मयोग का दर्पण है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' जैसे नाम ही उनके दृष्टिकोण को प्रकट कर देते हैं। वह मध्यवर्ग की आस्था के कलाकार हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण से सारा रस खींचकर उन्होंने अपने मानववाद को पल्लवित किया है, परन्तु यह मानववाद उनकी सीमा भी बन गया है। वह समझौते में समाप्त होता है और मूलगत प्रश्नों को बचा जाता है। अपने अंतिम उपन्यास 'गोदान' और 'कफ़न' संग्रह की कहानियों में वह प्रश्न पर होते दिखाई देते हैं। 'गोदान' के नगर-अंश में हमें उद्योगपतियों, पत्रकारों और क्लबों का परिचय मिलता है और उच्च मध्यवर्ग के खोखलेपन से हम परिचित हो जाते हैं। यह मध्यवर्ग स्वरति में लिप्त है और उसका दाम्पत्य पुरुषत्व पर नहीं, स्वार्थ और लिप्सा पर खड़ा है। 'कफ़न' की कहानियों में प्रेमचंद जैनेन्द्र के साथी ही नहीं, उनके मार्ग-प्रदर्शक भी हैं, परंतु इस नई दिशा को प्रेमचंद कोई नया मोड़ नहीं दे सके। वह बीत चुके थे। जैनेन्द्र ने इस नई दिशा को विशेष रूप से पल्लवित किया है।

'परख' में वह प्रेमचंद के साथ हैं,...समाज को बचाकर भी वह व्यक्ति को नहीं तोड़ते, उसे आत्मबलिदानी बनाकर, दैनिक प्रेम की भूमिका से ऊपर उठाकर उसे आत्मिक प्रेम के 'सुन्न महल' में पहुँचा देते हैं, परंतु 'सुनीता' में जहाँ एक ओर वह अति-आदर्शवादी बन गये हैं, वहाँ प्रश्नमूलक होकर हमें संकट में भी डाल गये हैं। उन्होंने मध्यवर्ग के शिक्षित समाज को उसकी मान्यताओं की कसौटी पर

कसना चाहा है और कसावट में काली रेखा ही अधिक उभरी है। हिन्दू समाज की मूल भित्ति है परिवार,—जो अब दाम्पत्य में सिमट आया है, परंतु इस दाम्पत्य में सचाई कितनी हैं? क्या वह पत्नी की बलि पर नहीं खड़ा है? क्या नारी का नारीत्व और मातृत्व भी वहाँ खण्डित नहीं है? क्या वह भी मध्यवर्ग के पुरुष की अधिकार-लिप्सा की लीलाभूमि नहीं है? जब समाज टूट कर दो (पति-पत्नी) में रह गया है तो इस इकाई को भी गहरा क्यों न देखा जाये? यह जिज्ञासा ही जैनेन्द्र से 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'विवर्त्त' लिखवाती है। यही नहीं, बीसियों कहानियों, निबंधों और वार्त्ताओं में समाज की इसी गाँठ को खोलने में जैनेन्द्र लगे हैं। दाम्पत्य क्या देह का है? देह होने पर उसकी सुरक्षा कहाँ है? क्या वह व्यक्तिगत है या सामाजिक? वह लोभ पर टिका है या त्याग पर? उत्तर में 'सुनीता' है, जिसमें हम दाम्पत्य की निष्ठा से परिचित होते हैं और शिक्षित नारी में सनातन सतीत्व या उसके प्रति आस्थावान बनते हैं। साथ ही हम उससे बचना भी चाहते हैं, क्योंकि हमारी नैतिकता देह को उघाड़ना नहीं चाहती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या श्रीकांत-सुनीता के दाम्पत्य में समाज के प्रति असहिष्णुता भी नहीं है? हरिप्रसन्न के पलायन से यदि श्रीकांत और सुनीता बचे तो इससे दाम्पत्य की महिमा क्या सचमुच बढ़ी? 'सुखदा' और 'विवर्त्त' में पत्नी और पति टूट कर भी उदार बनते हैं, सामाजिक होते हैं और अपने को बचाते नहीं। समाज के लिए व्यक्ति के त्याग का आदर्श ही इन उपन्यासों का प्राण है। सहने में ही सच्चा शौर्य है, भागने में नहीं। व्यथा नारी में है कि वह पति से हटती जा रही है और पुरुष में भी है कि वह अपने प्रेमास्पद के प्रति उतना उदार नहीं है; जितना होना चाहिये। सतीत्व को तलवार की धार की तरह पैना बनाकर जैनेन्द्र उससे देह को एकदम काट देना चाहते हैं, परन्तु देह के साथ आत्मा भी उघड़ ही जाता है। नीति-अनीति के प्रश्न पर टिक कर जैनेन्द्र मध्यवर्ग को समाज के आगे कटघरे में प्रस्तुत नहीं करते, उसे नई-संस्कृति के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म चेतना के आगे अपराधी बना कर खड़ा करते हैं। 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में वह पति-परित्यक्ता नारी के सतीत्व के दावे को देह पर खण्डित करा कर भी उसकी आत्मिक दीप्ति को प्रचण्ड बनाये रखते हैं और समाज को पग-पग पर चुनौती देते हैं कि वह अपनी पाप-पुण्य की मान्यताओं को बदले। चुनौती पतित्व को भी है कि वह धर्म-पत्नीत्व को नए सिरे से जाने, परंतु 'त्यागपत्र' में पति परदे के पीछे है, अभियुक्त के रूप में समाज सामने है। पति से टूट कर नारी स्थितिहीन हो जाती है, यह सत्य मृणाल ने भोग कर जाना है। प्रेमचंद सुमन से इस सत्य को बचा गये हैं, क्योंकि उन्हें आदर्शवाद का सहारा है, परन्तु जैनेन्द्र देह को असार्थक

कर मृणाल को देवी बना कर भी समाज के मर्म पर चोट करते हैं। उनका अति-आदर्शवाद जलता हुआ अंगारा है। 'कल्याणी' में पति की धनलिप्सा पत्नी के पूर्व-प्रेम का भी शोषण करना चाहती है और जहाँ वह दुर्नीति है, वहाँ दाम्पत्य छलना मात्र है। इस प्रकार इन रचनाओं में प्रेम और विवाह के द्वन्द के भीतर से दाम्पत्य को अग्नि परीक्षा में डाला गया है और खुलते हुए समाज के लिए नये नैतिक मूल्यों के अन्वेषण का साहस किया गया है।

'व्यतीत' में जैनेन्द्र एक बार फिर 'सुनीता' की भूमिका पर लौट गये हैं और यहाँ अनिता के द्वारा जयन्त के पुरुषत्व को चुनौती मिलती है ('सुनीता' में हरिप्रसन्न ने सुनीता के सतीत्व को चुनौती दी थी) और जयन्त आत्मिक प्रेम पर टिक कर अनिता की देह को बचा जाता है। यही नहीं, वह चंद्रा, श्रीमती बघावर, कपिला सबसे अपनी देह को बचा जाता है (और मन को भी)। प्रेम की सार्थकता आत्मा की भूमिका पर ही है। उसमें देह की अस्वीकृति भी छिपी है। नीति-अनीति का प्रश्न इसी आत्मिक भूमिका पर चल सकता है, वह व्यक्तिगत है, सामाजिक नहीं। मध्यवर्गीय मनश्चेतना को जड़ता की भूमिका से हटाकर प्रकाश और चैतन्य तक पहुँचाने वाले कलाकार के रूप में हम जैनेन्द्र को क्यों नहीं देखें? यह अवश्य है कि मध्ययुगीन संस्कृति के उपादान उसी रूप में नई मध्यवर्गीय संस्कृति के उपादान नहीं बन सकते, परन्तु व्यापक सांस्कृतिक संदर्भों में हमें मानव की मूल चेतना को उभारना होगा। गीता-दर्शन को व्यवहार में लाने की साहित्यिक चेष्टा का मूर्त्त स्वरूप ही तो जैनेन्द्र का साहित्य है। वह हमारे टूटते हुए मूल्यों को नई शरण देता है। भविष्यती संस्कृति और प्राचीन भारतीय संस्कृति के बीच में वह संयोजक चिह्न बनकर रह गया है, परन्तु हम चाहें तो उसे प्रश्न चिह्न के रूप में भी देख सकते हैं। कृति की परख अभिरुचि-मूलक ही नहीं, सामर्थ्य-मूलक भी होती है। पात्रों के मानवीय और व्यक्तिगत सम्बन्धों के भीतर से वह समस्त सांस्कृतिक संदर्भों को अपने भीतर खींच लेती है। विशेषतः उपन्यास—जो मानवीय संबधों की उपेक्षा पर ही नहीं रुकता। इसीलिए जैनेन्द्र के उपन्यासों में नर-नारी के प्रेम और विवाह के संबंधों के भीतर से नई मध्यवर्गीय संस्कृति का सब कुछ प्रश्नसात हो गया है।

यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यास अनुभूत नहीं, कल्पित और अनुमानित हैं। वे उनके विचारों के औपन्यासिक और प्रायोगिक संस्करण हैं। इसी से पात्र हम पर उतना ही खुलते हैं, जितना जैनेन्द्र उन्हें खोलना चाहते हैं। अपने इन कथा-प्रयोगों में वे मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र की (विशेषतः फ्रायड की) नई उपलब्धियों को भी लेते हैं, परन्तु यह जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रतिभा की विशेषता है कि उनके पात्र हमें संवेदनीय लगते हैं और अबूझा रह कर भी हमारे निकट के बन जाते हैं।

विवरण और वर्णन को त्याग कर केवल मनश्चेतना की भूमिका पर पात्रों को खड़ा कर जैनेन्द्र उन्हें गणित के प्रतीक जैसी सार्वभौमिकता दे देते हैं। वे वेचारेपन की मुद्रा बना कर हमारा हृदय जीत लेते हैं। विचार को व्यथा बनाने में ही जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला का महदांश खर्च हुआ है। उनके साहित्य को हम मध्यवर्ग के शिक्षित मन की वैवर्त्तीय भूमिका दे कर ही नई सांस्कृतिक चेतना का अंग बना सकते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यास केवल रूपात्मक समीक्षा में पकड़ में नहीं आ सकते। वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, भाषा-शैली, उद्देश्य ऐसा बँधा हुआ ढाँचा उनके उपन्यासों को अधूरा भी नहीं खोलता। वे मूल्यगत हैं और व्यापकतम सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में ही सार्थक होते हैं। यद्यपि उनके आत्मकथात्मक, डायरीगत, गौणपात्रगत और पत्रगत शैलियों और संदर्भों का विस्तृत उपयोग मिलता है और वे पश्चिमी उपन्यास के अधुनातन शिल्प का आभास देते हैं, सच तो यह है कि वे बहुत कुछ निबन्धात्मक हैं और विकसित औपन्यासिक शिल्प तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के नए जीवन मूल्यों को उभारने के लिये उपकरण मात्र हैं। उनमें हमें जीवन-चिन्तक की प्रातिभ अन्तर्दृष्टि का वरदान मिला है। एक प्रकार से उन्हें मनोविश्लेषण-शास्त्र की समानान्तर उपलब्धि कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यास विभिन्न संदर्भों में अपने मूल्यों का निर्वाह करते हैं। समीक्षक के लिए उनकी कृतियों और उस परिवेश के बीच मे संबंध स्थापित करना होता है जिसका वह अंग रहा है और पाठकों के भाव जगत से उनका संबंध जोड़ कर उसे उनकी लोकप्रियता या विरोध पर भी विचार करना होता है। रचनाओं के स्रोत चाहे समाज में हों या व्यक्ति (लेखक) में, वे कृति की समसामयिक महत्ता पर प्रकाश नहीं डाल सकते। इसीलिये प्रत्येक रचना को हमें मूल्यों पर परखना आवश्यक हो जाता है। सब लेकर वह क्या है? यह संभव है कि रचना एक साथ कई भूमिकाओं पर समर्थ हो। तब देखना होगा कि कौन-सी भूमिका प्रमुख है। मुद्रित रचना में सूक्ष्म और अदृश्य सांस्कृतिक मुद्राओं का पता लगा कर हम कृति की वास्तविकता और उसके कला-सौष्ठव का रहस्योद्घाटन कर सकते हैं।

इस दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यास मध्यवर्गीय संस्कृति के अनिश्चय, पलायन-मनोवृत्ति, आदर्शवाद के आवरण में यथार्थ जीवन के वैषम्य को छिपाने की छलना, बौद्धिकता की विवशता और उसकी हार के सूचक हैं। यदि उनकी रचनाएँ विकृत हैं, या अस्पष्ट हैं तो उनके पीछे मध्यवर्गीय संस्कृति की संस्थिति है। उसमें मिथ्या या विकृति को जानबूझ कर नहीं उभारा गया है। ये तत्त्व अनिवार्यतः आये हैं। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में बार-बार 'पिंड में ब्रह्माण्ड' की बात कही है और उनके उपन्यासों मे मानव-प्रकृति के भीतर से संस्कृति के विराट को प्रतिबिम्बत किया गया

है। उनके पात्रों को हम अपने चारों ओर नहीं देखते, क्योंकि वे असामान्य हैं, अति-संवेदित हैं, अतिवादी भावस्थितियाँ और संवेदन-निकायों के प्रतीक हैं। वे संपूर्ण समाज की अंतरंगी चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं और कर्त्तव्याकर्त्तव्य से जूझते हुये गीता-दर्शन की शरण लेते हैं। उनकी सीमा है प्रेम और दाम्पत्य, और इस सूक्ष्म को उन्होंने अपनी संवेदना के विस्तार से विराट बना दिया है। उनमें दाम्पत्य चेतना और सामाजिक बोध धर्म-क्षेत्र की ऊहापोही चेतना तक पहुँच गया है। पात्र वहां युयुत्सु हैं, जिजीविषु नहीं। कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र में बदल कर जैनेन्द्र हमारे प्रथित सतही मूल्यों को संकट में डाल देते हैं और उनका सारा साहित्य प्रच्छन्न व्यंग बन गया है।

संक्रांतिकालीन और ह्रासोन्मुख संस्कृति का वह विराट क्षण जैनेन्द्र के उपन्यासों में संपुटित्त है जो वर्तमानकालिक संस्थितियों के भीतर से व्यक्ति और समाज की दुर्बलताओं की ओर उँगली उठाता है। उनके उपन्यासों का अध्ययन करते हुये हम समसामयिक मानस की आवेगजनक भूमिकाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकते हैं और इसके साथ ही परिवेशीय संदर्भ की प्रकृति की पूरी-पूरी जानकारी का निर्वाह कर सकते हैं। भारतीय मध्यवर्ग के विकास की ऐतिहासिक और धाराप्रवाहिक चेतना के भीतर से समसामयिक निरोधों को वाणी देने के लिये जैसी सतर्क, अनिश्चित- व्यंजक और समर्थ भाषा-शैली चाहिये, वह जैनेन्द्र के पास पर्याप्त है—नहीं, उसे उन्होंने ही गढ़ा है और इस प्रकार खड़ी बोली की सक्षमता को दूर तक फैलाया है। परिवर्तनशील संस्कृति को औपन्यासिक स्वरूप आलोचक के लिये अत्यंत आकर्षक विषय बन जाता है। शिल्पगत वैलक्षण्य और आविष्कार के पीछे इस सांस्कृतिक सार्थकता को पकड़ना ही समीक्षक का कार्य है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में अवचेतनीय स्तर पर ऐसे संवेदनों को बुद्धि-गम्य बनाने का उपक्रम है जो शैली या शिल्प की व्यक्तिगत उपलब्धि-मात्र नहीं कहे जा सकते, वरन् जिनमें सामसामयिक संस्कृति की स्थिति का स्पष्ट प्रतिबिंब है। इस सांस्कृतिक द्वंद्व को जैनेन्द्र ने अनचाहे-अनजाने ही उभार दिया है और वह बौद्धिक बनते हुये भी आत्मचेतन नहीं हैं। उनकी कला के लिये यह कल्याणकर ही रहा है, क्योंकि समस्याओं और परिणामों के सम्बंध में बौद्धिक जागरूकता रचना की चतुर्दिकी और चक्रांती प्रभावमयता को खण्डित नहीं करती। जैनेन्द्र के उपन्यास मध्यवर्गीय संस्कृति की आज की स्थिति के बिंब-प्रतिबिंब चित्र हैं, उनमें नई संस्कृति की ओर संक्रमण का कोई प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं है। संक्रांति को पार कर लेने के बाद ही साहित्यिक पुनर्निर्माण का प्रश्न उठ सकता है। जैनेन्द्र यदि संक्रांति के बीच में डूबते-उतराते रहते हैं तो खण्डित बौद्धिकता के इस युग में हम उन्हें कोई किनारा नहीं दिखा सकते। अलक्षित रहने में ही उनकी सामर्थ्य है।

श्री महावीर अधिकारी

जैनेन्द्र कुमार : एक मूल्यांकन

जैनेन्द्र कुमार में अपने चारों ओर की दुनिया को देख सकने की समवेत दृष्टि है और इस दृष्टि के प्रकाश में इसे प्रस्तुत करने की क्षमता भी है । मैं उन्हें एक साहित्यिक आचार्य के रूप में देखता हूँ ।

जब मैं छोटा था और उनका साहित्य पढ़ा करता था, तो उनके स्वरूप की मैंने एक तस्वीर बनाई थी। उस तस्वीर में एक विशालकाय, लगभग छः फुट से ऊपर और बड़ी-बड़ी आँखों वाला एक आदमी उभर आया था, जो कम-से-कम साठ को पार कर चुका होगा और उसके सब-के-सब केश पक चुके होंगे; पर जब मैंने उन्हें देखा—आज से बारह वर्ष पूर्व, या आज भी देखता हूँ, तो मुझे अपनी बुद्धि पर तरस आता है। जैनेन्द्र जी बिल्कुल ही वैसे नहीं निकले। निकले तो कठिया बादाम की तरह, जिसके अन्दर पैठ जाना सहज नहीं, जब तक उसे पत्थर से टकरा न दिया जाय।

जब मैंने उन्हें देखा तो यह भी देखना शुरू किया कि उनमें 'त्यागपत्र' लिखने वाला देशभक्त किधर है। 'कल्याणी' का मानव मन की असल गहराइयों में डूबने वाला चिन्तक और 'सुनीता' की सरसता सरसाने वाला साहित्यकार किधर है ? किस प्रकार वह एक ही कलेवर में स्वाभाविक रूप से रह सकता है ? तब यह प्रश्न मेरे लिए साहित्य से अधिक आकृति-विज्ञान का हो उठा।

आप उनके कुंचित भाल को देखिए, उसके नीचे आर-पार तक फैली गहरी और घनी बरौनियों को देखिए, लम्बी पलकों के नीचे दबी हुई आँखों को, हल्की और ठिगनी चिबुक को और सर्वोपरि उनकी दार्शनिक नासिका को देखिए। उनके भाल पर 'त्यागपत्र' का दृढ़ आत्मविश्वास है; भौंहों और होठों में साधारण सरसता नहीं है, वरन् ऐसी उद्दाम वासना के दर्शन होते हैं, जो किसी के मात्र अधर-रसपान से परितृप्त नहीं हो जाती। यह भावना उन्हें मात्र सरस 'सैक्स' की तस्वीरें खींचने वाला कलाकार बनाकर छोड़ देती, अगर उनके मुँह पर यह दार्शनिक नासिका न होती।

उनमें व्यामोह नहीं है; उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति में 'फैशन' है, सम्वेदन नहीं है, जीवन की मात्र दार्शनिक मीमांसा जड़ता से कुछ भी अलग नहीं है। जैनेन्द्र जी का साहित्य जड़ हो जाता, यदि उनमें 'फैशन' न होता। इसीलिए इन दो विरोधी तत्त्वों से मिलकर उन्हें एक 'डिसपैशनेट' दृष्टि मिल गई। इसी कारण उनका साहित्य वर्ग और देश-काल की सीमा से ऊपर जाता है।

वैसे जैनेन्द्र जी को समझना मुश्किल काम है। इसका पहला कारण उनकी असाधारण सरलता है, जो सामान्यतः भ्रमकारक है; दूसरा कारण है उनकी अस्वीकार भावना। किसी दूसरे के द्वारा आरोपित यथार्थ को अपने सिर पर धारण करके वह कभी चलते नहीं। शायद इसीलिए अपना जीवन एक कांग्रेस वालण्टियर के रूप में आरम्भ करके भी वह नेता नहीं बने। एक बार डॉक्टर राधाकृष्णन ने अपने परिवर्तित स्वरूपों की स्वाभाविकता की चर्चा करते हुए कहा था कि एक ही व्यक्ति में राजनीतिक, दार्शनिक और कलाकार सभी समाविष्ट होते हैं। पर यह स्पष्ट है कि नेता बनने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, वे जैनेन्द्र जी में नहीं हैं। हाँ, वह सन्त हो सकते हैं और सन्तों की निष्क्रियता, दार्शनिकता और आत्मनिष्ठा, उनमें प्रचुर है।

मैं उन्हें सन्त इसलिए कहता हूँ कि उन्होंने अपने को जीत लिया है। वह क्रोध नहीं करते। वह मूर्ख होता है, जिसे क्रोध नहीं आता, पर वह बुद्धिमान है जो क्रोध नहीं करता—यह एक पुरानी सूक्ति है। वे सच्चे अर्थों में अहिंसक हैं। वे इसीलिए गांधीवादी सर्वोपरि हैं। पर वैसे गाँधीवाद को भी वह अधूरा जीवन-दर्शन मानते हैं और उसको सम्पूर्ण करने की भी उनकी महत्वाकांक्षा रही है। मार्क्सवाद को 'कुण्ठा का दर्शन' मानते हैं, बार-बार यह कहते-कहते अघाते नहीं हैं। पर यह क्या, दार्शनिक और सन्त होकर भी जैनेन्द्र जी के साहित्य में कोई दर्शन मुखर नहीं हो सका। केवल आत्मोपलब्धि-मात्र हो जाने से जीवन-दर्शन प्रस्तुत करने की क्षमता किसी के साहित्य में नहीं आ जाती। जीवन का व्यापक ढाँचा बनाने के लिए गाँधी और मार्क्स जैसा व्यापक और विराट् जीवन जीना होता है। जीवन की नींव वैज्ञानिकता के आधार पर खड़ी करनी होती है। इसके बिना कोई भी जीवन-दर्शन की इमारत खड़ी नहीं कर सकता।

जैनेन्द्र जी का 'आबज़र्वेशन' बहुमुखी है और साहित्य-सृजन में उससे उन्हें बड़ी सहायता मिली है। उनके पात्र अन्त में अपनी खोज कर लेते हैं। किसी-न-किसी सत्य से अवश्य अवगत हो जाते हैं। जैनेन्द्र जी के सभी कथा-पात्रों में यही एक विशेषता है कि वे किसी-न-किसी सत्य से अवगत हो जाते हैं। इसी को साधकों की भाषा में आत्मोपलब्धि होना कहते हैं। पर क्या इस स्थिति से आगे मनुष्य की और

कोई स्थिति नहीं है ? साहित्यकार के लिए कम-से-कम केवल आत्मोपलब्धि में जीवन का चरम विकास नहीं है, किसी सन्त के लिये भले ही हो।

जैनेन्द्र जी की प्रतिभा वर्तमान को उलट-पुलट कर देखने में ही अधिक प्रखर हुई है। कल की आहट वह नहीं ले सकती, नई दुनिया के नये क्षितिज निर्माण नहीं कर सकती। इसीलिये उन्होंने आज तक युगान्तरकारी कुछ नहीं लिखा। उनकी दृष्टि में पैठ है और मोपासाँ की तरह वह भी जीवन को उलट-पुलट कर उसकी हर तह को साफ खोल देते हैं। सरसता में वह शरत् चन्द्र की समता में बैठते हैं। पर मोपासाँ की स्वाभाविकता और शरत् की सम्वेदनशीलता उनमें नहीं है।

जैनेन्द्र जी का सारा-का-सारा साहित्य विश्लेषणात्मक है, किन्हीं सिद्धान्तों या किन्हीं सामाजिक परम्पराओं के विश्लेषण से युक्त। इसलिए उनकी कहानियों का कलेवर बड़ा नहीं होता। उनके उपन्यास भी बड़े नहीं होते। कहा जाय तो उनके उपन्यास बड़ी कहानियां-मात्र होते हैं। शरत् चन्द्र ने 'त्याग-पत्र', 'सुनीता' और 'सुखदा' जितनी लंबी कहानियाँ शायद बहुत-सी लिखी हैं। जहाँ विश्लेषण हैं वहाँ रचनाकार की आस्था नहीं रह सकती; जहां प्रश्न है, वहाँ सामंजस्य नहीं रह सकता। जैनेन्द्र जी इकाई में समष्टि की खोज करते हैं, जब कि इकाई का सामंजस्य ही समष्टि है। इकाई में कोई शून्य भले ही खोज ले और उसे समष्टि समझ कर भले ही सन्तोष कर ले।

इधर जैनेन्द्र जी की प्रेरणा बुद्धि की ओर से आने लगी है। समाज के शोषितों और संत्रस्तों को देखकर भी उनके हृदय में टीस नहीं उठती, मात्र बौद्धिक सहानुभूति होती है। ऐसा क्यों होता है ? शायद इसके मूल में यही बात रही होगी कि उनके जीवन में कभी ऐसे क्षण नहीं आये, जब अपनी असमर्थता पर उनके नेत्रों में आँसू छलक पाये हों। जिसके अपने पैर में कभी बिवाई नहीं फटी, जिसने शोषण और उत्पीड़न को नहीं सहा, वह इन्सान वर्तमान की कुरूपता, ग्लानि और विक्षोभ से दूर रह सकता है और उसी के लिए दार्शनिक बने रहकर अपने अहम् को सन्तोष देने की सुविधा भी रह सकती है।

जैनेन्द्र जी स्वयं मध्यवित्त के समाज से आये हैं। उनके जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ भी आई हैं, पर उनके साहित्य को पढ़कर यह भली-भाँति कल्पना की जा सकती है कि वह जीवन के यथार्थ से दूर हट कर साहित्य-साधना करते हैं; उसके लिए वे अपनी दुर्द्धर्ष प्रतिभा के ऋणी कम हैं, किसी दूसरे के उत्सर्ग और त्याग के ऋणी अधिक।

जैनेन्द्र जी कभी-कभी हँसते हैं, पर हँसते हैं तो पूर्ण निश्छलता और गहराई के साथ हँसते हैं। वह भीतर से सुलगकर भी बाहर से मुस्कराने की

सामर्थ्य रखते हैं, वैसे भीतर से सुलगने को वे अच्छा गुण नहीं मानते।

उन्होंने अपने विशिष्ट जीवन में दो विशेषतायें पैदा की हैं। एक तो अस्वीकार करते हुए सब कुछ स्वीकार कर लेने की और दूसरी विनम्रता घोषित करते-करते सर्वश्रेष्ठ बन जाने की। अपनी बड़ाई का उन्हें मान है और अपने ज्ञान पर उन्हें विश्वास है; इन दोनों बातों को वे बड़प्पन की भावना के प्रतिकूल मानते हैं। इसलिए उनमें एक विशिष्ट सम्भाषण-शैली पनप सकी है। लेखन में भी वे शैलीकार कुछ इसलिए भी हैं कि जो सब कहते हैं, वह उनका कहना कैसे हो, जो सब की भाषा हो, वह उनकी भाषा कैसे हो सकती है ?

इन्सानी माद्दे की परख में भी उन्होंने अपने अनेक सम-सामयिकों से अधिक निशंकता का परिचय दिया है। सुनीता के नारीत्व और स्त्रीत्व को अलग-अलग कर देने के लिए उन्होंने उसे निर्वसन तक कर दिया है। सुनीता को आज की द्रौपदी कहें तो क्या अनुचित है ? आज सुनीता को हमने समझा है तो यही कि वह उस नागरिक की तरह है जो लोकमंगल की भावना से अभिप्रेरित होकर अपना शरीर किसी फ़िज़ीशियन की मेज़ पर फैला दे। उसकी नग्नता में द्रौपदी की असमर्थता यद्यपि नहीं है, पर माताहारी की निर्वर्णीयता अवश्य है। इसका बिल्कुल उल्टा 'उग्र' में है।

नारी के शरीर को निर्वसन करके निर्विकार रह सकना यदि सम्भव है तो क्या जैनेन्द्र जी ने अपेक्षित 'कल्चर' प्राप्त कर ली है ? सामाजिक परिस्थितियों ने सर्वसामान्य के लिए वैसा कर सकना असम्भव कर दिया है। जैनेन्द्र जी कोई 'मोरालिस्ट' या मनुष्य की स्वाभाविक वासनाओं के दमन की बात कहते हों, यह बात नहीं है। कभी-कभी तो लगता है कि स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को सुनिश्चित करने वाली परिवार-प्रणाली को ही वे अस्वीकार करते हैं।

'सैक्स' पर जैनेन्द्र जी के विचार बूढ़े बर्टण्ड रसल के समान नवीनता प्रिय हैं। प्रतीत होता है कि जीवन में अधिक विश्राम कर सकने के कारण वे यौन-विज्ञान के आचार्य अज्ञातरूप से बन गये। हिन्दी-साहित्यकारों में जैनेन्द्र जी ने नये युवक-युवतियों को अपने सुलझे हुए विश्लेषण से जितना उपकृत किया है, उतना किसी दूसरे ने शायद ही किया हो। बात यह है कि उनके विषय ही दो हैं—दर्शन और काम। उनके साहित्य की मूल प्रेरणा एक ही है, चाहे उसे दार्शनिक वासना कह लीजिए अथवा वासनात्मक दार्शनिकता।

विचारों से व्यक्तिवादी होते हुए भी जैनेन्द्र जी दूसरों के प्रति उदार हैं। यहां तक कि अपने बच्चों और भक्तों पर भी अपने आपको नहीं लादते। सामाजिक शिष्टाचार और दूसरे दायित्वों को एक उत्तरदायी नागरिक की तरह निभाते हुए

भी वे साहित्य में असाधारण रूप से 'सैक्स' की दलदल में क्यों फंस जाते है ? उनका जीवन पूर्णतः 'चेस्ट' है । फिर यह हादसा किस तरह घटित हो जाता है ? लगता है बाल्यकाल में उन्हें खुल कर खेलने का अवसर नहीं मिला । एक जन्म-जात कलाकार सौन्दर्य की भूख लेकर पैदा होता है; यह भूख परितृप्ति नहीं पाती तो कलाकृतियों में आत्मसंतोष ढूंढ़ती है ।

जैनेन्द्र जी एक असाधारण क्षमता-सम्पन्न कलाकार होते हुए भी मध्यवर्ग के वृत्त से ऊपर नहीं निकल सके, क्योंकि वे कल्पना से साहित्य की रचना करते हैं। कल्पना मात्र से साहित्य-सृजन करने वाले साहित्यकार अपनी निजता के घेरे से आगे नहीं निकल पाते ।

जो साहित्यकार गोर्की की तरह जनता में रहकर जीवन बिताते हैं, उनके साथ मानवीय विजयों का अभिमान और पराजयों का विवेक रहता है । जनता को विलक्षण जनों का ऐसा स्वरूप कभी-कभी देखने को मिलता है, जिन्हें देखकर कल्पना भी निहाल हो जाती है । जन-जीवन साहित्य का अक्षय प्रेरणा-स्रोत है, जिसकी महिमा कल्पना से परे की वस्तु है । जैनेन्द्र जी जीवन की रंगस्थली से हटकर एक छोटे-से दायरे में सिमटते आ रहे हैं ।

आज लेखक की स्थिति अजीब हो गई है । आज वह आस्तिकता और नास्तिकता के सन्धि-स्थल पर खड़ा है; उसके चारों ओर तबाही और बर्बादी है । इस अवस्था में साहित्यकार का राजनीतिक पक्ष उभार में आता है । मंचों पर से काम करने वाले सक्रिय राजनीतिज्ञ न होकर भी साहित्य की भी समस्या है, पर यह उनकी निजी समस्या भी है ।

जैनेन्द्र जी का मन दुनिया में है; वे जीवन से प्रेम करते हैं । विराग उनमें नहीं है; जो सोचते हैं, वही सच्चाई के साथ कहते हैं । समाजवादी होना चाहे आज का फैशन बन गया हो, पर वह फैशन के लिए समाजवादी कभी नहीं बनेंगे । उनका रंग अपना है, जो आयु के साथ गहरा होता जाता है । जो कुछ लिखेंगे, उसमें से ठोस आवाज़ निकलेगी । उसमें न तोते का रटा हुआ सबक़ होगा, न महापुरुषों की जीवनियों और प्रवचनों से इकट्ठे किये गये बोध-वाक्यों की प्रतिलिपि ।

जैनेन्द्र जी की व्यक्तिगत क्षमताएं भी आयु के साथ बढ़ रही हैं । गत्यात्मकता और छिप्रता से वर्षों पहले हिन्दी को आभूषित किया था । आज वह अंग्रेजी के श्रेष्ठ वक्ता, लेखक और वार्ताकार बन चुके हैं और हिन्दी के साहित्यकारों में पहले आदमी हैं, जो यदि आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से भी बुलावा आ जाय तो एक लेखक की पूर्ण मर्यादा को सुरक्षित रखते हुए दीक्षांत भाषण कर सकते हैं ।

—०—

सियारामशरण प्रसाद

जैनेन्द्रकुमार का कथा-साहित्य

जैनेन्द्र जी हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ कथाकार हैं। एक उपन्यास-लेखक और कहानीकार के रूप में उन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। जहाँ अन्य कथाकार संसार के वाह्य चलचित्र में प्रभावित हुए हैं और उन्होंने मानव-जीवन की संतुष्टि के लिये वाह्य-उपादानों का आश्रय लिया है, वहाँ जैनेन्द्र जी मानव के अन्तर में पैठने का यत्न करते रहे हैं। उनकी कथाओं का मूल अन्तःदर्शन में स्थित है। जैनेन्द्र जी के अनेक कहानी-संग्रह पाठकों के समक्ष आ चुके हैं। फांसी, वातायन, दो चिड़िया, एक रात, नीलम देश की राजकन्या, जयसन्धि, पाजेब आदि की बहुत चर्चा है।

जैनेन्द्र जी के कथा-साहित्य का एक-मात्र मूल उद्देश्य मानव-जीवन के सत्य का उद्घाटन करना है। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े असाधारण काव्य की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं और अन्तर्द्वंद्वों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। इन चित्रणों की सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि इनके माध्यम से उन्होंने समाज की बाह्य और आन्तरिक विषमताओं पर अच्छा प्रहार करने का यत्न किया है। विषय की गहनता, दर्शन के पुट और सिद्धान्तों और विचारों के प्रकाशन में जैनेन्द्र साहित्य की भूल-भुलैया कभी-कभी पाठकों को सहमाती-सी दृष्टि पड़ती है। लेकिन कहानियों को पढ़ने पर पाठक को अपने अन्तर्मन की व्यथा का, अपने किसी गोपनीय रहस्य का उद्घोषण सा होता दिखाई देता है, पर सुन्दरता इस बात में होती है कि जैनेन्द्र कया-साहित्य के पुलपिट से आपकी मनोग्रंथियों को 'पब्लिकली' एक उपदेशक या मार्ग-दर्शक के रूप में खोलकर नहीं रखते। ऐसी परिस्थिति में कभी-कभी ऐसे चित्र निर्मित होते हैं, इस प्रकार से भावनाएँ व्यक्त होती हैं जो निश्चय ही जन-साधारण के लिए बहुत बोध-गम्य नहीं होती हैं। स्वभावतः इस प्रकार के वर्णनों से पाठक के मन में एक ऊहापोह जागृत होता है और एक विचित्र-सी विरक्ति उसको घेर लेती है। उदाहरणार्थ 'पत्नी' शीर्षक के नाम से लिखी गई कहानी का अवलोकन किया जा सकता है। जैनेन्द्र जी की यह कहानी गहनता को लिए है। मनोतत्व की सूक्ष्मता के माध्यम से इस कहानी में मानसिक गति-विधियों की अभिव्यक्ति की गई है। इसी प्रकार 'पाजेब' नामक कहानी में बाल-मनोविज्ञान की यथार्थता के दर्शन

होते हैं। उनकी इस प्रकार की कहानियों में मनोविज्ञान के विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। अवश्य ही इस प्रकार की कहानियों में कभी-कभी पाठक उलझा-सा महसूस करता है। परन्तु उनकी कुछ कहानियां सत्य, मनोतत्व, धर्म और समाज के आधार पर इतना सुन्दर प्रकाश डालती हैं कि पाठक बरबस रुक कर उन्हें पढ़ने और उनसे कुछ उठा लेने के लिए बाध्य हो जाता है। लेकिन कुछेक कहानियों के विश्लेषण से पाठक को ऐसा लगता है मानो वह स्वयं ही अपने चारों ओर रेशमी जाल बुनता चला जा रहा है, जिसके नीचे वह स्वतः फंसता जाता है और जो कुछ वह पढ़ना चाहता है। वह स्वतः उसके लिये एक दुर्गम पहेली बनती जाती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि लेखक स्वयं ही सीमा का अतिक्रमण करना चाहता है; परन्तु उसका चिन्तन अभिव्यक्ति का पथ नहीं प्राप्त कर पाता। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कहानियाँ समाज के लिये लिखी जाती हैं। यदि साधारण जनता की पहुँच के वे बाहर हो जाती हैं तो उनकी उपादेयता ही संदिग्ध हो जाती है। इस प्रकार की कहानियों को सफल कहानी कहां तक कहा जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। उदाहरण के लिए चेहरा नामक कहानी का अध्ययन किया जा सकता है।

जैनेन्द्र जी ने कुछ कहानियों में एक अस्पष्ट-सी समस्या खड़ी कर दी है। उदाहरणार्थ "वह चेहरा सदा-सदा अवतरण लेता है। निश्चय ही, निश्चय ही वह एक रूप नहीं है, एक रंग नहीं है। पर सदैव वह एकात्मा है। नियुक्त समय पर वह सबको दीखता है और शायद घर-घर होता है। यह चेहरा आँखों के भीतर पहुँचे बिना नहीं रहता और वहाँ से फिर वह मिटना नहीं जानता।" (वह चेहरा) सामाजिक दृष्टि-कोण के पाठक ऐसी रचनाओं से अधिक संतुष्ट नहीं होते, क्योंकि जहाँ एक ओर वह अपने साहित्य का स्तर ऊँचा उठाते हैं, वहाँ उनका सम्बन्ध साधारण जीवन से टूटता प्रतीत होता है। उनकी रचनाएँ साधारण जीवन की उपयोगिता को खोती चली जाती हैं और जिन विशेष परिस्थितियों का चित्रण वे करते हैं, उनका सम्बन्ध समाज से टूट जाता है। (यज्ञदत्त शर्मा—हिन्दी-गद्य का विकास। पृष्ठ ६१)

जैनेन्द्रजी की कहानी साधारणतया सरल होती है और सरलता में भी सजीव लगती है, क्योंकि उसमें एक जन-जीवन का स्पन्दन संचालित होता रहता है, परन्तु जब जैनेन्द्रजी का दार्शनिक उपस्थित हो जाता है, तब भाषा में जटिलता सहज ही आ जाती है तथा भाषा की स्वाभाविक गति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। भले ही सामान्य पाठक उनकी दार्शनिक तथा विचित्र भंगिमा (भाषा की दृष्टि) से अन्तर्मुख हो जाने और न समझने के कारण जैनेन्द्रजी की कला के प्रति ऊंची धारणा का निर्माण कर ले, परन्तु सावधान पाठक और आलोचक इसे दौर्बल्य की स्थिति ही मानेंगे।

निश्चय ही कहीं-कहीं तो अत्यंत ही अनावश्यक रूप से लेखक ने दार्शनिकता

की शिला कहानी के सुघर गले में बाँध दी है, जिससे उसका स्वरूप विकृत हो गया है। उदाहरणार्थ "नीलम देश की राज कन्या," "समाप्ति", "मौत और···" आदि कहानियों को देखा जा सकता है। यों उनकी वे कहानियाँ जो इस दुर्गुण से मुक्त रह सकी हैं, काफी सफल उतरी हैं। पत्नी, एक गो, सजा, रुकिया बुढ़िया आदि रचनाओं को इस दृष्टि से देख सकते हैं। ऐसी कहानियाँ पाठकों के मर्म को स्पर्श करती हैं, चिन्तन की प्रवृत्ति को उन्मुक्त करती हैं।

जैनेन्द्र का साहित्य श्रद्धा और विश्वास के संयोग पर जोड़ डालता है। उन्होंने स्वयं लिखा है, "मुझे इसमें भी वहुत सन्देह है कि जिसको श्रद्धा का संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है. बुद्धि अपने आप में बंध्य है।" (मन्थन-पृष्ठ १६) श्रद्धा की क्रिया महत्त्ववान है जो मुक्ति के विराट मार्ग की ओर अग्रसर करा देती है—अपनी बुद्धि के भीतर रत रहने से जैसे हम ह्रस्व होते हैं, उसी भाँति श्रद्धापूर्वक विराट सत्ता के प्रति समर्पित रहने से हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। इसी तत्त्व की ओर उन्होंने "एक गौ", 'सजा' आदि में संकेत किया है। श्रद्धा के अभाव में ही 'अपना-पराया' में फौजी अफसर घृणास्पद आचरण प्रस्तुत करता है। श्रद्धा के व्यापक प्रसार में, बुद्धि को उसके द्वारा सन्तुलित करने में आन्तरिक सुख का प्रकटीकरण होता है, जीवन को सही दिशा मिलती है अन्यथा वह अंधकाराच्छन्न जंगल में भटकता आन्तरिक शान्ति और उल्लास खो देता है। अज्ञेय और जैनेन्द्र का अन्तर इस आधार पर समझा जा सकता है।

जैनेन्द्र सौन्दर्य की महत्ता स्वीकार करते हैं—'सौन्दर्य परम सत्य है, परम सत्य की अभिन्न विभूति है, सत्य की भाँति सब ठौर व्यापा है। (रुकिया बुढ़िया) परन्तु वह यह भी मानता है—'हरेक सुन्दरता ज़रूरत से अधिक पास ले लेने पर असुन्दर और फिर असत हो जायेगी।' (मन्थन, पृष्ठ २१) इसीलिए तो रुकिया का गहराई युक्त प्रेम सारहीन सिद्ध हो जाता है। रूप की निकटता से रूप के आकर्षण का विपरीत आयाम भी उभर कर सम्मुख आने लगता है। तब मनुष्य का उल्लास शनैः शनैः समाप्त होने लगता है। सत्य की प्रक्रिया जो भी हो, परन्तु मनुष्य रूप को अत्यधिक समीप लाने के लिए प्रयत्नशील रहता ही है। मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से हम इन्कार नहीं कर सकते। जैनेन्द्र के सामान्य पात्र भी इससे मुक्त नहीं दीख पड़ते। रुकिया के प्रेमी को भी इस दृष्टि से देख सकते हैं। प्रेम को स्वतः उन्होंने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है जो अपनी गरिमा से उत्कर्षयुक्त रहता है, परन्तु सामीप्य की उत्कंठा से किसी भी प्रकार निर्लिप्त नहीं रहा जा सकता। इसीलिए तो उनके चरित्र और उनके विचार में यत्र-तत्र विरोध होता दीख पड़ता है।

"अपना-अपना भाग्य" जैसी रचनाओं में भाग्यवाद पर विश्वास प्रकट है, परंतु मेरे मतानुसार ऐसी रचनाएँ मर्म छूने की शक्ति से हीन हैं। "अपना-अपना भाग्य" ही देखें। यद्यपि इसका अन्त दुखान्त है, फिर भी करुणा की शक्ति इसमें कुंठित लगती है। पाठक का मन उससे मर्माहत नहीं होता। ऐसी रचनाओं में जैनेन्द्र सफल नहीं हो सके हैं—मेरी तो ऐसी ही धारणा है। मतव्य और उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण उनकी कुछ कहानियाँ पहेली-सी लगती हैं। उदाहरणार्थ नीलम देश की राजकुमारी, समाप्ति, मौत और···आदि कहानियाँ हैं। यदि जैनेन्द्रजी दार्शनिकता के व्यामोह को छोड़कर साधारण जीवन के धरातल पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति करें तो उनकी कला अधिक जीवंत और प्रभावपूर्ण हो जाय।

———

श्री सिद्धेश्वरप्रसाद

जैनेन्द्र के उपन्यास

जैनेन्द्र विश्लेषण-प्रिय कलाकार हैं। वे प्रेमचन्द की तरह न तो व्यापक चित्र-पट सामने लाते हैं और न उस विस्तार की आवश्यकता ही समझते हैं, बल्कि उनका विश्वास है—"इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं" ('सुनीता' की प्रस्तावना)। समस्या-नाटकों की तरह उनके उपन्यास समस्या-उपन्यास हैं। उनके मन में समस्या के रूप में कोई चीज गुत्थी बन कर अटक जाती है और वे पात्रों के माध्यम से उसका विश्लेषण करते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की समस्या एक ही है—नारी का सतीत्व! नारी की और भी समस्याएँ हैं; परन्तु उनकी ओर जैनेन्द्र का ध्यान नहीं गया है। सुनीता, मृणाल और कल्याणी—तीनों एक ही व्यक्तित्व के तीन रूप हैं, तीनों की एक ही समस्या है।

जैनेन्द्र की यह समस्या क्या है? आज हमारे समाज में पुरुष और स्त्री दोनों के लिए पृथक्-पृथक् नैतिक मापदण्ड प्रचलित हैं। पुरुष वेदान्त का पुरुष है—सर्वथा मुक्त। नारी माया है, जिसके लिए शाश्वत बन्धन-विधान के सिवा समाज के पास और कुछ नहीं है। पुरुष जिस भूल के लिये शाबासी पाता है, नारी उसी के लिये ताड़न। इस समस्या के समाधान—पश्चिम के नारी-स्वातंत्र्य—को भी जैनेन्द्र अस्वीकार करते हैं; क्योंकि उसका आधार प्रेम और सहयोग नहीं, अधिकार-भावना की होड़ है। जैनेन्द्र मानते हैं कि व्यक्ति त्याग और कष्ट-सहन के द्वारा दूसरों को सही मार्ग पर ला सकता है—इसके लिये किसी प्रकार की हिंसक क्रान्ति को वे अस्वीकार करते हैं। इसीलिए उनके विचार से इस नैतिक समस्या का समाधान नारी के अनैतिक होने में नहीं, बल्कि कष्ट-सहन और त्याग के द्वारा अनैतिक पुरुष को नैतिक बनाने में हैं। इसे जैनेन्द्र की अतिनैतिकता माना जा सकता है। इसकी व्यावहारिकता में किसी को सन्देह हो सकता है; पर वैसे अवसर पर जैनेन्द्र तर्क का नहीं—विश्वास का आश्रय लेंगे; क्योंकि विश्वास ही पुनर्निर्माण की शक्ति दे सकता है।

लोगों ने जैनेन्द्र पर शरत् का प्रभाव देखा है; पर कहाँ और किस अंश में—यह स्पष्ट नहीं किया गया है। वास्तव में कोई ऐसी बात है ही नहीं। शरत् की समस्या सामाजिक अधिक है, जैनेन्द्र की समस्या नैतिक अधिक। जिस तर्क के आधार पर शरत् को प्रेमचन्द से अधिक गहराई में उतरने वाला कलाकार कहा जाता है,

उसी तर्क के अनुसार जैनेन्द्र शरत् से अधिक गहराई तक जाने वाले कलाकार हैं।

बहुत कुछ समानता वाले दो चरित्रों को लीजिये। 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी और 'त्याग-पत्र' की मृणाल—दोनों ही सामाजिक दृष्टि से पतित हैं। लेकिन राजलक्ष्मी को पतित होकर भी जो सुख और अधिकार प्राप्त हैं, वह मृणाल को गृहिणी होकर भी नहीं। मृणाल गृहिणी होकर भी लांछित है, राजलक्ष्मी पतित होकर भी प्रिय का प्रेमपात्र। राजलक्ष्मी बचपन के साथी को पाकर वेश्या-वृत्ति से मुक्त होती है, मृणाल अपने बचपन की बात अपने पति से कहकर ताड़न पाती है। लेकिन मूल में एक ही बात है। जिस ईमानदारी के कारण राजलक्ष्मी सभी कुछ पाती है, उसी के कारण मृणाल सब तरह के दुःख उठाती है। तो क्या, जीवन में—दाम्पत्य जीवन में भी—ईमानदारी अपराध है? जैनेन्द्र के सामने यह नैतिक समस्या है। जैनेन्द्र इसे नैतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। शरत् इसी को सामाजिक पार्श्वभूमि में देखते हैं।

इस कथन का एक जबरदस्त प्रमाण यह है कि जैनेन्द्र की नारी की जागरूकता और शक्ति शरत् की नारी में नहीं है। शरत् की नारी निरीह है, अबला है; इसीलिये वह कुछ कहने-करने से लाचार है—इसीलिये वह निरुद्देश्य भीतर ही-भीतर घुलती रहती है। लेकिन जैनेन्द्र की नारी में शक्ति भी है और वह उस शक्ति से परिचित भी है। अनैतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप वह अनैतिक भी हो सकती थी, जैसा मृणाल ने किया; पर यह समस्या का समाधान नहीं है; क्योंकि इससे कुछ भी रचनात्मक कार्य संभव नहीं है। दूसरी ओर रचनात्मक दृष्टि लेकर चलने वाली सुनीता सब कुछ सहती जाती है, तथाकथित अश्लील आचरण भी करती है। पर साथ ही साथ अपने प्रतिपक्षी को किसी न किसी तरह यह संकेत करना भी नहीं भूलती कि वह गलती कर रहा है और इस प्रकार उसकी सोई मनुष्यता को जगाने में सफल होती है। जैनेन्द्र की नारी कर्त्तव्य किये जाती है और कर्त्तव्य-पालन में ही एक रोज समाप्त हो जाती है।

तब, कहाँ है जैनेन्द्र पर शरत् का प्रभाव? जैनेन्द्र की यह मानवीय आधार से युक्त मनोवैज्ञानिक नैतिकता तो गांधी जी की देन है, जिसे उनके स्वानुभूत अनुभवों ने तीव्रता दी है। तो क्या, कला के क्षेत्र में जैनेन्द्र शरत् के ऋणी हैं? अवश्य ही कला के क्षेत्र में जैनेन्द्र ने शरत् से कुछ लिया है। कला के क्षेत्र का यह ऋण मनोविश्लेषणात्मक चित्रण का नहीं (यह जैनेन्द्र की एकदम अपनी चीज है), बल्कि कथन के अनायासपन का है। कथन का यह अनायासपन शरत् की उपन्यास-कला की सबसे बड़ी विशेषता है। कला का यह अनायासपन स्वाभाविकता से भिन्न वस्तु है। स्वाभाविकता का सम्बन्ध वस्तु से है, अनायासपन का अभिव्यक्ति से। 'चरित्रहीन' और 'श्रीकान्त' जैसे लम्बे उपन्यासों में भी शरत् इस सहज भाव से कहते हैं, मानों सब कुछ अनायास ही कहा जा रहा है, निर्माण-कौशल का तनिक भी प्रयास नहीं मिलता।

जैनेन्द्र में भी यह बात अपने सहज स्वाभाविक रूप में मिलती है। पुस्तक समाप्त कर लेने के बाद भले ही जैनेन्द्र की रहस्यमयता की ओर ध्यान जाय, लेकिन बगैर समाप्त किये कहीं किसी प्रकार की रुकावट का अनुभव नहीं होता। यह अद्भुत गुण जैनेन्द्र की विषय-वस्तु में नहीं, उनकी वर्णन-शैली में है। प्रेमचन्द का आकर्षण वर्णन-शैली से अधिक सामयिक विषय का है। एक अन्तर और भी है। शरत् और जैनेन्द्र भावक्षेत्र के कलाकार हैं; प्रेमचन्द अपेक्षाकृत घटना-क्षेत्र के।

लेकिन दो बातों को लेकर जैनेन्द्र की कला शरत् से आगे की चीज कही जायगी। वर्णन-शैली को सफल बनाने के लिये शरत् को जिस विस्तार की आवश्यकता पड़ती है, जैनेन्द्र की उससे बहुत थोड़े में ही, शायद उससे अधिक, अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। जिन थोड़े-से पात्रों को लेकर जैनेन्द्र सफल कथा-सृष्टि कर पाते हैं, वह उनकी अपनी विशेषता है।

जैनेन्द्र की यह सफलता और भी अधिक ऊँचाई पा जाती है, जब हम देखते हैं कि नैतिकता-जैसे सर्वथा अछूते विषय को लेकर भी वे इस सफलता के पाने में समर्थ हैं। कला की मौलिकता, विषय की मौलिकता—और उसके बाद भी उपन्यास की सरसता में कमी न आने देना, यह कोई साधारण बात नहीं है।

(२)

जैनेन्द्र को प्रभावित करने वाले जिन स्रोतों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उन्हें ध्यान में न रखने के कारण ही आलोचकों ने परस्पर-विरुद्ध बातें कही हैं। एक ओर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं—"जैनेन्द्र जी एक भावुक कथाकार हैं।" (आधुनिक साहित्य, पृ० १५६) ; दूसरी ओर डाक्टर नगेन्द्र का मत है—"जैनेन्द्र जी में बुद्धि की तीव्रता है।" (विचार और अनुभूति, पृ० १४४) ; डाक्टर देवराज कहते हैं—"कहीं-कहीं जैनेन्द्र के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं।" (साहित्य-चिन्ता, पृ० १८०), "दार्शनिकता जैनेन्द्र का स्वभाव ही है।" (वही, पृ० १७६)।

ऐसी अटकलें क्यों ? क्या हिन्दी-आलोचना अब भी भावुकता में पल रही है ? भावुक भला बुद्धिवादी और दार्शनिक क्यों होने लगा ? या, स्वभाव से ही चिन्तन-प्रिय दार्शनिक का भावुकता से क्या सम्बन्ध ? जिन्हें जैनेन्द्र के प्रति एक प्रकार की अस्पष्टता की शिकायत थी, वे भावुकता की बात को ले उड़े ! जिनके सामने जैनेन्द्र की सूक्तियाँ थीं, उन्होंने उनकी दार्शनिकता को तो देखा, पर उनकी कला का मूल्य न आँक सके ! एक ही साँस में जैनेन्द्र पर 'व्यक्तिवादी', 'मौजूदा स्थिति अथवा 'स्वीकृत मर्यादाओं के पक्के समर्थक' (साहित्य-चिन्ता, पृ० १८६), 'स्पष्ट लक्ष्य का अभाव' (वही, पृ० १८२) आदि आरोप करने के बाद भी जब डा० देवराज उन्हें 'एक असाधारण लेखक' (वही, पृ० १८८) कहते हैं, तब सचमुच आश्चर्य होता है। स्वभाव से जैनेन्द्र को 'पेशेवर फिलासफरों को लजाने वाले दार्शनिक' मान कर उनके

चिन्तन को प्रभविष्णु (वही, पृ० १८३) न मानना और फिर उन्हें 'विश्व के थोड़े-से विचारोत्तेजक लेखकों' में स्थान देना (वही, पृ० १८८) कुछ अर्थ नहीं रखता।

जैनेन्द्र में न तो तथाकथित बदनाम भावुकता है, न वे 'मौजूदा स्थिति' अथवा स्वीकृत मर्यादाओं के पक्के समर्थक' हैं, और न उनमें 'स्पष्ट लक्ष्य का अभाव' ही है। सच बात तो यह है कि कोई भी व्यक्तिवादी, यदि उसमें 'बौद्धिक गहनता' है (साहित्य-चिन्ता, पृ० १८८), 'मौजूदा स्थिति का समर्थक' नहीं हो सकता। व्यक्तिवाद का जिन्होंने थोड़ा भी अध्ययन किया है, वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि सच्चा व्यक्तिवादी अराजकतावादी (Anarchist) होता है। यह तो सामाजिक विकास की चरम परिणति है, जिसका स्वप्न सदा से संसार के महानतम व्यक्ति देखते आये हैं। यह स्थिति जहाँ व्यक्ति को अबाध अधिकार (पूर्ण स्वतंत्रता) देती है, वहीं वह व्यक्ति से इस बात की भी आशा रखती है कि वह किसी भी अवस्था में दूसरे के अधिकार का अनादर न करेगा। जैनेन्द्र के व्यक्तिवाद को, जो कभी निकट न आने वाले क्षितिज की तरह मानव-विकास की मंजिलों को चुनौती देता रहा है, डा० देवराज 'मर्यादाओं के समर्थक' की जंजीरों में जकड़ना चाहते हैं।

मैं मानता हूँ कि जैनेन्द्र इसी अर्थ में व्यक्तिवादी हैं और ऐसा व्यक्ति 'मौजूदा स्थिति' का कभी समर्थक नहीं हो सकता। 'त्याग-पत्र' में एक स्थान पर जैनेन्द्र कहते हैं—"कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है।" ऊपर जैनेन्द्र इतना ही कह कर चुप रह जाते तो यह निराशावादी और निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण होता। पर आगे वे और भी कुछ कहते है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं—"इससे कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा।" 'कुछ नहीं है', कह कर बहुत कुछ को अस्वीकार करने की जो शक्ति जैनेन्द्र में है, वह उन्हें कभी 'मौजूदा स्थिति' का समर्थक नहीं होने दे सकती है। मौजूदा स्थिति से उत्पन्न घोर असन्तोष ही तो जैनेन्द्र को हमारे विशृंखल नैतिक जीवन का चित्र देने को प्रेरित करता है।

जैनेन्द्र कहते हैं—'कुछ करना होगा'। इस 'कुछ' का समाधान ही वे अपने साहित्य में ढूँढ़ते रहे हैं। जैसा ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, जैनेन्द्र यह मानते हैं कि हमारे जीवन में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसलिये नये आधार पर हमे अपने जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा। यह पुनर्निर्माण नैतिक आधार पर होगा। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन से अधिक महत्त्वपूर्ण है मनुष्य का भीतरी परिवर्तन। जब तक मनुष्य की चेतना का संस्कार नहीं होता, बाहरी विधि-विधानों से नियंत्रित उसकी पशुता चाहे जब कभी उमड़ कर प्रलय का दृश्य उपस्थित कर सकती है।

जैनेन्द्र ने जिन समस्याओं को उठाया है, यशपाल ने 'दादा कॉमरेड' में समाजवादी दृष्टिकोण से उनका समाधान प्रस्तुत किया है। "दादा कॉमरेड" के 'दो शब्द'

में वे कहते हैं—"प्रकृति की दूसरी शक्तियों की भाँति मनुष्य की सृजन-वृत्ति भी एक शक्ति है। प्रकृति की दुर्दमनीय शक्तियों—जलवायु और बिजली—को मनुष्य ने उपयोग के वश में कर लिया है तो क्या, वह अपनी सृजन-शक्ति को स्वाभाविक मार्ग दे अपने जीवन के आनन्द के स्रोत को संकट का कारण होने से नहीं बचा सकता ? प्रश्न है, केवल परिस्थितियों के अनुसार नैतिक धारणा का, मार्ग बदलने का !" यद्यपि अपने इस उपन्यास में यशपाल ने यह दिखाया है कि कोई व्यक्ति सृजन-वृत्ति से परे नहीं हो सकता, फिर भी इससे सम्बद्ध नैतिकता के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है, यह स्पष्ट नहीं हो सका है। क्या शैल का मार्ग सामाजिक जीवन के लिये हितकर है ? क्या यही सृजन-वृत्ति का स्वाभाविक मार्ग है ? स्पष्ट है, परिस्थितियों के अनुसार नैतिक धारणा को बदलने की बात यह नहीं हुई। यशपाल अपनी स्थापना में स्वयं उलझ गये हैं। जैनेन्द्र ने समाज की वर्तमान स्थिति एवं उसके आधार और उसकी नैतिक धारणा के जिस वैषम्य की ओर संकेत किया है, यशपाल उससे कुछ भी अधिक नहीं कर पाये हैं।

वक्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये जैनेन्द्र के किसी पात्र का विश्लेषणात्मक अध्ययन कीजिये। मृणाल को ही लीजिये। लेखक के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि सारी परिस्थिति ध्यान में रखी जाय।

मृणाल को पति के यहाँ हर प्रकार की यातनाएँ मिलती हैं। कारण—

(क) उसने शीला के भाई से केवल मानसिक प्रेम किया।

(ख) पर यह कोई अपराध नहीं था, यदि वह चुप रह जाती। इसीलिये उसका असल अपराध था—पति पर इस रहस्य को प्रकट करना। यहाँ जैनेन्द्र इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि हमारे समाज में ईमानदारी के लिये स्थान नहीं। अपनी इस बात को छिपा कर मृणाल स्त्री-शिरोमणि हो सकती थी।

(ग) दूसरी ओर जैनेन्द्र यह दिखलाते हैं कि मृणाल का पति स्वयं शराबी और दुश्चरित्र है। लेकिन वह पुरुष जो है, नियमों से परे, नियमों का विधायक। इसी असंतुलित नैतिक आधार के कारण तो घर के घर नष्ट हो रहे हैं। एक ओर जहाँ नारी से मानवोत्तर नैतिकता की माँग की जाती है, वहीं, दूसरी ओर, पुरुष नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा करते हुये पाये जाते हैं।

(घ) पति के घर से निष्कासन के पश्चात् मृणाल के लिये मायके में कोई स्थान न था ! वहाँ भी उसका स्वागत बेंतों से किया जा चुका था। इन सारी परिस्थितियों के पीछे मानों जैनेन्द्र व्यंग्य करते हों—"मन की मानव धर्मशास्त्री व्याख्या के बाद से हमारा समाज देवी के सामने सिर झुका सकता है, रमणी के प्रति आवेश और आकुलता दिखला सकता है, लेकिन मानवी के प्रति मानवोचित व्यवहार नहीं कर सकता !"

(ङ) तब मृणाल कोयले वाले के यहाँ जाती है। विज्ञ पाठकों और बहुज्ञ आलोचकों का आरोप है कि यह स्वाभाविक नहीं हुआ। उसे कोठे वाले के यहाँ जाना चाहिये था, उसे कोठे पर जाना चाहिये था—(आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी)।

लेकिन एक तो यह कि कोठे वालों के यहाँ उसके लिये रास्ता बन्द हो गया था, दूसरे यह कि कोठे वाले की महानता (!) का भी उसे परिचय मिल ही चुका था। कोठे वाले मृणाल के पति और कोयले वाले के चरित्र में पैसे की ऊँची दीवार के सिवा और कौन-सा अन्तर है ? प्रेम नाम की चीज न तो कोठे वाले के पास है और न कोयले वाले के—दोनों ही के लिये मृणाल केवल भोग की वस्तु है। मृणाल के इस आचरण के द्वारा लेखक ने यही दिखलाया है। आर्थिक दृष्टि से चाहे समाज के विभिन्न स्तर बन गये हों, परन्तु मनुष्य की दृष्टि से यह विकास अभी अपने शैशव में ही है।

प्रश्न उठता है, यह सब क्यों ? कब तक ? क्या यह सब नारी की आर्थिक परतंत्रता के कारण हैं ? इसके लिये जैनेन्द्र ने कल्याणी का सृजन किया है, जो आर्थिक दृष्टि से स्वयं स्वतंत्र ही नहीं, बल्कि अपनी कमाई पर अपने पति को भी निर्भर रखने वाली है। ('दादा कॉमरेड' की शैल आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र रह कर भी कितनी यातनाएँ सहती है। उसके जीवन को मात्र उच्चवर्गीय अभिशाप कह कर नहीं टाला जा सकता। शैल उदारता चाहती है। सब कुछ संभव है; पर यही संभव नहीं है।) लेकिन इससे कल्याणी को कम यातनाएँ नहीं सहनी पड़ती हैं। उसका पति उसे रुपये कमाने के लिये स्वतंत्रता देना चाहता है। नारी की स्थिति आज के समाज में बड़ी ही विषम है ! किसी भी हालत में पुरुष की अधिकार-भावना कम नहीं होती दीखती। जैवी (Biological) सुविधा और शक्ति तो उसे प्राप्त है ही, इसके सहारे उसने अपने लिये सुरक्षित परम्परा का भी निर्माण कर लिया है, जिसकी आज बात-बात पर दुहाई दी जाती है। जैनेन्द्र मानते हैं कि जब तक सहयोग के मानवीय धरातल पर हमारी चेतना का परिष्कार नहीं होता, जीवन की गाड़ी सहज और स्वाभाविक रीति से नहीं चल सकती। यह सब नारी के प्रति रूढ़ दृष्टिकोण में परिवर्तन से ही संभव है। दृष्टिकोण में परिवर्तन की यह समस्या नैतिक और मनोवैज्ञानिक नहीं तो क्या है ?

मानवी प्रेम की भूखी है, पैसे की नहीं। इसलिये मृणाल का यह कहना कि वह पैसे के लिये अपना शरीर नहीं बेचेगी, निरर्थक नहीं है। जहाँ भी थोड़ा प्रेम मिलता है, वह आकृष्ट होती है। चाहें तो आप इसे दुर्बलता भी कह सकते हैं।

कुछ वर्षों से जैनेन्द्र मौन-से हैं। इधर उनका कोई नया उपन्यास नहीं प्रकाशित हुआ है। फिर भी वे हमारे इतने निकट हैं कि अभी अन्तिम रूप से उनके बारे में कुछ कहना मुश्किल है।

जैनेन्द्र—प्रेमचन्द और अत्याधुनिक 'वादी' (मनोविज्ञानवादी, यथार्थवादी,

समाजवादी आदि) औपन्यासिकों के—बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। प्रेमचन्द जैसा जीवन से गहरा सम्पर्क तो जैनेन्द्र में है ही, अत्याधुनिक औपन्यासिकों की विश्लेषणात्मक गहराई और तटस्थता भी उनमें है। अत्याधुनिक औपन्यासिकों को अनुभूति से अधिक पुस्तकीय ज्ञान का सहारा है, मनुष्य से अधिक सूत्रों और सिद्धान्तों में विश्वास है। लेकिन जैनेन्द्र इनके इन गुणों को नहीं ग्रहण कर सके हैं। जैनेन्द्र की प्रेरणा का आधार वैचित्र्य और वैविध्य से पूर्ण जीवन ही रहा है, आर्ट पेपर पर छपी हुई सुनहली जिल्दवाली पुस्तकों का मोह उन्हें कभी न रहा। यह चीज उन्हें प्रेमचन्द से विरासत में मिली है। 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द की दृष्टि सिद्धान्त से हटकर पूर्णतया मनुष्य पर जा टिकी थी। प्रेमचन्द की व्यापकता और विस्तार जैनेन्द्र में आ कर घना और गहरा हो गया है।

प्रथम श्रेणी की प्रतिभा सदा जीवन से सीधे प्रेरणा ग्रहण करती आई है। निर्मित वस्तु से निर्माण के लिए ली गई प्रेरणा से मध्यम श्रेणी की वस्तु का ही निर्माण संभव है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे व्यक्ति पुस्तकीय ज्ञान से लाभ नहीं उठाते। पर ऐसों के लिए पुस्तकें जब-तब व्यवहार में आने वाले शब्दकोष का काम करती हैं, आधार-ग्रन्थ का नहीं। कुछ आश्चर्य नहीं यदि सस्ते 'नोटों' के इस युग में मूल ग्रंथों की माँग कम हो गई हो, अनुभूति की अपेक्षा कल्पना (fancy) को प्रमाणपत्र मिल रहा हो!

जैनेन्द्र ने समाज को सिर्फ देखने और उसमें पैठने का ही प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि अनुभूत सत्य के सार को ग्रहण कर उस पर चिन्तन भी किया है, सामने आई समस्याओं के मूल की भी खोज की है। यही जैनेन्द्र की मौलिकता है। यह मौलिकता ही उन्हें दुर्बोध (जैसा कुछ आलोचकों का आक्षेप है) बना देती है, क्योंकि मौलिकता हमारे आलोचकों की नजर में सबसे बड़ा अपराध है! यदि जैनेन्द्र जी कोई घोषणापत्र प्रकाशित कर दें, तो ऐसे आलोचकों को सन्तोष होगा।

जैनेन्द्र की ये लब्धियां साधारण नहीं हैं। उनकी उल्लेखनीय त्रुटि एक ही है—जिसे किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में मैं 'हिचक' कहता हूँ। जैनेन्द्र ने जिन समस्याओं को अपने हाथ में लिया है, वे यद्यपि नैतिक हैं, फिर भी नीतिवादी प्रकट रूप से अपने को उनसे बचाते रहे हैं। नैतिक वातावरण में पले जैनेन्द्र को भी थोड़ा संकोच है ही—यद्यपि उनका कलाकार उन्हें चुप बैठने नहीं देता। संकोच की क्षीण छाया उनके चिन्तन और उनकी कला—दोनों पर है। इसीलिये उनकी कला का पूर्ण और निखरा हुआ रूप शायद भविष्य के गर्भ में है।

क्या जैनेन्द्र मौन भंग करेंगे? रहस्यमयता को प्रश्रय देने के लिये नहीं, उसके आवरण को हटा कर प्रकाश की किरणें बिखेरने के लिये।

रमेशचन्द्र गुप्त एम. ए.

जैनेन्द्र जी के साहित्य-सिद्धान्त

जैनेन्द्र जी हिन्दी के एक प्रौढ़ साहित्यकार के रूप में लगभग पिछली तीन दशाब्दियों से अपनी विभिन्न रचनाओं द्वारा साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के दर्शन हमें तीन रूपों में मिलते हैं—उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्धकार। इन तीनों रूपों में उन्होंने अपने साहित्य का निर्माण दर्शन एवं मनोविज्ञान के आलोक में किया है। हिन्दी का कोई अन्य कलाकार इस दृष्टि से उनके समकक्ष नहीं ठहरता। दार्शनिकता से अनुस्यूत् होने के कारण जैनेन्द्र जी का साहित्य सरलता-पूर्वक समझ में आने की वस्तु नहीं है। और, शायद यही कारण है कि उनके साहित्य की पर्याप्त समालोचना भी अभी नहीं हो पाई है। यों इस दिशा में स्वतन्त्र पुस्तकें अथवा स्फुट लेख समय-समय पर प्रकाशित अवश्य होते रहे हैं, किन्तु अभी इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता बराबर बनी हुई है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने हिन्दी के इस प्रबुद्ध विचारक की साहित्यिक मान्यताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

कोई भी प्रौढ़ साहित्यकार एक निश्चित जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करने के साथ-साथ साहित्य-मृजन के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का समर्थक होता है। प्रतिपाद्य विषय एवं अभिव्यंजना-शैली के सम्बन्ध में उसकी निजी मान्यताएँ होती हैं। साहित्य के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में अपनी इन विशिष्ट धारणाओं को दृष्टि में रख कर ही वह अपनी रचनाओं का निर्माण करता है। अतः किसी साहित्यकार के कृतित्व का मूल्यांकन करते समय हमें उसके साहित्य-सिद्धान्तों से परिचित रहना अत्यंत आवश्यक है। साहित्यकार की अन्तर्दृष्टि से अपरिचित होने पर प्रमाता उसके आशय को ग्रहण करने में भूल कर सकते हैं। अतः जैनेन्द्र जी के साहित्य-सिद्धान्तों का यह आकलन उनके पाठकों की बोध-वृत्ति को परिष्कृत करने में निश्चय ही सहायक सिद्ध होगा।

कहानी-उपन्यास-लेखन और आचार्यत्व में क्रमशः भाव-तत्त्व और विचार-तत्त्व प्रमुख होने के कारण बड़ा अन्तर है। साहित्य के सिद्धान्त-निर्धारण का सम्बन्ध अनिवार्यतः आचार्यत्व से ही है।[1] जैनेन्द्र जी अपने मूल रूप में आचार्य या

---

१. देखिए, 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त' (डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ०२२)

आलोचक न होकर कहानी-उपन्यासकार हैं। यद्यपि उन्होंने निबन्ध-साहित्य की रचना भी की है, तथापि उसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक निबन्ध अधिक हैं, साहित्यिक कम। इसी कारण उन्होंने साहित्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप से विचार नहीं किया है। फिर भी, प्रकीर्ण रूप से मिलने वाली विचार-धारा को क्रमबद्ध रूप में संग्रथित करके जैनेन्द्र जी के तद्विषयक विचारों से अवगत अवश्य हुआ जा सकता है। जैनेन्द्र जी के इन विचारों का निजी महत्त्व है। उन्होंने आनुषंगिक रूप में जो कुछ लिखा है, उसका अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है।

(१) साहित्य का प्रतिपाद्य—

जैनेन्द्र जी हिन्दी के दार्शनिक साहित्यकार है। जैन धर्म के अनुयायी होने के कारण वे अहिंसावादी हैं। गांधीवाद का भी उन पर व्यापक प्रभाव है। इस प्रकार करुणा एवं अहिंसामूलक दर्शन मानने के कारण वे मानव मात्र की सद्वृत्तियों को जाग्रत करने वाले साहित्य-स्रष्टा हैं। साहित्य में भी उन्होंने इन्हीं सद्वृत्तियों पर बल देने का प्रयास किया है। वस्तुतः करुणा, दया, क्षमा आदि मनोभाव किसी व्यक्ति अथवा युग-विशेष की सम्पत्ति न होकर जीवन के शाश्वत मूल्य हैं। अतः जैनेन्द्र जी की दृष्टि में इन उदात्त एवं स्थायी भावों का प्रतिपादन करने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ है—"जो साहित्य जितना ही उन भावनाओं को व्यक्त करता है जो सब देश-काल के मनुष्यों में एक समान हैं, वह उतना ही चिर-स्थायी है। ऐसा वही कर सकता है, जिसने अपना अहं समष्टि में खो दिया है।"[1] इस अहं भावना के समाप्त हो जाने को ही जैनेन्द्र जी ने जीवन की सत्यता माना है। उनके अनुसार कवि अथवा साहित्यकार अहं-शून्य होकर ही सत्य को वाणी प्रदान करता है— "हम मनुष्य-समाज की सच्ची सेवा स्वयं सच्चा मनुष्य बन कर कर सकते हैं। और अहं-शून्य हो जाने से बड़ी सत्यता क्या है? कवि भी स्वयं एकाकी (अहं-शून्य) होता है, सम्प्रदाय से विहीन होता है।"[2]

जैनेन्द्र जी साहित्य को जीवन की व्याख्या मान कर चले हैं। जीवन से दूर रह कर केवल आदर्श चित्रों का निर्माण उन्हें अभिप्रेत नहीं रहा। साहित्य को समाज और जीवन का प्रतिबिम्ब मानने वाले विद्वानों से पूर्णतः सहमत होते हुये उन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में यह प्रतिपादित किया है कि, "नहीं, सब साहित्य नहीं है ...वह (मनुष्य) धीमे-धीमे भाषा का महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दान का साधन था, वह आत्म-वंचना का वाहन बना। व्यक्ति उसमें मानव से अधिक अपना अहंकार

---

१. 'स्थायी और उच्च साहित्य' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३३६)
२. 'साहित्य की सचाई' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ७६)

गुजारने लगा। जहाँ यह है, वहाँ भाषा का व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है। वह साहित्य नहीं है।"[१]

एक अन्य लेख में युग के प्रतिनिधि साहित्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—"इन समस्याओं को जो साहित्य आगे नहीं लेता वह अपने कर्तव्य से गिरता है और प्रतिनिधि साहित्य नहीं हो सकता।"[२]

स्पष्ट है कि जैनेन्द्र जी को जीवन से अनपेक्षित रहने वाले साहित्य की कल्पना मान्य नहीं है। उपन्यासकार प्रेमचन्द की भाँति उन्होंने भी जीवन को साहित्य के आधार-रूप में मानते हुए उसे 'जीवन की आलोचना' के रूप में स्वीकार किया है।[३]

(२) साहित्य का उद्देश्य—

जैनेन्द्र जी ने साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन को न मानकर जीवन के सत्य की खोज को माना है। उनका कहना है कि, "अन्तिम सत्य का जितना मार्मिक उद्घाटन जिस रचना द्वारा मुझे मिले, उतना ही अधिक मैं उसके प्रति कृतज्ञ होता हूँ।······सत्यानुसन्धान की इस वृत्ति को लेख में पहले खोजता हूं।" वस्तुतः सत्य का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति की सभी मानसिक उलझनें अनायास ही समाप्त हो जाती हैं। इसी कारण जैनेन्द्र जी ने साहित्य-सृजन द्वारा प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति की ओर संकेत करते हुए साहित्य के श्रेय के सम्बन्ध में लिखा है·· "साहित्य का पहला श्रेय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरंगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शान्ति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकत्रितता।"[४]

जैनेन्द्र जी ने साहित्य का एक अन्य उद्देश्य माना है···मानव-मन को उदात्त बनाना। यदि साहित्य हमारे मिथ्या राग-द्वेष से जड़ीभूत मन को मुक्त करके विशुद्ध आनन्द-लोक में मग्न नहीं करता तो वह सच्चा साहित्य नहीं है—"जो हमारे भीतर की अथवा किसी के भीतर की रुद्ध वेदना को, पिंजर-बद्ध भावनाओं को रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता है, जिसमें अपने 'स्व' का सेवन है और दान नहीं है, वह भी साहित्य नहीं है।"[५] साहित्य की इस महत्ता को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने 'साहित्य-निर्माण का लक्ष्य' शीर्षक लेख में इस प्रकार स्वीकार किया है—"साहित्य इसलिए बड़ा नहीं है कि उसमें गद्य, पद्य, छन्द, कथा, कहानी

१. 'साहित्य और साधना' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ७४)
२. 'प्रतिनिधित्व या उन्नयन' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ५७)
३. 'कुछ विचार' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ६ तथा ७३
४. 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १८-१९)
५. 'स्थायी और उच्च साहित्य' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३३३)

होती है, बल्कि इसलिए बड़ा है कि वह मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनेन्द्र जी के मत में साहित्य का मूल लक्ष्य मानव की वृत्तियों का उनयन करना है।[2] वे साहित्य में कलात्मकता की महत्ता स्वीकार करने के स्थान पर ऐसे भावों का संयोजक आवश्यक मानते हैं, जिनसे इस लक्ष्य की सिद्धि हो सके। उन्हें साहित्य के इस शुभ उद्देश्य में पूरी आस्था भी है......"भाषा चाहे जैसी हो, भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरण का परिष्कार भी न हो, किन्तु वह जीवन की, हृदय की, चीज़ ज़रूर हो। वह हमारी कमज़ोरियों की दीवार में झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। बीमार के लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है? मनुष्य-मनुष्य के बीच में जो दीवारें खड़ी कर दी गई हैं, साहित्य उनमें खिड़कियाँ खोल देगा।"[3]

(३) साहित्य और ईमानदारी—

साहित्य-सृजन के समय जैनेन्द्र जी ने ईमानदारी की रक्षा को भी आवश्यक बताया है। ईमानदारी का अभिप्राय है अनुभूति की अमिश्रित अभिव्यक्ति। अर्थात् हम अपने भावों को सहज रूप में अभिव्यक्त कर दें; भावों के स्पष्टीकरण के लिये कल्पना का आश्रय तो लें, पर उसी में डूब न जाय; कला के प्रसाधन में ही न लगे रहें। यदि हम ऐसा करेंगे तो पाठक मूल भाव को ग्रहण करने के स्थान पर बाह्य-सौंदर्य तक ही सीमित रह जायेगा। इसी कारण जिस रचना में केवल भाषा, छन्द आदि के कलात्मक सौन्दर्य पर ही ध्यान दिया गया हो, उसे जैनेन्द्र जी साहित्य की कोटि में नहीं मानते—"नहीं, सब साहित्य नहीं है। – वह (मनुष्य) धीमे-धीमे भाषा का महत्व भूलने लगा। जो आत्म-दान का साधन था, वह आत्म-वंचना का वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावना से अधिक अपना अहंकार गुजारने लगा। जहाँ यह है, वहाँ भाषा का व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है। वह साहित्य नहीं है।"[4]

केवल सैद्धांतिक रूप में नहीं, वरन् व्यावहारिक रूप में भी जैनेन्द्र जी ने इस आदर्श को स्वीकार किया है। अपने रचनात्मक साहित्य की इसी विशेषता की ओर इंगित करते हुए उन्होंने लिखा है—"अपने लिखने में मैंने यही किया है। देखे या भुगते तत्त्व को लिया है, अपनी भावना का उसे मेल दिया है और कल्पना से गढ़ कर

१. 'हमारी साहित्यिक समस्याएं' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ६३
२. "साहित्यकार आपके ख्याल की दुनिया को साफ़ रखता है।" 'जीवन और साहित्य' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ६४)
३. 'साहित्य और साधना' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ७५)
४. 'स्थायी और उच्च साहित्य' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३३३)

फिर सबको ऐसे प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा खुले और सहानुभूति फैले।"[1]

जैनेन्द्र जी साहित्यकार को मताग्रह से दूर रहने का उपदेश देते हैं। इस संबंध में उनका मत है कि, "साहित्य-रचना में..मताग्रह को स्थान न होगा। आग्रह जितना है, या जितना तीव्र है, रचना उतनी निकृष्ट है। एक मत के आग्रह में दूसरे मत का अनादर समाया है। यह एक विकृत वृत्ति है और असांस्कृतिक है, फलतः साहित्य से विपरीत है।"[2] वस्तुतः यह ठीक भी है। किसी मत-विशेष की ओर आग्रह होने के कारण साहित्य-स्रष्टा अपने भावों का स्वतन्त्र प्रतिपादन करने में असमर्थ रहता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि सामाजिक प्राणी होने के कारण लेखक विभिन्न मतों से पूर्णतः अप्रभावित तो नहीं रह सकता, पर जैनेन्द्र जी का अभिप्राय यही है कि इन मतों के प्रभाव से अधिक से अधिक जितना बचा जा सके, उतना ही श्रेयस्कर है। मताग्रह से प्रेरित होकर हम जो भी लिखेंगे, वह हमारी अपनी वस्तु न होगी। वह हमारे मन का सच्चा प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ होगी; जबकि साहित्य और कुछ न होकर कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब मात्र है—"साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनों में वैसा पार्थक्य नहीं है, जैसा कि हलवाई और मिठाई में होता है। रचनाकार और रचना-कृति में ऐक्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्य का कर्त्ता अच्छा ही होता है। साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब है।"[3] अतः लेखक को यही चाहिये कि वह आवश्यक मतों की ओर झुकने के स्थान पर अपने मन की निश्छल अभिव्यक्ति करने का ही प्रयास करे—"समूचे जीवन को निश्छल भाव से अपनाने और आकलन करने की तैयारी जिन शब्दों में नहीं है, उनमें साहित्य के रथ को अटकाने से काम नहीं चलेगा।"[4]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैनेन्द्र जी की भांति कविवर दिनकर ने भी साहित्यकार की ईमानदारी पर इतना ही बल दिया है। कवि के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए उनके द्वारा व्यक्त किया गया यह मत जैनेन्द्र के ही अनुरूप है—"कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे।"[5]

---

१. 'मैं और मेरी कला' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३२७)
२. 'मार्ग क्या : संघर्ष कि समन्वय ?' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १३४)
३. साहित्य का श्रेय और प्रेय (जैनेन्द्र), पृष्ठ ३१७–३१८।
४. 'समालोचन के मान बदलें' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १३१)
५. मिट्टी की ओर (दिनकर), पृ० १३२।

(४) साहित्य में आदर्श और यथार्थ—

साहित्यकार अपनी रचना में जीवन के जिस स्वरूप को ग्रहण करता है, उसका एक आधार तो उसकी कल्पना में रहता है और दूसरा जगत् की यथार्थ भूमि में। वास्तविक जीवन को अपने मनोवांछित स्तर तक लाने के प्रयास में उसे कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। जीवन 'जैसा है' और 'जैसा होना चाहिये' इन्हें हम क्रमशः यथार्थ और आदर्श कहते हैं। साहित्य में इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः इन दोनों में विरोध न होकर आन्तरिक सामंजस्य है। आदर्शवाद की प्रेरणा का आधार यथार्थ ही है। यदि उसमें जीवन की वास्तविकता का अंश न होगा तो हम ऐसे आदर्श को प्राप्त करने के लिए व्याकुल ही क्यों होंगे ? अतः कल्पना का रंग चढ़ाये बिना जीवन का यथातथ्य चित्रण यथार्थवाद है और कल्पना के स्पर्श से उसका साफ़-सुथरा स्वरूप है आदर्शवाद।

जैनेन्द्र जी ने साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रतिपादन पर अनेक लेखों में विचार किया है। यथार्थ वर्णन यद्यपि जीवन की घृणा, कुत्सा और न्यूनताओं को उभारने का प्रयास करता है, किन्तु हमारे आलोचक विचारक का स्पष्ट मत है कि केवल इसी कारण साहित्यकार यथार्थ से मुंह नहीं मोड़ सकता। उनके अनुसार, "आज का मनुष्य सुन्दर से अधिक बीभत्स के निकट है, इसलिए साहित्य को भी अधिकार नहीं कि वह सुन्दर के निकट जाय। उसे बीभत्स को उतनी ही पूरी तरह स्थान देना होगा, जितना कि उसने वर्तमान जीवन में ले रखा है। जिसको देखकर ग्लानि होती है, जुगुप्सा आती है। उस सबसे भी बचना नहीं होगा।"[१] साथ ही यथार्थ की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते भी हुए जैनेन्द्र जी आदर्शवाद का विरोध नहीं करते। "जो साधारणतया आँखों से नहीं दीखता, नहीं दीख सकता, साहित्य की पहुँच कल्पना द्वारा वहां भी हो जाती है।"[२] इन शब्दों में उन्होने इसी तथ्य की स्वीकार किया है। इन्हीं विचारों को उन्होंने अपने एक अन्य लेख में इस प्रकार व्यक्त किया है······"साहित्य ज्यों का त्यों बाज़ारी दुनियां के प्रतिबिम्ब को अंकित करने के लिये नहीं है। इस दृष्टि से साहित्य विशिष्टतर है, यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है। साहित्य के नायक और पात्र दुनिया के आदमी की तुलना नहीं कर सकते।"[३] आदर्शवादी विचारधारा की स्वीकृति के सम्बन्ध में उनकी ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—"आदर्श की प्रेरणा को कोई रोमांटिक कहे तो मुझे आपत्ति नहीं।······जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है···फिर चाहे वह कितना

१. प्रतिनिधित्व या उन्नयन (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ५७-५८)
२. 'दूध या शराब' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ७०)
३. 'आलोचक के प्रति', शीर्षक लेख, (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १०६)

भी बड़ा आदमी माना जाता हो·····सफल उपन्यास नहीं लिख सकता। एकदम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, मिस्टिक हो।"[1]

यथार्थ और आदर्श के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी की मान्यताएँ प्रथम दर्शन में विरोध-ग्रस्त-सी दिखाई देती हैं। ऐसा लगता है कि वे कभी तो यथार्थ को महत्व देकर आदर्श का तिरस्कार कर रहे हैं और कभी इसके विपरीत। उदाहरणार्थ उनके एक ही लेख के ये दो विरोधी विचार लिए जा सकते हैं—

(अ) "अगर यह सच है कि शिश्नोदर समस्या हमारे जीवन पर व्यापी हुई है, तो उससे बच कर किसी साहित्य को नैतिकता की ओर नहीं भागना होगा। पलायन वृत्ति में साहित्य का अशुभ है। साहस के साथ यथार्थ की सब कदर्य जघन्यताओं का सामना करना होगा। और साहित्य वही है, जो यथार्थ का सच्चा अक्स उतार कर हमें पेश करता है।"[2]

(आ) "वह कैसा साहित्य, जो व्यक्ति के आगे दर्पणवत् आकर उसे असमर्थ और हीन दिखाता है। जो वर्तमान की त्रुटियों पर इतना ध्यान देता है, कि भविष्य की परिपूर्णताओं को ओझल कर देता है। इसलिए साहित्य को क्षणिक और कृत्रिम यथार्थ की तरफ पीठ देकर, बल्कि उस पर पांव देकर, आदर्श के चित्रण की ओर ही उठना होगा।"[3]

किन्तु, वास्तव में ऐसा नहीं है। कभी एक अथवा दूसरे पर बलाबल होते हुए भी जैनेन्द्र जी का अन्तिम मत यही रहा है कि साहित्य में आदर्श और यथार्थ दोनों की समान महत्ता है। इनमें से किसी का भी तिरस्कार नहीं हो सकता। 'बुद्धि' और 'आँख' को आदर्श के तथा 'पैर' को यथार्थ के प्रतीक रूप में ग्रहण करते हुए उन्होंने इनके सामंजस्य पर ही बल दिया है—"हम जो एक साथ बुद्धि, आँख और पैर के स्वामी हैं, क्या पैर का तिरस्कार करें? हमारे व्यक्तित्व की शर्त यही है कि हम इन तीनों अवयवों में विरोध-भाव न पैदा होने दें और उन्हें परस्पर के प्रति निबाहते रहें।"[4]

(५) साहित्य और भाषा-शैली

जैनेन्द्र जी भाषा को स्वाभाविक बनाये रखने पर बल देते हैं। उनकी स्वीकारोक्ति है कि "मैं अपने लिखने में स्वैराचार के दोष से मुक्त नहीं हूँ। जो शब्द आया

---

१. 'उपन्यास में वास्तविकता' शीर्षक लेख, (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १५७)
२. 'प्रतिनिधित्व या उन्नयन' शीर्षक लेख, (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ५८)
३. 'प्रतिनिधित्व या उन्नयन' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ५६)
४. दूध या शराब शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६६)

मैंने स्वीकार किया है और वाक्य जैसा बना बनने दिया ।"[1] "अथवा बढ़ियापन का लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठक को कैसे दूँ ? यदि मैं पूरे रूप में परिष्कृत नहीं हूं तो यह मेरा अपराध है, पर जो हूँ, वही रह कर मैं पाठक के समक्ष क्यों न जाऊँ ?"[2] वस्तुत: जैनेन्द्र जी का भाषा की स्वाभाविकता पर बल देना ठीक भी है । जिस समय साहित्यकार अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, उस समय वह यह नहीं सोचता कि मैं किस प्रकार के शब्दों का चयन करूँ या किस प्रकार का वाक्य-विन्यास करूँ ? यदि वह ऐसा सोचेगा तो भावावेग की स्थिति समाप्त होने का भय बना रहेगा । अतः साहित्य-सृजन के विशिष्ट क्षणों में साहित्यकार को भाषा के परिष्कार की चिन्ता न करके उसे स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए । "वह भाषा दरिद्र है जो जिन्दगी का साथ देने की बजाय उस पर सवारी कसती है ।"[3] इस शब्दों में जैनेन्द्र जी ने इसी मत की पुष्टि की है ।

शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—में से जैनेन्द्र जी ने साहित्य-रचना में तीनों का महत्त्व स्वीकार किया है । "भाव उसमें से पाठक को ऐसा सीधा मिले कि बीच में होने के लिए कहीं भाषा का अस्तित्व रहा है, यह तक उसे न अनुभव हो ।"[4] कह कर उन्होंने एक ओर तो अभिधा की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है, और दूसरी ओर निम्नस्थ उद्धरणों में लक्षणा-व्यंजना की महत्ता को भी स्वीकार किया है—

(अ) "सुन्दर गद्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में नहीं होता । शब्द के अर्थ तक जो रहता है, अधिकांश में वह गद्य विचारणीय नहीं बनता । रोजमर्रा की बोल-चाल की बात को कौन मन तक लेता है ?"[5]

(आ) "साहित्य की भाषा कभी सीधे नहीं, सदा व्यंजना द्वारा ही अपना अभिप्राय देती है । यों भी कह सकते हैं कि वहाँ भाषा कह कर इतना नहीं कहती, जितना अनकहा छोड़ कर कहती है ।"[6]

(इ) "किसी रचना में प्रसाद और व्यंग्य का न होना बहुत खराब है—यदि मेरी रचनाओं में उसका अभाव है, तो मैं इसे अच्छा नहीं मानता ।"[7]

---

१. 'मैं और मेरी कला' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३२६)
२. 'आलोचक के प्रति' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १०७)
३. 'मैं और मेरी कला' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३२६)
४. 'गद्य विकास और कथा उपन्यास' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १४७)
५. 'गद्य विकास और कथा उपन्यास' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १४५)
६. 'गद्य विकास औ कथा उपन्यास' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १४५)
७. 'विविध' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३५९)

पूर्णाधिकार नहीं है—यह अनुभूति लेखक के लिए बहुत उपयोगी है। यह अनुभूति होने पर भाषा की बहार दिखाने का प्रलोभन उस पर सवार न होगा और वह विनम्र ही रहेगा।"[1]

(६) साहित्य और कलात्मकता—

किसी भी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए हमें दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है—भाव पक्ष एवं कला पक्ष। भाव-पक्ष का सम्बन्ध साहित्य की आत्मा से है और कला पक्ष उसका शरीर है। इन दोनों में भाव पक्ष का महत्त्व निश्चय ही अधिक है। यदि हमारे पास सशक्त भाव हैं, तो हम कलात्मक परिसज्जा के अभाव में भी उनकी प्रभावकारी अभिव्यक्ति कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि हमारे भाव ही नहीं होंगे तो हम मात्र कला के बल पर प्रमाता को अधिक देर तक आकृष्ट नहीं कर पाएँगे। इसी कारण जैनेन्द्र जी भी भावाभिव्यक्ति में कला की प्रमुखता (टेकनीक) को कोई स्थान नहीं देते। उनके अनुसार—"शरीर-शास्त्र-विद् हुए बिना भी जैसे प्रेम के बल से माता-पिता बन कर शिशु-सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना 'टेकनीक' की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है।"[2]

यही नहीं, उन्होंने 'टेकनीक' को 'अपने अन्दर का दिवाला'[3] मानते हुए यहाँ तक कह दिया है कि—"साहित्यशास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है। और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्य-शास्त्र की अवज्ञा नहीं है, साहित्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा ही है।"[4]

प्रस्तुत प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि भावों के प्राबल्य की स्थिति में अभिव्यक्ति की कलात्मकता स्वयं आ जाती है। कला कोई आरोपित वस्तु न होकर सत्साहित्य का प्राकृत गुण है। प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के कारण साहित्यकार को भाषा, छन्द आदि पर ऐसा अधिकार हो जाता है कि वह भावों के अनुकूल इनका अनायास संयोजन करता चला जाता है। उसके साहित्य में इन दोनों का पार्थक्य नहीं रहता। वहाँ कला भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ही आती है। ऐसा साहित्य ही चिरस्थायी कहलाता है—"शरीर और आत्मा की एकता, जिसमें जितनी सिद्ध हुई है वह उतना चिरजीवी साहित्य है, यानी जिसमें यदि शरीर है तो मात्र आत्मा को धारण करने के लिए है।"[5]

---

१. 'लेखक की कठिनाइयाँ' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० २६५)
२. 'स्थायी और उच्च-साहित्य शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३३५)
३. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३५६
४. 'साहित्य की सचाई' शीर्षक लेख, (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ७६)
५. 'स्थायी और उच्च साहित्य' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३३६)

निष्कर्ष—

जैनेन्द्र जी के साहित्य-सिद्धान्तों का निरूपण करने के अनन्तर यह स्थिर करना भी आवश्यक है कि उनकी साहित्य-दृष्टि व्यवहारिक दृष्टि से कितनी उपयोगी है ? इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जैनेन्द्र जी ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे मात्र सिद्धान्त-कथन तक ही सीमित न होकर, उनके अनुभूत हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने इनका सर्वत्र पालन किया है। आलोचना की अपेक्षा प्रायः कहानी-उपन्यासों अथवा अन्य प्रकार के वैचारिक निबन्धों तक ही सीमित रहने के कारण यद्यपि जैनेन्द्र जी ने विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों की विस्तृत और गहन विवेचना नहीं की है, तथापि उनके द्वारा सूत्र रूप में प्रस्तुत किये गए विचार भी अपने आप में पूर्ण व्यवस्थित हैं। उनमें भ्रान्ति अथवा अविवेक के लिए स्थान नहीं है। यहाँ इस बात का संकेत करना अनावश्यक न होगा कि जैनेन्द्र जी ने रचना के बाह्य स्वरूप की दृष्टि से मूल्यांकन करने वाले प्राचीन मान-दण्डों का विरोध किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने इसी आवश्यकता पर बल देते हुए सामयिक आलोचकों से इसकी प्रत्याशा करते हुए लिखा है—"अब हमारे आलोचना के मानों को गहरे जाने की जरूरत है। शरीर की नाप-जोख हो, लेकिन उसी हद तक जहाँ तक वह आत्मतत्व तक पहुँचने में सहायक हो। वह आलोचना, जो शरीर का व्यवच्छेद करती और उसी में गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, सफलता-असफलता का निर्णय देखती है, सच्ची नहीं है। पांडित्य-पूर्ण तो वह हो सकती है, जीवन-संवर्द्धक वह नहीं हो सकती।"[1]

इन पंक्तियों में जैनेन्द्र जी ने आज के कलावादी आलोचक को स्पष्ट चुनौती दी है। और, यह ठीक भी है। साहित्य और कुछ होने की अपेक्षा सबसे पहले हृदय की वस्तु है। कला अथवा नीति की दृष्टि से उसका मूल्यांकन व्यर्थ है। जिस रचना में साहित्यकार के मन का जितना स्वच्छ प्रतिबिम्ब है, वह उतनी ही सशक्त है। अतः आज इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम आलोचना के नपे-तुले मानदण्डों में परिवर्तन करके हृदय के मूल संवेदनों की दृष्टि से उसका उचित मूल्यांकन करें।

---

१. 'समीक्षा समन्वयशील हो' शीर्षक लेख (साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १३८)

बालमुकुन्द मिश्र

प्रश्नान्त, सुखान्त, दुखान्त से निर्वेद : जैनेन्द्र

सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी और सुदर्शन की रोचक कृतियाँ बचपन से साहित्य की ओर मुझे आकर्षित करती रहीं। माध्यमिक-शिक्षा के समय, प्रेमचन्द जी के साथ उनके अनेक पारिवारिक लेखक सदस्यों के साथ जैनेन्द्र कुमार से परिचित हुआ। जैनेन्द्र का नाम (१९३६-३७) सबसे पहले 'हंस' पत्रिका में पढ़ा, तब वे सम्पादक थे।

साहित्यकारों के सम्पर्क में (१९४२-४७) आने पर पता चला कि वह दिल्ली में रहते हैं। प्रो० नगेन्द्र द्वारा आयोजित दरियागंज की एक गोष्ठी में उनके दर्शन किये। व्यक्तित्व से अधिक, कहीं तेजी के साथ उनकी वाणी ने मन पर प्रभाव डाला—जो आज तक स्थिर है।

एक दिन आनन्द-लेन (दरियागंज) में राह पर जैनेन्द्र जी को देखा, नमस्कार की। वह रुक गये। बहुत धीरे और प्यार से बोले। ऐसा लगा जैसे मुझे खूब जानते हों, मैं भी कोई साहित्यकार हूँ; पर यह तो उनकी सहज वृत्ति, महानता, बड़प्पन था।

जैनेन्द्र जी की संस्था 'पूर्वोदय प्रकाशन' में आयोजित 'शनिवार-समाज' की अनेक गोष्ठियों में उनको समीप से देखने का मौका मिला। प्रायः विवाद के पश्चात् जैनेन्द्र के सन्तुलित व्यक्त विचार हर बार हृदय को स्पर्श करते रहे।

१९५७ में जैनेन्द्र के घर पर जाने का मौका मिला। कुछ अजीब-सी प्रतीतियां मन में उभरीं। इकहरा-मझला कद, तन पर बनियान और जांघिया—इतनी सादगी और महान् जैनेन्द्र! ऐसा निवास स्थान (!) छोटा-सा कमरा, जिसके आधे हिस्से में अँधेरा, जहाँ कुछ सादी-सी कुर्सियां। दीवार के आले में विख्यात विदेशी लेखकों की कृतियाँ। एक कोने में लिपटी हुई चटाई, एक छोटी-सी नंगी टेबल। उसी

पर चाय पी गई। लगा, इस सादगी भरी चाय में जैनेन्द्र का प्यार भरा महान् स्नेह छिपा है। उस छोटी-सी घरेलू दावत में कितना मजा आया—कभी कह न पाऊँगा। उस दिन बातचीत कुछ निजी विषयों पर चल पड़ी। पत्र-पारिश्रमिक पर बात ठहरी और जैनेन्द्र का साहित्यकार एकाधिपति मनचले पत्र स्वामियों के प्रति सुर्ख हो उठा। चेहरे पर तमक की झलक उभरी और उनका मन कहीं दूर चला गया।

जैनेन्द्रजी क्या हैं (?) यह प्रश्न हिन्दी के समीक्षको ने अनेक बार उठाया, पर समाधान सदा अधूरा ही रहा। ठीक भी है, वे सिद्धहस्त-विवेकमय विचारक-चिन्तक हैं, अनन्त का विचार कभी दर्शन की सीमा में बंध कर सिद्धान्त नहीं बन सकता। उनकी विचारधारा असीम है, संभवतः इसीलिये उनके अन्तःबोध को पकड़ना असंभव है और आत्मलाभ का साधन मात्र होने के कारण वहाँ ग्राह्य-अग्राह्य कुछ वर्जित नहीं है। "**घटना-घटना होती है। अपने आप में न वह अश्लील होती है, न शिष्ट। हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है—अश्लीलता इस पर निर्भर है।**" जैनेन्द्र :"साहित्य और नीति"

उनकी दृष्टि में सुख और तृप्ति कोई साहित्य का ध्येय नहीं है।

जैनेन्द्र को आलोचकों ने जितना दुरूह बताया (किंवा बना दिया) है, क्या वे सचमुच ऐसे ही हैं? मेरी समझ से वे एकदम अनावृत हैं। उन्होंने अपने विषय में जितना कुछ कहा है, लिखा है—संभवतः साहित्य-समालोचकों ने उस पर उतना 'सीरियस' कभी न सोचा है, न समझा है; और न लिखा है।

जैनेन्द्र को समझने के लिये उनकी वार्ताओं, प्रश्नोत्तरों, निबन्धों और कतिपय रेखाचित्रों का अध्ययन अनिवार्य है; और इसी संदर्भ में 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' विचारोत्तेजक कृति है। स्वकथन है :

कला की सार्थकता यही है कि वह बंधनों से उत्तीर्ण करने वाली हो, स्वय निरंकुश हो, अपने ऊपर बंधन लेकर नहीं चले।

जैनेन्द्र : 'साहित्य और कला'

स्वनामधन्य एक आलोचक वर्ग का दृष्टिकोण है,

जैनेन्द्र की दृष्टि अध्यात्म और मनोविज्ञान की दो विरोधी और भिन्न स्तरों की मान्यताओं के संगम में गहरे पैठ गई (वा ओझल हो गई) है!

यह कथन भी दृष्टव्य है :

"**आज की सदी के कलाकार को अन्ततः दार्शनिक होना ही पड़ेगा।**"

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

जैनेन्द्र दर्शन के प्रति आस्थावान हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कला

को गौण मानते हैं। उनके दर्शन की व्याख्या, उनकी लेखनी से स्वयं समय-समय पर व्यक्त हुई है। उनका दर्शन प्रश्नोत्तर में वा निबंध में जितना बौद्धिक आकार लेकर अवतरित हुआ है, वह उनके गल्प (कथा) साहित्य में स्पष्ट नहीं (अस्पष्ट) रहता है। इस अस्पष्टता के प्रति कुछ आलोचकों का ख्याल है, जिससे जैनेन्द्र को अनायास टेक मिल जाती है—कि यह उसकी भावुकता है, यह उसके दिल और दिमाग का द्वन्द्व है, जिसका 'ऐनेलेशेस' उसने कभी नहीं किया। इसी संदर्भ में जैनेन्द्र के प्रति प्रेमचंद का कहना है।

"अन्तः प्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है।"

(हंस वर्ष ३ संख्या ४)

जैनेन्द्र वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों के चित्रकार हैं। संभवतः इसी प्रवाह में बह जाने के कारण वे सामाजिक जीवन से तटस्थ रहकर (वा बनकर) चले हैं। उनका विश्वास समष्टि में नहीं, अपितु व्यष्टि में रहा है। 'त्याग-पत्र' (१६३७) जैनेन्द्र को हिन्दी जगत में पहला (प्रारंभिक) उपन्यास था—जिसका आकार 'लघु' था; और वह भूतपूर्व चीफजज स्वर्गीय सर एम० दयाल की निजी स्मृतियों के संकलन का संक्षिप्त सार था। 'परख', 'तपोभूमि' (ऋषभचरण के साथ संयुक्त लेखन), 'सुनीता' उपन्यास पहले प्रकाश में आ चुके थे। 'त्याग-पत्र' के बाद 'कल्याणी', 'सुखदा,' 'विवर्त', 'व्यतीत' आदि उपन्यास एवं अनेक कहानियाँ प्रकाश में आईं। १९५६ में जैनेन्द्र का चिन्तनीय कथित उपन्यास 'जयवर्द्धन' प्रकाशित हुआ।

'त्याग-पत्र' निःसंदेह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण कृति रही। उर्दू, पंजाबी, आंग्ल और जर्मन आदि भाषाओं में भी जिसका प्रकाशन हुआ। यही वह जैनेन्द्र की कृति हैं जिसकी छाप मन पर अंकित हुई और मन-ही-मन में वे मेरे प्यारे लेखक बन गये।

'त्याग-पत्र' से 'जयवर्द्धन' तक आते-आते उपन्यासकार में विचार और मनोविश्लेषण की ऊर्जा-शक्ति का जो भीषण विस्फोट हुआ—उससे 'कला' कुम्हलाई, अर्थात् उपन्यास की रस—(मानवीय भाव-संवेदन) धारा निर्मल न रहकर, निर्बल, उन्मन, शिथिल, अशक्त-सी बन गई।

जयवर्द्धन के आरंभ में लेखक की 'फ़ोटोस्टेट' प्रतिलिपि में आशंका प्रकट की गई है।

'जयवर्द्धन'—कह नहीं सकता कितना······ उपन्यास सिद्ध होगा।

आलोचक 'जयवर्द्धन' को उपन्यास कोटि (श्रेणी) में मानें-न-मानें, इससे कृति के मूल में कोई अन्तर नहीं आता। 'त्याग-पत्र' की तरह 'जयवर्द्धन' भी अमरीकी पत्रकार हूस्टन (विलबर शेल्डन हूस्टन) की निजी स्मृति-संचिका (दैनन्दिनी)। (२१ फरवरी से १० अप्रैल तक) के पृष्ठों का विस्तार ही उपन्यास के रूप में परिकल्पित है। आलेख तथ्यगत हैं, और कथित सत्य को उभारने के लिये यत्र-तत्र कल्पना का आश्रय मुक्त रूप से उपन्यासकार ने ग्रहण किया है। दैनन्दिनी का आलेख पुष्ट है और औपन्यासिक रस-अपरिपक्व-सा है। कथा की सरसता और कला की रंगीनी से मुक्त है । कृति विवरणात्मक है, वह भी अन्तरंगी, यानी मन का—जो लेखक के दार्शनिक-पन की ओर संकेत करती है। पात्र असंवेदनीय से हैं ।

इन्द्रजाली वैचारिकता चिन्तनीय है। हूस्टन पत्रकार के साथ दार्शनिक भी हैं, साथ ही भारत के आदर्शों के प्रति जिसका दृष्टिकोण कुछ सहानुभूतिमय है।

दैनन्दिनी शिल्प के माध्यम से हूस्टन (तत्वचिन्तक जैनेन्द्र) इतनी ही बात हमें बता सके हैं, जितनी भारत के बारे में राजनीतिक बातें वह जान पाए वा पाठक को कला के माध्यम से बताना चाहते हैं। हूस्टन की दृष्टि पैनी है, तर्कमय है—पर कल्पना से एकदम वह विमुक्त भी नहीं है।

'जयवर्द्धन' भारतीय लोकतंत्र के अधिपति हैं। व्यक्तित्व असाधारण है। सत्ता और वैभव के बीच रहते हुए मानों उसके स्पर्श से अछूते हैं। अपने स्थान पर हैं तो कर्त्तव्य-भावना से और अन्तःकरण की पुकार का ही उनके निकट सबसे अधिक महत्त्व है। ऐसा कहाँ लोक में प्रचलित है कि सत्ता पर जो आसीन है—उसका विरोध न हो। जयवर्द्धन का भी उग्र विरोध होता है, किन्तु विरोध के प्रति वह अत्यधिक सहिष्णु हैं। विरोध को विवेक से जीतने का प्रयास करते हैं। लोकतंत्र में सत्ता उस दल के हाथ में रहती है, जिसका बहुमत होता है, किन्तु जयवर्द्धन दलगत संघर्ष को समाप्त करने की सोचते हैं, ताकि आपस में टकराने वाली शक्तियाँ भी टकराना छोड़कर समाज के निर्माण और विकास में सहायक बनें। उनका व्यक्तित्व दलों के सहयोग में बाधक होता दिखाई देता है, तो वह अपने को राज्य-सत्ता से अलग करने के लिए प्रस्तुत कर लेते है। वह अनुभव करते हैं कि उनका स्थान राज्य के केन्द्र में नहीं, बल्कि उसके बाहर है। "आदर्श समाज वह होगा, जिसमें राज्यसत्ता का सम्पूर्ण लोप हो जायेगा।" इस आदर्श की प्राप्ति के लिये जयवर्द्धन निश्चय करते हैं कि उन्हें सत्ता से हटकर प्रयत्न करना होगा।

जयवर्द्धन किसी दल से आबद्ध न होने के कारण, हर वादी के लिए संकट का केन्द्र बन गया। उसके विरोध में पक्ष-विपक्ष स्थापित हो गये। राजनीति के

कूटचक्र में वह 'त्याग' (बलिदान) के लिये विवश है। 'त्याग' और 'बलिदान' का यह घोष—क्या यह त्याग 'बलिदान' था (?) बात मन को स्वीकार नहीं। क्या यह उसके मन का क्लैव्य नमित समझौता नहीं था (?) 'जयवर्द्धन' का यह समष्टिगत रूप है।

जयवर्द्धन का व्यक्तिगत रूप है : इला के प्रेम-व्यापार की वैध-अवैधता। इला, जो आचार्य की कन्या है, मातृत्व के अभाव में जिसका लालन-पालन स्वामी चिदानन्द के आश्रम में हुआ, उसका जयवर्द्धन से परिचय तब होता है, जबकि वह एक सामान्य कार्यकर्त्ता था, और आचार्य से परामर्श करने के लिये आश्रम में आया करता था। जयवर्द्धन के राज्याधिपति पद पर आसीन होने के बाद इला अविवाहित रूप में उसके साथ रहने लगती है—दोनों साथ रहते हुए एक-दूसरे के प्रति अत्यधिक आकर्षित होते हैं। लोकापवाद उठता है। आचार्य की आदर्शनिष्ठा राज्य के लिये भारी पड़ती है, तो उन्हें नज़रबंद भी रखा जाता है। अन्त में पितृस्नेह इन दोनों के सामाजिक-मिलन (विवाह) के प्रति उदार हो जाता है। (इस प्रकार विवाह पर आशीर्वाद का सम्पुट आचार्य लगाते हैं) यह मिलन तब संभव बनता है, जब जयवर्द्धन राज्यसत्ता से पृथक् हो जाने का निर्णय कर चुकते हैं। स्मरण रहे कि जयवर्द्धन इला से ही नहीं भागता, अपितु वह अपने से भी भागता है! लिज़ा देश-सेविका के रूप में उपस्थित हुई है। उसमें राज्यसत्ता के प्रति आकर्षण है। मंत्री जय तक वह पहुँचती है। उसके मन में (जयवर्द्धन के) अपने प्रति मन में संघर्ष उमड़ उठता है। इला की बंधन-सीमा में वह आबद्ध जो है, पर लिजा का आकर्षण उस (मंत्री)को झकझोर जाता है। इला का रूप तो जैसे उसके मातृत्वपन ने हर लिया था। इला को लिज़ा से द्वेष कतई नहीं है। इला का लक्ष्य जयवर्द्धन है (उसका मंत्रीत्व नहीं) और अन्ततोगत्वा जयवर्द्धन इला से भी किनारा कटा लेता है।

इला के प्रति इन्द्रमोहन भी आकर्षित है—पर उसका चित्र धुंधला है।

इला की अतीत-स्मृतियाँ, लिज़ा के जीवन में हूस्टन के अविस्मरणीय प्रसंगों में सरसता की तरल सनसनाहट है—पर तर्क का तूफान, कमनीय भावुकता की बयार के पाँव कहीं ठीक से टिकने नहीं देता।

जयवर्द्धन के विरोधी दल के कर्णधार हैं : आचार्य (गांधीवादी), स्वामी चिदानन्द (प्रतिक्रियावादी), नाथ, लिज़ा (अग्रगामी) और इन्द्रमोहन (आतंकवादी)। स्वामी चिदानन्द (जो सनातन भारतीय-संस्कृति के उपासक हैं) की दृष्टि में जयवर्द्धन का व्यवहार अभारतीय और असांस्कृतिक है। नाथ (जिनकी पत्नी एलिजाबेथ यूरोपीय है) अपनी सशक्त पत्नी के वशीभूत है। एलिजाबेथ को सत्ता और वैभव

चाहिये। वह जयवर्द्धन के प्रति आकर्षित है; और संघर्ष का एक त्रिकोण उठ खड़ा होता है। इन्द्रमोहन का चित्रण रहस्यमय चित्रित हुआ है। पात्रों की परिधि मनोविश्लेषण-शास्त्र की नवीन स्वीकारोक्तियों को स्पर्श करती है, रस-भाव बहुत कुछ तिरोहित हुआ है (निबन्ध आकार अत्यधिक उभार पर है)। प्रशंसनीय है, जैनेन्द्र का 'युटोपिया'; अर्थात् लेखक पर वैचारिकपन का भूत हावी हो गया है, कथाकार जैनेन्द्र को जिसने दबोच-सा लिया है।

जयवर्द्धन में सूक्ष्म विचारक वर्तमान के मूलभूत प्रश्नों की गहराई में पैठता दृष्टिगोचर होता है। अल्प मनोरंजक 'जयवर्द्धन' नितान्त शुष्क (और तरल भी) नहीं है; अपितु उसमें प्रस्तुत है विचार और चिन्तन (दृष्टिकोण) की पर्याप्त सामग्री, कि भविष्य में लोकतन्त्री राजव्यवस्था क्या असफल सिद्ध न होगी (?), राज्य विकेन्द्रित तथा लोकधर्मी बनकर बिखर न जायेगा (?)

'त्याग-पत्र' का प्रमुख पात्र उपन्यास के अन्त में अपना 'त्याग-पत्र' पेश करता है। जयवर्द्धन में राष्ट्रीय राजनीति की भूमि पर अनेक वादों किंवा स्वार्थों (दलों) के मध्य जयवर्द्धन की स्थिति उलझती है, और अंत में राज का त्याग (दूसरे शब्दों में पलायन) उसके लिए सम्भवतः कर्त्तव्य बन जाता है—इस प्रकार वह अहिंसा के (दैन्य विमुख) मार्ग को स्वीकार कर 'श्रान्त' स्थिति का अनुभव करता है।

व्यक्ति के प्रति झुकाव होने के कारण जैनेन्द्र समकालीन राष्ट्रीय, जातीय या जन-सम्मत आन्दोलन के अच्छे-बुरे प्रभाव पर टीका-टिप्पणी करने से विमुख हैं। हां, वह प्राणी के हृदय में, सजीव धड़कता हुआ जो 'चिन्मय सत्य' है, उसकी संधानवृत्ति को साहित्यकार का कर्त्तव्य मानते हैं।

बाह्य दृष्टि से अप्रभावशाली व्यक्तित्व के महान् विचारक (दार्शनिक) जैनेन्द्र की मेरी दृष्टि में सबसे बड़ी खूबी है—प्रश्नान्त, सुखान्त, दुखान्त से विमुक्त उनकी कला-कृतियाँ—जिनके अन्त में एक विराट प्रश्न मस्तिष्क में स्फुटित होता है। किंकर्त्तव्य, चकित, मतिभ्रम वा 'इति' पर हम क्या अवाक् नहीं हैं ?

पुनश्च—

उपसंहार—आधुनिक भारतीय (हिन्दी) गल्प-कादम्बरी के प्रख्यात प्रतिनिधि शिल्पी श्रद्धेय श्री जैनेन्द्र की सूक्ष्म-कला को नापा नहीं जा सकता, पहिचाना नहीं जा सकता, प्रतीत किया जा सकता है, जाना जा सकता है और केवल आंका जा सकता है।

श्री रामनिरंजन 'परिमलेन्दु'

जैनेन्द्र के जयवर्द्धन-पूर्व उपन्यास : एक पर्यवेक्षण

जैनेन्द्र एक व्यक्तिबोधी कथाकार हैं। उनमें व्यक्तिवाद नहीं, अन्तर्व्यक्तिमुखता है; व्यक्तिबोधात्मकता है। उन्हें हिन्दी कथा-साहित्य में व्यक्तिबोधवाद का प्रवर्त्तक स्वीकार किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने व्यक्तिबोधवाद से पृथकत्व स्थापित किया। प्रेमचन्द का समाज-सापेक्षवाद व्यक्ति-वास्तव और व्यक्ति-सत्यों को समाज-वास्तव का निरीह बंदी बना देता है। उनका सामाजिक वर्गवाद प्रबुद्ध व्यक्तिबोध की अवहेलना करता है। जैनेन्द्र ने व्यक्तिबोधात्मक सामाजिकता को प्रश्रय दिया है, समाज-वास्तव की सामाजिकता को नहीं। गोदानवाद जैनेन्द्र का विषय नहीं रहा। गोदान का वातावरण और गोदान की चारित्रिकता से जैनेन्द्रवाद परिचित नहीं है। जैनेन्द्र में गोदानवाद की पीड़ा नहीं, गोदान के भारत की मार्मिकता नहीं; गोदान की करुणा नहीं, उनमें होरी-वास्तव नहीं है।

जैनेन्द्र की सामाजिकता व्यक्ति-सत्यों की सामाजिकता है, प्रेमचन्द की सामाजिकता नहीं। जैनेन्द्र व्यक्ति-सत्यों के सापेक्षवादी मनोविश्लेषण में अपने उपन्यासों को रखने के आदी हैं। जैनेन्द्र व्यक्ति-सापेक्ष जीवन और व्यक्ति-सापेक्ष सत्यों को अभिव्यंजना-गौरव प्रदान करने में कुशल हैं। जैनेन्द्र का व्यक्ति-सापेक्षवाद मूलतः अन्तश्चेतनावाद, मनोविश्लेषणवाद अथवा प्रभाववाद नहीं; वह जैनेन्द्रवाद है, व्यक्ति का जैनेन्द्र-सापेक्ष सत्य ! जैनेन्द्र का व्यक्ति सापेक्ष तत्त्वों में जैनेन्द्र का चिन्तन अभिव्यक्त है, वहां जैनेन्द्र का जागरूक निजत्व बोलता है। जैनेन्द्र व्यक्तिपरक सीमावादी से अधिक व्यक्ति-सापेक्ष हैं, व्यक्ति-सापेक्ष जीवन के चिन्तनपरक कथाकार। जैनेन्द्र के उपन्यासों की अन्तर्मुखता में व्यक्ति की अन्तर्मुखता व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता, व्यक्ति-सापेक्ष अन्तर्मुखता से ज्यादा अधिक जीवन की अन्तर्मुखता है।

जैनेन्द्र और जैनेन्द्रबोध का व्यक्तिसापेक्षवाद नारी संश्लिष्टता का मानसरोवर है। व्यक्ति-सापेक्षात्मक नारी-अन्विति को प्रभावकारी, संकेतात्मक आवेष्टन प्रदान कर जैनेन्द्र ने जीवन, सृष्टि और देश की विभिन्न समस्याओं को आन्दोलित करने का सुप्रयास किया है। व्यक्तिबोधात्मक नारी-संश्लिष्टता को जैनेन्द्र ने समष्टिबोधी उप-

करण प्रदान किए हैं। जैनेन्द्र की व्यक्ति-सापेक्षी अन्तर्मुखता समष्टि का अपमान नहीं करती।

खेद है कि सामाजिकता का वर्गीय वैशिष्ट्य व्यष्टि का सम्यक् उद्घाटन नहीं करता, आधारभूत व्यष्टि का मूल्य-निर्धारण और मूल्य-आकलन नहीं करता, किन्तु अस्तित्त्व के आधारभूत व्यक्ति के अन्तर्बोधात्मक नारी-संदर्भ में पौरुषपूर्ण व्यक्ति-सापेक्षवाद और अवदमित रति की व्यक्ति-सापेक्षता का स्वरूप आकलन साहित्य के विकास-आलोक में आवश्यक अवश्य है।

जब व्यक्तिबोधी चारित्रिकता सामाजिकता के वर्गवाद से पीड़ित थी, जब वह व्यक्ति-बोधात्मक सामाजिक सामाजिकता में अपना व्यक्तित्व खोकर समाजत्व का अन्ध प्रतिपादन कर रही थी—तब साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम में व्यक्ति के प्रश्न लेकर जैनेन्द्र समाज और साहित्य-समाज के समक्ष उपस्थित हुये। साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम में जैनेन्द्र प्रेमचन्द की प्रतिक्रिया है या प्रेमचन्द के पूरक अथवा प्रेमचन्द के बाद का नया अध्याय—इस प्रश्न का निराकरण विस्तृत शोध का विषय है। परन्तु, इतना सुनिश्चित है कि जैनेन्द्र ने व्यक्ति समाज को अभिव्यजित किया है, व्यक्ति-समाज में समाज-व्यक्ति को समाहित करने का प्रयत्न किया है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति-सापेक्षवाद को समष्टि-चेतना से प्राणप्रतिष्ठित किया। समष्टि-अनुरूपता के वातावरण में जैनेन्द्र की व्यक्ति-चेतना आलोकित है। 'व्यतीत' उपन्यास के व्यक्ति-सापेक्षवाद की समष्टि-निरपेक्षता अपवाद अवश्य है। हिन्दी में जैनेन्द्र का आगमन समष्टिजन्य व्यक्ति-सापेक्षवाद के प्रवर्त्तक के रूप में हुआ।

जैनेन्द्र का समष्टिवाद, प्रेमचन्द के प्रतिकूल, जैनेन्द्र के व्यक्ति-सापेक्षवाद की देन है। जैनेन्द्र के प्रतिकूल प्रेमचंद के समष्टिवाद ने समष्टि के आलोक में कथाकार प्रेमचंद को व्यक्ति-निर्माण के उपकरण प्रदान किये। समष्टि-यज्ञ में प्रेमचंद ने व्यष्टि की आहुति दे दी। जैनेन्द्र ने ऐसा नहीं किया।

प्रेमचंद में व्यक्तिबोधात्मक अनुत्तरदायित्व है, व्यक्तिबोधात्मक उत्तरदायित्व का उज्ज्वल सौंदर्य जैनेन्द्र में है। जैनेन्द्र का समाजबोधक जैनेन्द्र के व्यक्तिबोध की देन है। जैनेन्द्र व्यक्तिबोधात्मक समाजबोध के प्रतिपादक हैं। प्रेमचंद ने समाज बोधात्मक व्यक्तिबोध को ही प्रश्रय दिया।

जैनेन्द्रप्रतिपादित नारी-सत्यों की व्यक्तिबोधात्मकता जीवन-संगति, भाव-संगति और प्रभाव-संगति में है। व्यक्तिबोधात्मक नारी-सत्य जैनेन्द्र का विषय है—या, यह कहिये कि जैनेन्द्रवादी विषय है। जैनेन्द्रवादी नारी अन्तश्चेतना की यथार्थता से अनुप्राणित है। जैनेन्द्र में नारी-सत्यों की व्यक्तिबोधात्मकता है। जैनेन्द्र ने नारी के सम्पूर्णत्व को व्यक्ति-सत्यों की जीवन-संगति में ग्रहण किया है। जैनेन्द्र ने नारी के

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का सूक्ष्म अध्ययन किया है। नारी-चरित्र का बड़ी निकटता और मार्मिकता से अध्ययन जैनेन्द्र ने किया है।

जैनेन्द्र की नारी सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार डैनियल डिफो (Daniel Defoe) की मौल फ्लैंडर्स (Moll Flanders) जैसी कामुक नहीं, किन्तु उसमें रति-दमन की भाव-ग्रंथियाँ हैं। वह अतृप्ति का कल्याणीवाद है, अतृप्ति का सुनीता-वाद। जैनेन्द्रवादी नारी की काम-पिपासा अन्तर्द्वन्द्व के मेघों में प्रच्छन्न है। जैनेन्द्र ने कथा-साहित्य की नारी-भावना में एक नया अध्याय जोड़ा है, जिसे मैं "नारी का जैनेन्द्रवाद" कहूँगा। जैनेन्द्र का नारीवाद विशिष्ट अध्ययन का विषय है। साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान के विशिष्ट शोधकों और मर्मज्ञों का ध्यान मैं जैनेन्द्र की नारी—जैनेन्द्र का नारीवाद—की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा।

जैनेन्द्र परिधिवाद के पोषक नहीं। जैनेन्द्र में परिधि-संकल्प—जीवन और साहित्य का परिधि-संकल्प नहीं है।

जैनेन्द्र ने व्यक्ति-सत्ता को स्वीकृत किया है, व्यक्ति-सत्ता को दार्शनिक मान्यता दी है, सप्राण और जीवित मान्यता प्रदान की है। परन्तु उनके कृतित्व-दर्शन और कृतित्व-व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने साम्राज्यवाद का पोषण नहीं किया। जैनेन्द्र का व्यक्तितंत्र साम्राज्यवाद नहीं है। पिंड में ब्रह्मांड का दिग्दर्शन करने वाले जैनेन्द्र को जनशक्ति में पावन आस्था है। जनशक्ति तथ्य-सम्पूर्ण स्वराज्य का आत्मशक्तिपूर्ण माध्यम है।

प्रेमचंद के विपरीत, जैनेन्द्र का मानवतावाद विशेष संवेदनशील नहीं है। जैनेन्द्र का संवेदनावाद तात्त्विक है, तथ्यवादी नहीं; मनुष्यता के बाह्यावरण और इतिवृत्तात्मकता पर आधारित नहीं। प्रेमचंद का संवेदनावाद जिन्दगी के अंगारों को चिमटे से नहीं पकड़ता। जैनेन्द्र ने अपना ध्यान जिन्दगी के अंगारों के उत्ताप की अपेक्षा ज़िन्दगी के अंगारों की लाली पर ज्यादा रखा है, किन्तु स्वानुभूत जीवन को, स्वानुभूत जीवन की अनुभूतियों को जैनेन्द्र ने विचार-संदर्भ में अभिव्यंजित किया है। जैनेन्द्र की कथा-तात्त्विकता में सूत्र-शैलिता है। उनकी कथा-तात्त्विकता का दिव्य-गौरव जैनेन्द्र-चिन्तन में है। विचार-साक्षात्कार की मार्मिक सन्निकटता जैनेन्द्र के कथा-संदर्भ में अनुप्राणित हैं।

प्रेमचंद एक होरीवादी लेखक थे। भारत का होरीवाद प्रेमचंद में अभिव्यंजित हुआ। होरी प्रेमचंद का भारत है। जैनेन्द्र में भारत का होरीवाद नहीं है। जैनेन्द्र का पुरुष पात्र होरी नहीं है, जैनेन्द्र की नारी गोदान की धनिया नहीं, वह सुनीता, सुखदा, मृणाल और कल्याणी है। होरी का गोदानवाद भारत का एक पहलू है, इस ओर जैनेन्द्र का ध्यान नहीं गया। इसलिये, हम जैनेन्द्र में होरी-अन्विति अथवा होरी संगति नहीं पाते। होरी-संदर्भ में भारत और भारतवाद को जैनेन्द्र ने नहीं देखा।

जैनेन्द्र में भारत के गाँव नहीं हैं। जैनेन्द्र के विरुद्ध भारत के गाँव वाले यह शिकायत कर सकते हैं कि जैनेन्द्र ने उनकी अवहेलना की है। ग्रामवादी भारत के प्रेमचन्दत्व के प्रति जैनेन्द्र तटस्थ रहे हैं। जैनेन्द्र के पात्र गाँव के किसान नहीं हैं। मगर जैनेन्द्र बुर्जुआवादी लेखक नहीं हैं। जैनेन्द्र ने बुर्जुआवाद और पूँजीवाद की लक्ष्मी-चालीसा का पारायण नहीं किया।

जीवन के प्रति जैनेन्द्र की नारी और स्वयं जैनेन्द्र का दृष्टिकोण स्थूल नहीं है। जीवन को जैनेन्द्र ने स्थूल रूप से ग्रहण नहीं किया।

उपन्यासकार जैनेन्द्र जीवन में सीधे नहीं प्रवेश करते, वे दर्शन की राह होकर जीवन में जाते हैं। जीवन-क्षेत्र में जैनेन्द्र चिन्तन के उपकरण लेकर ही जाते हैं। जैनेन्द्र चिन्तक पहले हैं, कथाकार बाद में। प्रेमचंद कथाकार पहले हैं, चिन्तक बाद में। जैनेन्द्र के लिए कथानक साधन है, साध्य नहीं। उनकी घटनाओं में मनोविश्लेषण, अन्तश्चेतना और दार्शनिक लाक्षणिकता है।

जैनेन्द्र एक भाववादी लेखक हैं। उन्होंने जीवन को विशेष रूप से भाव-पक्ष में ग्रहण किया है। पदार्थ को जैनेन्द्र ने तत्त्व में रखकर लिया है, तथ्य में नहीं।

जैनेन्द्र मूलतः तत्त्ववादी हैं। घटना-सूत्र उनके तत्त्व मार्ग का पाथेय है। उनकी वस्तु-चेतना अथवा पृथ्वीवाद उनके तत्त्ववाद पर ही आधारित है।

जैनेन्द्र के उपन्यास सोचने की प्रक्रिया पर आधारित हैं। वे अपने पूरे उपन्यास में किसी-न-किसी रूप में सोचते रहते हैं। सोचने की स्थिति जैनेन्द्र की स्थिति है, किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में चिन्तन-प्रक्रिया का क्रमिक-विकास नहीं अभिव्यंजित किया गया है, यद्यपि जैनेन्द्र का कथा-तत्त्व चिन्तक जैनेन्द्र का बदी है। 'कल्याणी' में चिन्तन की असम्बद्धता है, नियमितता नहीं।

जैनेन्द्र युग-द्रष्टा नहीं, भाव-द्रष्टा हैं। इसीलिये उन्होने जीवन को घटना-संगति में नहीं, भाव-संगति में देखा है।

जैनेन्द्र बाह्यार्थवादी नहीं हैं। वे घटना-चित्रों और घटना-चक्रों को भाव-संगति और दर्शन-संदर्भ में परिवेशित कर देखते हैं।

प्रेमचन्द की सामाजिकता समाज-वास्तव की सामाजिकता है। जैनेन्द्र की सामाजिकता व्यक्ति-बोधात्मक सामाजिकता है, व्यक्ति-सत्य परक जीवन की सामाजिकता है। व्यक्ति-सापेक्ष सामाजिकता को जैनेन्द्र ने दर्शनमार्गी निर्देशन दिया है।

जैनेन्द्र अनैतिक नहीं, उनका कथाकार अनैतिक नहीं है, किन्तु नीतिमत्ता की रामनामी चादर ओढ़ कर अपने को नैतिकवादी प्रदर्शित करने का प्रयास, नैतिकवादी उपदेश, नीति-प्रवचन आदि देने का प्रयत्न भी उन्होंने नहीं किया। इसलिए भी

वे बुद्धिचेताओं का मार्मिक भाव-प्रेषणात्मक संवेदन विशेष रूप से प्राप्त कर सके हैं।

जैनेन्द्र में वस्तुमत्ता व्यक्तिमत्ता का माध्यम है। उन्होंने अपनी वस्तु-परिधि में जीवन परक सृष्टि-चिन्तन के उपकरण कलात्मकता के साथ सुसज्जित करने का सुप्रयास किया है। उनके उपन्यासों में वस्तु के प्रति परिधिवाद है । उनका वस्तु-संदर्भ संक्षिप्त है । वस्तु-परिवेश-संक्षेपण में जैनेन्द्र की आस्था है। यह 'जैनेन्द्र-मार्ग' है।

जैनेन्द्र के उपन्यास सहायक कथानकों के उपन्यास नहीं हैं। अंतःकथाओं का रचना-शिल्प जैनेन्द्र में नहीं है। उपन्यासकार जैनेन्द्र में अवान्तर प्रसंग नहीं हैं।

जैनेन्द्र के पात्र पारदर्शी नहीं होते। जैनेन्द्र की नारी पारदर्शी नहीं होतीं । व्यष्टि की आन्तरिकता से परिपूर्ण जैनेन्द्र का पात्र-निरूपण है। जैनेन्द्र के पात्रों में कहानी से ज्यादा भाव ही है।

जैनेन्द्र ने कारखाने के मजदूरों और कृषकों को अपने उपन्यासों की पात्रता नहीं प्रदान की। उन्होंने अपने उपन्यासों में क्रान्ति रखी है, क्रान्ति की है और क्रान्ति-चिन्तन किया है। फिर भी उन्होंने मार्क्सवाद अथवा लेनिन-प्रतिपादित सिद्धान्तों का वमन नहीं किया। जैनेन्द्र ने अपनी बाहों पर काली पट्टी बांधकर ज़िन्दगी के खिलाफ़ मुर्दाबाद के नारे नहीं बुलन्द किये। उन्होंने सामाजिकता के क्षेत्र में प्रेमचन्द का शिष्यत्व नहीं स्वीकार किया। जैनेन्द्र का साहित्य साहित्य और साहित्य के इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ता है, साहित्य के जैनेन्द्र-अध्याय का स्वस्थ मूल्यांकन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वे चिन्तन के जीवन-चित्रकार हैं।

अब मैं जैनेन्द्र के जयवर्द्धन-पूर्व उपन्यासों पर विचार करूँगा। प्रस्तुत निबन्ध में जयवर्द्धन-पृथकत्त्व जयवर्द्धन की अवहेलना नहीं, केवल स्थानाभाव के ही कारण है। 'जयवर्द्धन' उपन्यास-साहित्य का गौरव है।

'परख' जैनेन्द्र का प्रथम उपन्यास है। 'परख' की महत्ता इसलिए है कि यह जैनेन्द्र का प्रथम उपन्यास है। 'परख' वस्तुतः एक असफल उपन्यास है। 'परख' के द्वारा जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासवाद का श्रीगणेश किया, किंतु 'परख' में कोई ऐसा तत्त्व अवश्य है, जो जैनेन्द्र के प्रत्येक उपन्यास में रेंगता रहा है। उक्त तत्त्व को मैं जैनेन्द्र का परख-तत्त्व कहूँगा। 'परख' में कुछ ऐसे तत्त्व बिना किसी पूर्व योजना के उभर आए थे, जिनका निर्वाह जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में हमेशा किया। 'परख' के आधारवाद के प्रति जैनेन्द्र ने अपनी उपन्यास-शृंखला में जागरूकता का परिचय दिया। जैनेन्द्र ने 'परख' के बाद से 'कल्याणी' और 'जयवर्द्धन' तक अपना यथेष्ट विकास किया है। 'सुनीता,' 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', आदि में जैनेन्द्र ने हमें सोचने की

जीवन-सामग्री यथेष्ट मात्रा में दी है। 'परख' को जैनेन्द्र की विकास-रेखाओं के आलोक में परखना विशेष श्रेयस्कर होगा। इन विकास-रेखाओं से पृथक् 'परख' का मूल्य विशेष नहीं।

सत्यधन 'परख' का प्रमुख व्यक्ति है। बिहारी सत्यधन के बाद दूसरा प्रमुख व्यक्ति है। नायकत्व का पद इन्हीं दो व्यक्तियों में विभाजित कर दिया गया है। सत्यधन आदर्शवाद की मूर्ति-परकता को अपने में उतार लेने का प्रयास करता है। आदर्श-आराधन सत्यधन का जीवन-कर्त्तव्य है। सत्यधन में विचार-सम्पुष्टि की गरिमा है, उन्नति नहीं। जीवन में सत्यधन उत्सर्ग का आराधना-स्वरूप निरूपित करता है। उत्सर्ग उन्नति का उन्नयन हो जाना है। वह अपने जीवन की रामनामी चादर पर उत्सर्ग अंकित करता है। उत्सर्ग सत्यधन के जीवन का सम्प्रदाय है। सत्यधन का उत्सर्गवाद किसी-न-किसी रूप में जैनेन्द्र के प्रत्येक उपन्यास में अवश्य उपस्थित रहा है।

जैनेन्द्र ने 'परख' में सत्यधन की ओर से वकालत की—"जो हारता रहा है, हारेगा, जो जीतता रहा है, वह जीतेगा।" सत्यधन के वकील जैनेन्द्र से मैं यह पूछना चाहूँगा कि क्या इस प्रकार का कोई संविधान जीवन में कभी निर्मित हुआ है? सत्यधन के वकील महोदय क्या अपनी इस उक्ति का प्रमाण जीवन के इतिहास अथवा जीवन की घटनाओं के आधार पर दे सकते हैं? मनुष्य हमेशा केवल जीतता ही नहीं, हारता भी है। और भी, मनुष्य हमेशा केवल हारता ही नहीं, जीतता भी है। मेरे इस कथन के प्रमाण जीवन की घटनाओं में ढूँढ़ लिए जाएँ।

'परख' के अनुसार, "दुनिया मोम की चीज नहीं, और न किताब ही है जिसे पढ़कर ख़तम कर सकते हो। यहाँ जगह-जगह टक्कर खानी पड़ती है और समझौता करना पड़ता है। जीवन दायित्व का खेल है, पग-पग पर समझौता है।"

पुनः 'परख' के अनुसार, "प्रेम जो कब्जा चाहता है—वैसे प्रेम की छूट समाज के लिए अनिष्टकर है। प्रेम में यदि आधिपत्य की आकांक्षा है—यह आकांक्षा कि वह मेरी है, मेरी ही है, मेरी हो जाय—तो इस प्रेम में, विश्वास रखो, गँदलापन है। स्वच्छ और वास्तविक प्रेम इस प्रकार की आधिपत्य-आकांक्षा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है। वह 'उस' की प्रसन्नता, उसका सुख, उसके सन्तोष की ओर सचेष्ट रहता है,—उस पर कब्जा कर लेना नहीं चाहता।"

'परख' का उपसंहार यथार्थ के आदर्श-प्रतिपादन के रूप में हुआ है। व्यक्तिवादी लेखक के नाम से विख्यात जैनेन्द्र ने परख-परिणति में बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय का सुपरिचय दिया है, समष्टिहेतु आलोकवाद का दर्शन प्रतिपादित किया है। परख-परिणति में मुक्त-तंत्र का सूत्रवाद है। निराला के 'अलका' उपन्यास में प्रति-

पादित समष्टि-साधन के गरिमा-सूत्र परख-उपसंहार में आ गए हैं। जैनेन्द्र को लोक-विमुख व्यक्तिवाद के प्रतिपादक के रूप में स्वीकार करना साहित्यवाद, साहित्यालोक, साहित्यतत्त्ववाद, साहित्य-आधारवाद और साहित्य-व्यक्तित्ववाद के प्रति नास्तिकता का परिचय देना होगा, अन्याय होगा।

जैनेन्द्र के चिन्तन-विकास को भली-भाँति समझने-परखने के लिए 'परख' की बड़ी आवश्यकता है। उनके चिंतक और कथाकार के परख-निरूपित रूप की महत्ता जैनेन्द्र-विकास के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष है।

चरित्रात्मक उपन्यास 'सुनीता' जैनेन्द्र की बहुचर्चित उपलब्धि है। इसे उपन्यासवाद की उपलब्धि कहा जा सकता है। विराट् अर्थों में 'सुनीता' आन्दोलन की गाथा है। हरिप्रसन्न क्रांति का नायक है और श्रीकांत उसका मित्र। सुनीता गार्हस्थ्य धर्म की देवी है। सुनीता का उत्तरार्द्ध मूलप्रवृत्तियों को नारीत्व के धरातल पर उपस्थित करता है। 'सुनीता' उपन्यास की परिणति सुनीता का गार्हस्थ्य प्रत्यावर्तन है, जिसके आधार पर जैनेन्द्र ने नारी को परिवार से पृथक् नहीं किया। 'सुनीता' उपन्यास हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में आन्दोलन के रूप में स्वीकृत हुआ। 'सुनीता' का नायकत्व विवादास्पद है। श्रीकांत अथवा हरिप्रसन्न के नायकत्व के प्रश्न पर सम्भवतः हम सहसा एकमत नहीं हो सकते। जैनेन्द्र ने नायकत्व को दो चरित्रों में समान रूप से वितरित कर दिया है। जैनेन्द्र में यह आदत सदा ही रही है। घटनाओं की चारित्रिकता पर विशेष ध्यान जैनेन्द्र का रहा है। उन्होंने घटनाओं को इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखा, उन्हें चारित्रिक, मार्मिकता, मनोविज्ञान और दर्शन के आलोक में देखा है। जैनेन्द्र का चरित्रवाद घटनाओं के सिर पर बोलता है। जैनेन्द्र-साहित्य की इतिवृत्तात्मकता में प्रतीकत्व है। उनके इतिवृत्त भी चरित्रपूर्ण हैं। जैनेन्द्र-साहित्य की चारित्रिक इतिवृत्तात्मकता साहित्य की विशिष्ट देन है। 'सुनीता' उपन्यास जैनेन्द्र का चरित्रवाद उद्घोषित करता है। इतिवृत्तात्मक चारित्रिकता को चित्रित करते हुए लेखक ने 'श्रीमती सुनीता देवी' और 'सुनीता श्रीकांत' का नाम-विवेचन हरिप्रसन्न के पुरुष-मन द्वारा प्रस्तुत किया है। "बिना मिसेज पूर्वक उन्हीं 'श्रीमती सुनीता देवी' के अक्षरों वाले हाथों से निरा 'सुनीता श्रीकांत' लिखा देखकर हरिप्रसन्न का जी कुछ कुंठित होता है। जैसे वह एकदम वंचित रखा जा रहा हो। उसने फिर फाउण्टेन पेन निकालकर कुछ संशोधन करना चाहा, पर उसका हाथ रुक गया। मानों यह उसके लिए निषिद्ध होता है।" (सुनीता : पृष्ठ संख्या ४७) इस मौन इतिवृत्त के आधार पर विवाह, पत्नीत्व और पुरुष के नारी-सत्य की ओर लेखक संकेत करता है।

हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता का नारीत्व-समर्पण मनोविज्ञान के मर्मज्ञों का विषय है। श्रीकांत हरिप्रसन्न का मित्र है। मित्र से मेरा तात्पर्य यहाँ है हरिप्रसन्न

के प्रति श्रीकांत-व्यक्तित्व का आत्म-समर्पण । सुनीता श्रीकांत की पत्नी है । किंतु, सुनीता हरिप्रसन्न अन्त में, श्रीकांत के माध्यम से सुनीता के निकट नहीं जाता । वह हरिप्रसन्न और सुनीता के मध्य के श्रीकांत को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न करता है । अर्थात्, पुरुष और नारी की मध्यवर्ती सामाजिक मूर्तिमात्र पुरुष और नारी के मूलप्रवृत्तिवाद के समक्ष घुटने टेक देती है । हरिप्रसन्न कहता है—"सुनीता, मैं अब तुम्हें भाभी नहीं कहता । जिन्हें भाई कहता हूँ, उनकी ही मार्फत तुम तक पहुँचूँ, अब ऐसा नहीं है । मैं तुम्हें सुनीता कहूँगा । हम सीधे एक दूसरे के सामने हैं । किसी की मारफ़त हम दोनों के बीच में नहीं हैं । श्रीकांत तुम्हारा पति है, मेरा मित्र है । पति एक होता है, मित्र भी शायद एक ही होता है । मेरे लिए तो वह एक ही है......"

यहाँ पुरुष और नारी मूलप्रवृत्ति की दीपमालिका-ज्योति में प्रकाशान्वित हो रहे हैं ।

भाभीमार्गी हरिप्रसन्न सुनीता में अपने पुरुष का साध्य प्राप्त कर लेता है । सुनीता की भाभी-आवृत्ति के बाद जो नारी है, हरिप्रसन्न उसका स्पर्श-मद प्राप्त करता है । हरिप्रसन्न सामाजिक मूर्तिमत्ता को नारी के देह-सत्य के लिए पति और मित्र संबंध के एकीकरण के नाम पर मित्र देने का प्रयत्न करता है । किंतु नारी-यथार्थ का देह-सत्य हरिप्रसन्न के पुरुष को परास्त कर देता है । नारी-यथार्थ के देह-सत्य के समक्ष हरिप्रसन्न के पुरुषवाद का शस्त्र-समर्पण सृष्टि के पुरुषतंत्र के लिए एक बड़ा प्रश्न-चिह्न है । यद्यपि हरिप्रसन्न सुनीता से कहता है—"तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ, उसके बाद—"

और, सुनीता अपनी साड़ी बिल्कुल अलग कर कहती है—'मैं यह हूँ ।'

साड़ी निर्बंध सुनीता का त्रिगुणात्मक शब्दत्रयी—'मैं यह हूँ'—सृष्टि के मूर्तिवाद को शरीर-वास्तव की ओर निर्देशित करने में सक्षम अवश्य है। शरीर-वास्तव का नारी-सत्य जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न, पुरुष के हरिप्रसन्न अर्थात् पुरुष को परास्त कर देता है, पुरुष दोनों हाथों से अपनी आँखें ढ़ँक लेता है । जैनेन्द्र का हरिप्रसन्न नारी का शरीर-वास्तव नहीं, नारी के सम्पूर्णत्व की सम्यक् प्राप्ति का अभिलाषी है । साड़ी-मोक्ष की 'मैं यह हूँ' प्रतिक्रिया के प्रति हरिप्रसन्न जयन्तमार्गी बन जाता है । यह हरि-प्रसन्न जयन्तवाद का आरोप है ।

ग्रन्थि-मोह से परिपूर्ण वातावरण में सुनीता-वृत्त का विशेष महत्त्व है और 'सुनीता' के वृत्तवाद में जैनेन्द्र-दर्शन है, हरिप्रसन्न-दर्शन है । हरिप्रसन्न के शब्दों में जैनेन्द्र स्वयं बोलते हैं—"वह ज़िन्दगी नहीं है, जिसमें चारों तरफ दीवारें खड़ी करके हम विश्व के बीचों-बीच अपना पक्का घर वनाकर अपने को कैद कर लेते हैं । विश्व

के जीवित सम्पर्क में रहना होगा। आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुएँगे, सनातन और अनन्त को भी हम चखेंगे। तुमने जो बनी-बनाई राह सामने कर दी है, वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और यह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर संतुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है। मनुष्य पति और पिता बनकर अपने को बाँधता है। इस प्रकार उत्सर्ग की, मुक्त और स्वाधीन जीवन की महिमा से वह अपने को दूर बनाता है।" और भी, "घर-बार बसाकर तो आदमी अपने को ह्रस्व करता है, मुझे उस राह नहीं जाना —"

यहाँ हरिप्रसन्न-दर्शन उद्घाटित हुआ है। इन्हीं हरिप्रसन्न-सूत्रों का एकीकरण हरिप्रसन्नवाद है। हरिप्रसन्नवाद जीवन को व्यतीतवादी दृष्टिकोण नहीं देता। वह जीवन को अर्थ-संदर्भ और भाव-संदर्भ में परखता है। 'व्यतीत' का जयन्त जीवन का सम्यक् भाष्य नहीं उपस्थित करता। जयन्त में हरिप्रसन्न नहीं है। नारी की देह-वास्तव-परिधि के प्रति जयन्त ('व्यतीत') और हरिप्रसन्न ('सुनीता') की भाव-कुंठा अथवा कुंठावाद व्यक्ति-सत्यों के आलोक में परीक्षण का विषय है।

जिस व्यक्ति ने स्त्री को "हाँ, मैं तैयार हूँ" वेश-भूषा में ही देखा है, वह अवश्य किसी सुनीता से कहेगा कि "तुमको चाहता हूँ। समूची तुमको चाहता हूँ। उसके बाद——।" किन्तु नारी की स्वेच्छापूर्ण बाधारहित समर्पणवादी नग्नता के समक्ष वह दोनों हाथों से अपनी आँखें नहीं ढँक लेगा, कभी नहीं सोचेगा कि धरती फट क्यों न गई कि वह गड़ जाता।

हरिप्रसन्न सुनीता को अपने अन्दर केवल सुनीता के रूप में रखता है, 'सुनीता श्रीकान्त' के रूप में नहीं। सुनीता, ऐसा मालूम पड़ता है. हरिप्रसन्न अर्थात् पुरुष-मन की जीवन-ग्रन्थि है। इतिवृत्तवाद, चारित्रिकता आदि के क्षेत्रों में सुनीता-ग्रन्थि अर्थात् पुरुष-मन की जीवन-ग्रन्थि सुनीता के उपन्यासवाद में है। 'श्रीमती सुनीता देवी' और 'सुनीता श्रीकान्त' विवेचन में हरिप्रसन्न के पुरुषतंत्र के नारी-सत्य का थोड़ा विश्लेषण हो गया है।

हरिप्रसन्न उत्पादक श्रम चाहता है। उत्पादक श्रम का श्रीकान्त-विवेचन मनन करने योग्य है। हरिप्रसन्न शारीरिक-अस्तित्व के लिए शारीरिक श्रम पर रहना चाहता है, किन्तु उपन्यास में वह कहीं भी शारीरिक अस्तित्व के लिए शारीरिक श्रम करता हुआ नहीं पाया जाता। हरिप्रसन्न के अनुसार, "पढ़ाने के काम से जीविका पाना मैं ठीक नहीं समझता।" क्योंकि, उसके अनुसार 'जिस श्रम का बदला आजीविका के साधन के रूप में अर्थात् पैसे के रूप में मिले, वह श्रम शारीरिक होना चाहिए। अन्य श्रम निश्शुल्क होना चाहिए।" अतएव, वह सुनीता की बहन का

निःशुल्क अध्यापन करता है। उपन्यास में ऐसा कोई स्थल नहीं है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि सत्या के अध्यापन करने में हरिप्रसन्न ने पैसे लिए। हरिप्रसन्न का श्रमवाद सिद्धान्त हरिप्रसन्न का एक पहलू है, क्योंकि 'सुनीता' का हरिप्रसन्न अपने में एक 'वाद' है। हाँ, हरिप्रसन्न जैनेन्द्र-चिंतन का एक 'वाद' है, सम्प्रदाय नहीं। 'व्यतीत' उपन्यास के आधार पर जैनेन्द्र ने व्यतीत-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करने का श्रेय उठाया। हरिप्रसन्नवाद में व्यतीत-सम्प्रदाय नहीं है। यद्यपि कहा यह भी जा सकता है कि हरिप्रसन्नवाद के उत्तरार्द्ध पर व्यतीत-सम्प्रदाय का प्रतिक्रिया-वादी प्रभाव है। मैं यह मानता हूँ।

'सुनीता' में श्रम का द्विमार्गी विवेचन हरिप्रसन्न और श्रीकान्त के माध्यम से किया गया है—हरिप्रसन्न श्रम सिद्धान्त और श्रीकान्त श्रम सिद्धान्त।

जैनेन्द्र के अनेक उपन्यास अपने में एक 'वाद' है, अपने में एक विशेष मतवाद भी। प्रबुद्ध चिन्तन जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का आधार है। 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'व्यतीत' आदि उपन्यास जैनेन्द्र के प्रबुद्ध चिन्तन के प्रकाशस्तम्भ हैं। 'सुनीता' 'कल्याणी', 'सुखदा', 'त्यागपत्र' आदि विचार-'सम्पुष्टि' से परिपूर्ण कृतियाँ चिन्तन के अध्याय हैं, 'वाद' हैं, अपने में परिपूर्ण सत्य हैं। उपन्यासकार जैनेन्द्र का विचार-साक्षात्कारवाद उपन्यास-साहित्य की परम श्रेष्ठ देन है। साहित्य को जैनेन्द्र ने उन्नयनमार्गी बनाया है।

जैनेन्द्र-चिन्तन में कहानी के सत्य की अपेक्षा सत्य की कहानी को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है। जागरूक जैनेन्द्र ने कहानी के सत्य और सत्य की कहानी में प्रबुद्ध संतुलन का निर्माण करने का सुप्रयत्न कथाकार के रूप में अवश्य किया है।

जैनेन्द्र चिन्तन को पहले उठाते हैं, कहानी को बाद में। कथा के अंगारों को जैनेन्द्र ने चिमटे से ही पकड़ा है। कथा के अंगारों में उद्भासित विचार-साक्षात्कार की लाली की ओर ही जैनेन्द्र का ध्यान केन्द्रीभूत रहा है। जैनेन्द्र की कहानी के अंगारों में जैनेन्द्र-चिन्तन की ऊष्णता है। दर्शन की आशा ग्रहण करने के उपरान्त ही जैनेन्द्र अपने कथाकार के पास जाते हैं।

'सुनीता' में श्रीकान्त कहता है—'हरि, तुम अभी परमात्मा में विश्वास नहीं करते हो?'

"अभी नहीं," हरिप्रसन्न का उत्तर है।

'लेकिन मुझे कहने तो दोगे, भगवान तुम्हें सुखी रखें? भगवान सबको सुखी रखें'। श्रीकान्त इस पंक्ति में अपने को खोल देता है।

इस संक्षिप्त कथोपकथन के आधार पर श्रीकान्त और हरिप्रसन्न को हम निकट से देख लेते हैं।

जैनेन्द्र का साहित्यवादी साहित्यकार जीवन में सहज भाव से रहना चाहता है। जैनेन्द्र सहज भावापन्न जीवनयापन के पोषक हैं। जैनेन्द्र-दर्शन के छात्रों को जैनेन्द्र-घोषित, जैनेन्द्र-विप्ताप्ति सहज भावापन्न जीवनयापन सिद्धान्त विरोधाभास-मूलकता से परिपूर्ण मालूम पड़ सकता है, किन्तु जैनेन्द्र जीवन को प्रकृत रूप में रखना चाहते हैं। जैनेन्द्र ने जीवन को प्रकृत रूप में रखा है—उन्होने जीवनयापन के प्रति सहजमार्गी भावात्मकता निवेदित की है। अतएव, जैनेन्द्र-साहित्य में ऐसे भी स्थान अवश्य हैं–जैसे सुनीता का विवस्त्र होना, 'व्यतीत' उत्तरार्द्ध में अनिता का जयंत-समर्पण आदि, जिसके आधार पर भारतीय मर्यादावाद और नैतिकवाद के अपमानित किए जाने का आरोप लगाया जा सकता है। किन्तु सच तो यह है कि जैनेन्द्र ने मर्यादा-तथ्यों और नैतिक-मूल्यों को नए मूल्य प्रदान किए हैं. जिन्हें मैं नैतिक-सत्यों का जैनेन्द्र-मूल्य कहूँगा।

हरिप्रसन्न जैनेन्द्र का एक विशिष्ट पात्र है। हरिप्रसन्न का चरित्रवाद एक विशेष दिशा-दर्शन का परिचायक है।

जैनेन्द्र का चिन्तक जैनेन्द्र के उपन्यासकार का स्वामी है, विनीत सेवक नहीं। जैनेन्द्र के उपन्यास प्रतीकात्मकता से परिपूर्ण हैं। उनके मुख्य पात्रों में प्रतीकत्व का गौरव है। चिन्तन का जैनेन्द्रवाद जैनेन्द्र-साहित्य, जैनेन्द्र द्वारा निर्मित कृतियों में है। कर्त्तव्य की कठोरता के प्रति जागरूकता जैनेन्द्र में अवश्य है।

सुनीताकार का प्रवचन है—'चलते ही चलना है।' 'कल्याणी' में जैनेन्द्र के कल्याणवाद और कल्याणीवाद का सम्मिलित उद्घोष है—'चलना नाम ज़िन्दगी का है।' 'चलना' को जैनेन्द्र ने जीवन के विराट् अर्थों में उपलब्ध किया है।

सुनीता और सुनीता की नारी-सत्ता ने शंका प्रकट की कि हरिप्रसन्न को उनके यहाँ सुख की प्राप्ति नहीं हो रही है।

श्रीकान्त का उत्तर है—'सुख ? क्या कभी उसे सुख मिलेगा ? क्या कभी मिला है ? और सुख मिलता किसको है ?'

सचमुच, हरिप्रसन्न को कभी सम्यक् सुख प्राप्त नहीं हो सका। क्या श्रीकान्त के इस सुख-विवेचन के द्वारा लेखक ने यह सिद्ध करना चाहा है कि श्रेष्ठ सुख किसी को नहीं मिल पाता ? जैनेन्द्र सुखवादी अथवा दुखवादी नहीं। सुख और दुःख के प्रति जैनेन्द्र ने भारत का दार्शनिक दृष्टिकोण ग्रहण किया है। बड़े अर्थों में सुख किसी को नहीं मिल पाता, मैं स्वयं ऐसा मानता हूँ।

सुनीता, हरिप्रसन्न और श्रीकान्त में जैनेन्द्र ने अपने को खंड-खंड करके सजा देने का प्रयत्न किया है। हरिप्रसन्न जैनेन्द्र के भाग्यवाद के प्रवक्ता हैं। लगभग प्रत्येक उपन्यास में जैनेन्द्र ने अपने भाग्यवाद के प्रवक्ता को ढूंढ निकाला है। हाँ, हरिप्रसन्न

भाग्यवादी है। वह अभिव्यक्त होता है—"किस्मत बड़ी चीज़ है। उसके खिलाफ लड़ना व्यर्थ है।" पुनः, हरिप्रसन्न के ही शब्दों में, "भाग्य के हाथ में सब कुछ है। लेकिन रुकना कभी श्रेयस्कर हुआ है? साँस रुकती है, उसे मौत कहते हैं। गति रुकती है, तब भी मौत है। हवा रुकती है, वह भी मौत है। रुकना सदा मौत है। जीवन नाम चलने का है······।"

जैनेन्द्र भाग्य की सत्ता सर्वदा स्वीकार करते हैं। वह भाग्य को सर्वोपरि मानते हैं। भाग्य को उन्होंने चरम सत्ता माना है। उसके विरुद्ध, जैनेन्द्र के अनुसार युद्ध करना व्यर्थ है। मेरी सम्मति में, भाग्य को जीवन में इतना बड़ा महत्त्व देना जीवन-व्यक्तित्व का अपमान करना है। भाग्य जीवन की चरम सत्ता नहीं है। मानव तथाकथित भाग्य-सत्य पर विजय प्राप्त कर सकता है।

बुद्धिवाद के युग में भाग्यवाद की स्थिति शोचनीय हो गई है। भाग्यवाद हमें जीवनमयी कर्मठता का सुपरिचय नहीं देता। हमें वह अकर्मण्यता का दिशा-दर्शन प्रदान करता है। अकर्मण्यता से परिपूर्ण जीवन-शैथिल्य भाग्यवाद की देन है। क्राँति-वादी हरिप्रसन्न का भाग्यवादी होना जंचता नहीं, प्रभावोत्पादक नहीं। क्रान्ति का पुजारी भाग्य का पुजारी नहीं होता, वह भाग्य के समक्ष घुटने नहीं टेकता। वह भाग्य के विरुद्ध अस्त्र उठाता है। क्रान्ति का सच्चा पुजारी यह कभी नहीं कहेगा कि "किस्मत बड़ी चीज़ है। उसके खिलाफ लड़ना व्यर्थ है।" तब क्या हरिप्रसन्न क्रान्ति का सच्चा पुजारी या बहुत बड़ा पुजारी नहीं है? जीवन में भाग्यवाद को बड़ा-से-बड़ा स्थान प्रदान कर स्वस्थ जीवन-दर्शन नहीं दिया जा सकता। भाग्यवाद मनुष्य की जीवनमयी गति को कुंठित कर देता है, उन्नति और उत्सर्ग का मार्ग अवरुद्ध करता है।

जैनेन्द्र का भाग्यवाद बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं उपस्थित करता। जैनेन्द्र का भाग्यवाद मनुष्य के लिए आगे का हर रास्ता हमेशा के लिए बन्द कर देता है।

लेकिन रुकने को जैनेन्द्र जीवन में स्वीकार नहीं करते। जैनेन्द्र के शब्दों में, "रुकना सदा मौत है। जीवन नाम चलने का है।"

भाग्यवाद के अनन्य पुजारी जैनेन्द्र का यह जीवन-संदेश सचमुच कार्यान्वियन की अनुभूति की अतल गंभीरता में प्राप्त करने योग्य अवश्य है। किन्तु एक ओर यह कहकर कि "किस्मत बड़ी चीज़ है। उसके खिलाफ लड़ना व्यर्थ है", और दूसरी ओर यह कहकर कि "रुकना सदा मौत है। जीवन नाम चलने का है"—जैनेन्द्र विरोधाभास उपस्थित करने में विलक्षणता का परिचय देते हैं। भाग्यवाद ज़िन्दगी में रुकने का सिद्धान्त है, गदले ठहराव का सिद्धान्त है। जीवन चलने का नाम है। रुकना मौत है। चलना ज़िन्दगी है। जैनेन्द्र जी से मैं यह जानना चाहूँगा कि जीवन

में एक साथ दोनों की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है ? रुकना अर्थात् ठहराव और चलना को एक ही साथ कैसे ग्रहण किया जा सकता है, मैं नहीं जानता। शायद केवल जैनेन्द्र जी ही जानते होंगे। रुकना और चलना को हम यहाँ विराट् अर्थों में ले रहे हैं। क्या जैनेन्द्र ने रुकना और चलना को विराट् अर्थों में, जीवन के अर्थों में एक दूसरे को पूरक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ? तब जैनेन्द्र के भाग्यवाद के सम्बन्ध में पुनः उलझनें बढ़ेंगी। 'जीवन नाम चलने का है' सिद्धान्त 'कल्याणी' में भी प्रतिपादित किया गया है, किन्तु 'कल्याणी'—परिसमाप्ति का 'मुझे रहना है' सिद्धान्त जीवनवाद उपस्थित करता है, जीवन नहीं। जैनेन्द्र-साहित्य का ज्यादा समय जीवन की अपेक्षा जीवनवाद में उलझ गया है, जीवन के सिद्धान्त-खंडों में उलझ गया है।

सुनीता जैनेन्द्र का उपलब्धिवाद है। सुनीता उपन्यास 'सुनीता' की नायिका है। सुनीता का नारी-दर्शन मौलिक दृष्टिकोणों की बौद्धिकता और संवेदना प्रदान करता है। सुनीता का जीवन-दर्शन अर्थात् नारी का सुनीतावाद अर्थात् 'सुनीता' की नारी का जीवन-दर्शन पलायनवाद नहीं है, सुनीतावादी जीवन-दर्शन नारी की सत्ता जीवन के जीवन में स्वीकार करता है। भागना को सुनीता-दर्शन जिन्दगी के खिलाफ मानता है। हम अपने से नहीं भाग सकते। तब भागने का क्या अर्थ हुआ ? हम अपने को नहीं रोक सकते। हमारे आधारभूत निजत्व पर हमारा अधिकार नहीं। व्यक्ति आधारभूत निजत्व के जीवन-प्रवाह को स्थगित और स्तम्भित नहीं कर सकता। और भी, सुनीता-वाद जीवन में युद्ध-स्तर पर संघर्ष करता है। बड़े अर्थों में भागना जीवन में असंभव है। बाहर से भागना अपने से भागना नहीं है। अपने से भागना ही अन्दर से भागना है। हम बाहर से भाग सकते हैं, पर अपने से भागना जीवन में चल नहीं सकता। ज़िन्दगी भागना नहीं है। भागने की आन्तरिकता जीवन में नहीं आती। भागने की सम्पूर्णता को जैनेन्द्र ने जीवन-विरोध और चलने के सम्यक् सम्पूर्णत्व को जीवन-सामंजस्य के रूप में स्वीकार किया है।

जैनेन्द्र जीवन में चलना चाहते हैं। चलते भी हैं, जीवन में भागते नहीं। जीवन से भागना नहीं चाहते। चलना जिन्दगी में है, जिन्दगी है। रुकना मौत है। सच्चा भागना हो नहीं सकता। बाहर से भागकर हम अपने से तो नहीं भाग सकते। भागना जीवन का विरोध है। चलना, रुकना और भागना जैनेन्द्र के शब्दत्रयी हैं। सृष्टि का सत्य इन्हीं तीनों शब्दों में संचित है। जीवन के समस्त इतिहास को जैनेन्द्र ने केवल तीन शब्दों में अर्थात् चलना, रुकना, भागना में ही उद्घोषित कर दिया है।

जब हम अपने से नहीं भाग सकते, अपने को रोक नहीं सकते तब भागने का

अभिनय क्यों करें। रुकने को जीवन में क्यों ग्रहण करें। जीवन के बाहर रुकना तो है ही, जीवन में नहीं। सुनीतावाद के अनुसार "भागना तो नरक से भी ठीक नहीं, क्योंकि नरक का भय फिर तुम पर सवार ही रहेगा।" अतएव भागने के विपरीत भागने के कारण को हम दूर कर दें। क्योंकि, भागने पर भागने के कारण का भय हम पर बना ही रहेगा। और, भय का बना रहना जिन्दगी को कमज़ोर करना है।

सुनीता हरिप्रसन्न से कहती है—"जाओ, लेकिन जाकर कहाँ पहुँचोगे ? वहाँ जहाँ दुनिया नहीं है ? ऐसी कौन जगह है ? कौन जगह है कि जहाँ हम लोग नहीं हैं। तुम्हीं तुम हो ? तुम्हारा हृदय तक भी वह जगह नहीं है, जानते हो ? जो अपने में चुप, बन्द, चैन से क्यों नहीं बैठता ? क्यों वह धड़कता है ? जानते हो ? इसी से कहती हूँ, जहाँ कोई और न हो, वहाँ भी हम हैं, कहो, नहीं हैं ? इससे हरिप्रसन्न मत जाओ। भागना तो नरक से भी ठीक नहीं। क्योंकि नरक का भय फिर तुम पर सवार ही रहेगा।" सुनीतावादी दर्शन यहाँ है।

सुनीतावादी परमात्मा का विश्वास प्राप्त करना चाहता है। परमात्मा पर विश्वास करता है और उसकी प्रार्थना में से बल प्राप्त करना चाहता है। सुनीता हरिप्रसन्न से कहती है—"हम दोनों परमात्मा का विश्वास पायें और उसकी प्रार्थना में से बल पाएँ।"

भागने के आन्तरिक निजत्व की असंभवता के फलस्वरूप सुनीतावाद परमात्मा का विश्वास प्राप्त करना चाहता है। यद्यपि प्रार्थना में से बल प्राप्त करने का उपदेश सुनीतावाद प्रदान करता है, किन्तु सुनीतावाद की महादेवी धर्म की जड़ता से विमुख है। प्रार्थना में से बल प्राप्त करती हुई भी नहीं पायी जाती। सुनीतावाद को अपने पर यथेष्ठ विश्वास है। सुनीतावाद जीवन को निजत्व का आलोक प्रदान कर आस्था और विश्वास उत्पन्न करता है। सबलता का दम्भ सुनीतावाद में नहीं है। अबलता की स्वीकृति जीवन की अवहेलना नहीं है। जीवन में सीना दिखाना चाहिए, पीठ नहीं।

जीने की अवधि में भय की नदी में डूबकर हम सम्यक् जीवन से हमेशा के लिए हाथ धो बैठते हैं। भय जिन्दगी को तोड़ देता है।

सुनीता कहती है—"परमात्मा पर विश्वास रक्खो। वह भय से हमें तारेंगे।" सुनीता के अनुसार "प्रार्थना से शक्ति आती है।"

विनोबा जी प्रार्थना से शक्ति प्राप्त करते है। वह नित्य प्रतिदिन सामूहिक प्रार्थना में जीवनमय भाग लेते हैं और शक्ति का गौरव प्राप्त करते हैं, किन्तु उपन्यास में ऐसा कोई स्थल नहीं आया जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि सुनीता ने

प्रार्थना में से बल पाया है।

सुनीतावाद कर्म का गीतावाद है। कर्म-स्वीकृति पर वह है। कर्म के आवाहन पर सुनीता-चिन्तन जीवन खर्च करता है। कर्म की गौरव-रक्षा के लिए जीवन का अनुदान वह प्रदान कर सकता है. करने में सूक्ष्म और सबल है।

'अपनी अबलता स्वीकार कर न भागना अच्छा है, कि अपनी सबलता के दम्भ में पीठ दिखाकर भाग खड़े होना अच्छा है ? जिस निर्बलता ने राम का बल पकड़ा है, उसका बल फिर क्यों हारे ?''······('सुनीता')

सुनीतावादी प्रश्नों में जीवन और जीवन-निर्माण का मार्ग-दर्शन निहित है। और, सच तो यह है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों का मूलाधार जीवनपरक चिन्तन, जीवन-परक कुछ प्रश्न ही हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास मूलतः प्रश्नवादी उपन्यास हैं। प्रश्नों में ही जैनेन्द्र के उपन्यास हैं। निराकरण के प्रयत्न हैं, निराकरणवाद अथवा सुनिश्चित और सर्वनिश्चित निराकरण नहीं, प्रश्नों की परिसमाप्ति नहीं। जैनेन्द्र ने जीवन पर अनेक प्रश्न किए हैं। जीवन में जैनेन्द्र एक जागरूक प्रश्नकर्त्ता के रूप में जाते हैं। एक शोधकर्त्ता के रूप में जाते हैं, श्रद्धालु भक्त की अन्ध-विनम्रता और अन्ध-भक्ति लेकर नहीं।

भाग्यवादी हरिप्रसन्न परमात्मा के प्रश्न पर बौद्धिकता का आश्रय लेता है और भाग्य के प्रश्न पर बौद्धिकता से पृथकत्व स्थापित कर लेता है। हरिप्रसन्न कहता है—"परमात्मा हो तो रहे, मैं अपने को उसके साथ क्यों अटकाऊँ ? मैं उसे अपना कष्ट न दूँगा·········"यहाँ मनुष्य का बीसवीं शताब्दीवाद बोल रहा है।

श्रीकान्त, हरिप्रसन्न और सुनीता व्यक्ति-सत्यों से परिपूर्ण हैं। हरिप्रसन्न और सुनीता का पारस्परिक परमात्मा विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैनेन्द्र की संवेदना बौद्धिकता की सेविका नहीं है। जैनेन्द्र में संवेदना बौद्धिकता को शासित करती है, उससे शासित नहीं होती। प्रेमचन्द का संवेदनावाद जैनेन्द्र की अपेक्षा विशेष व्यापक और विस्तृत है। किन्तु जैनेन्द्र का संवेदन वृत संक्षिप्त है, लघु है—संवेदन संक्षेपण है। हाँ, जीवन की हार्दिकता को जैनेन्द्र ने जीवन में स्वीकार किया है।

हरिप्रसन्न चट्टान नहीं, तरल जल चाहता है, यद्यपि उसमें चट्टान का संयम है और चट्टान की कठोरता और दृढ़ता भी। 'कल्याणी' परिसमाप्ति का 'मुझे रहना है' सिद्धान्त हरिप्रसन्न ने परमात्मा-विवेचन में भी प्रतिपादित किया है। परमात्मा का हरिप्रसन्न-विवेचन बौद्धिकता उद्घाटित करता है। परमात्मा का सुनीता-विवेचन संवेदनामयी हार्दिकता की जीवन-तन्मयता है। संवेदनामयी हार्दिकता की जीवन-तन्मयता और कर्म का गीतावाद सुनीतावाद में है। सुनीतावादी आस्था जीवन के आलोक में हरिप्रसन्न का बुद्धि-ज्वर उतर जाता है। सुनीतावाद की जय परिलक्षित होती है, हरिप्रसन्न सुनीतावाद के समक्ष अपने को अपने में आत्म-समर्पण कर

देता है।

जैनेन्द्र जाने को भागना नहीं कहते। तथ्य यह है भी।

हरिप्रसन्न से सुनीता कहती है—"मैं कहती हूँ कि जाओ भले, पर भागो मत··· ···सच कहो, क्या मुझसे भागते हो—"

"तुमसे ?—हाँ—"

सुनीता कुछ मुस्कराई—"तो मैं भी तुमसे भागूँ ?"

"तुम ही कहती हो, भागो मत। मैं तो, हाँ, कहता हूँ, भाग जाओ। वक्त रहे, तब तक भाग जाओ। मुझे भी कहो कि मैं भाग जाऊँ। भाभी, नहीं तो—।"

सुनीता ने व्यंग्य और विनोद भरे शब्दों में कहा—"नहीं तो प्रलय होगी, यही न कहते थे ? अच्छी बात है, मैं भागे जाती हूँ !"

कहकर वह उठ खड़ी हुई। तभी बाहर से आती हुई श्रीकान्त की आवाज़ सुन पड़ी—'हरिप्रसन्न !'

सुनीता खड़ी होते-होते बैठ गई, धीमे से बोली, "लो मैं तो भाग चली थी, पर भागने का द्वार तो रक्षक से घिर गया है ······।"

'सुनीता में पुरुष भागने की अन्धकारपूर्ण चेष्टा करता है, नारी चलती है। अर्थात् नारी जीवन में है, जीवन की है और पुरुष जीवन के विपरीत दिशा-सामजस्य में है। क्रान्तिकारी दल का नायक हरिप्रसन्न भागने की कोशिश करता है। भागने का उपदेश देता है और गृहिणी सुनीता भागने के विरोध में ज्योति-दान करती है। विस्मय की बात यह है। पुरुष भाग सकता है, पर नारी और सुनीता की नारी नहीं भाग सकती—उसके भागने का द्वार रक्षक से घिरा है। पुरुष के द्वार पर कोई रक्षक नहीं है। समाजबोध के वर्गीकृत पुरुष और नारी का वास्तववादी पर्यवेक्षण यह है। उद्धृत कथोपकथन की अन्तिम पंक्ति में नारी-सत्य उद्भासित है—नारी का मर्यादा-वाद। नारी के जीवन-द्वार पर रक्षक, उपस्थित है, अतएव उसकी स्थिति पुरुष से भिन्न है। संघर्ष निष्ठा की एकाग्र पवित्रता और सहज भावापन्न जीवन की सात्त्विकता नारी और 'सुनीता' की सुनीता नारी अर्थात् 'सुनीता' की प्रधान नारी में अवश्य है।

पुरुष के दो रूप हैं—हरिप्रसन्न और श्रीकान्त।

पुरुष का हरिप्रसन्न कहता है······"भाग जाओ। वक्त रहे, तब तक भाग जाओ।"

यदि पुरुष का यह आदेश जीवन में स्वीकार कर लिया जाय, तब जीवन जीवन से दूर हो जायगा। मनुष्य टूट जायगा, मनुष्य-सौष्ठव समाप्त हो जायगा,

जीवन-गरिमा की समाप्ति हो जायगी।

पुरुष का श्रीकान्त कहता है—"हम लोग दुर्गम पथ से दूर हटकर सुगम राह पकड़कर चल रहे हैं तो क्या उस पथ के पथिक को समझना जानते हैं। हरी, घबड़ाना नहीं। हम टूटें तो टूटें, पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना।"

हरिप्रसन्न और श्रीकान्त पुरुष को पूर्ण करते हैं। श्रीकान्त दुर्गम पथ का पथिक नहीं, वह सहज मार्ग का अवलम्बन करता है, किन्तु दुर्गम पथ के पथिक को समझना जानता है। "हम टूटें तो टूटें, पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना"—इस प्रेरणाभरी और जीवनमयी अभिव्यक्ति-गरिमा के द्वारा उपन्यास का उत्तरार्द्ध और हरिप्रसन्न-उत्तरार्द्ध के रूप और कार्य, अप्रत्यक्ष रूप से, निर्देशित होते हैं।

हरिप्रसन्न भागने का हृदय-परिवर्तन और समुज्ज्वल शुद्धिकरण संस्कार सम्पन्न करता है।

वह अपने से भागना नहीं चाहता, अपने से निकल चलना चाहता है। संभव है कि हरिप्रसन्न के भागने की तैयारी अपने से निकल चलने की ही भूमिका हो, क्योंकि लाखों मोहताज हैं, त्रस्त हैं, उनके दुःख की तौल हो सकती है? वह दुःख घर में बैठकर कैसे मालूम हो? वह दुःख क्या उनका ही है जिनको मिल रहा है? क्या तुम और हम निर्दोष की भाँति अलग रह आवें? क्या हम समझें कि उसकी आँच हमें तो लगती नहीं, तब हमें क्या? पर यह गलत है। बाहर आँच हो तब कोठरी में अपने को मूँद लेने में बचाव नहीं होगा। आँख मूँद लेना काफी नहीं है।

अतएव हरिप्रसन्न सुनीता से वही चाहता है जो अपने से चाहता है। वह अपने से बहुत चाहता है—उसके अपने से चाहने में ही समाजबोध का जीवन-वैभव है, समाजबोध का बुद्धत्व भी। तथाकथित व्यक्तिवाद के नाम पर जैनेन्द्र की व्यक्ति-तात्त्विकता का समुचित आदर नहीं किया गया। व्यक्ति-तात्त्विकता में जैनेन्द्र ने समाज-बोध का समष्टि-सत्य अभिव्यक्त किया है। जैनेन्द्र के समाज-बोध के समष्टि-सत्य की जीवन-प्रक्रिया और कला-प्रक्रिया के मूल्यांकन की बड़ी आवश्यकता है। जैनेन्द्र ने समष्टिगत समाज-बोध और समाज-सत्य को व्यक्ति-आन्तरिकता और व्यक्ति-तात्त्विकता के खंड चित्रों में निरूपित किया है।

पिंड में ब्रह्मांड का दिग्दर्शन करने वाले जैनेन्द्र ने समष्टि-सत्य को व्यक्ति-सत्य की तात्त्विकता में समाहित कर दिया है। जैनेन्द्र-निरूपित व्यक्ति-सत्य की तात्त्विकता में समष्टि-निष्ठा की जागरूकता है, समष्टि-निष्ठा का जागरूक जीवन; जैनेन्द्र-निरूपित व्यक्ति-बोध और व्यक्ति-सत्य संवेदनात्मक आदर्श के दृष्टिकोण से

अनुभूति के गंभीर स्तर पर दृष्टिगत करने के विषय हैं। मेरी राय में, सुनीता के व्यक्ति-सत्य में समष्टि-निष्ठा है, व्यक्ति-गरिमा की समष्टिजन्य जीवन-निष्ठा है। व्यक्ति-गरिमा की समष्टिजन्य जीवन-निष्ठा को मैं सुनीता-निष्ठा कहूँगा। व्यक्तिपरक संवेदनात्मक तात्त्विकता को जैनेन्द्र ने समाज-बोध की जीवन-निष्ठा दी है। जैनेन्द्र की व्यक्ति-गरिमा जीवन-निष्ठा से परिपूर्ण है, अपनी सहन-शक्ति और वहन-शक्ति के अनुसार सामाजिकता, तात्त्विकता और संवेदनात्मकता का परिचय वह देती है। जैनेन्द्र का व्यतीत-अपवाद जैनेन्द्र के व्यष्टितंत्र में नामपंथी प्रतिक्रियावाद अवश्य है।

सुनीता-हृदय के व्यामोह में सुनीता स्वीकार करती है—"पति ही में तो नारी की सम्पूर्ण कृतार्थता है।"

कल्याणी-परिधि के पतिवाद में नारी का कृतार्थ हो जाना है, कल्याणी की नारी यह मानती है। सुनीता सोचने की बड़ी स्थिति में है—"मैं इस घर से टूट कर जाऊँगी तो जिऊँगी नहीं······इसी घर की दीवारों के भीतर मेरा स्थान है। घर बंधन है, तो हो; लेकिन मुझे तो मोक्ष भी यहाँ ही पाना है।" घर से सुनीता टूटती नहीं, टूट नहीं पाती। नारी के प्रति जैनेन्द्र का दृष्टिकोण यह प्रकट करता है।

'सुनीता' के पत्नीत्व और नारीत्व में पंचशील सिद्धांत प्रतिपादित और कार्यान्वित किया गया है।

सुनीता-चिन्तन के आलोक में 'सुखदा' का अध्ययन किया जा सकता है

जैनेन्द्र विचार-साक्षात्कार के कथाकार हैं। विचार-साक्षात्कार को जैनेन्द्र ने यथार्थविमुख आदर्श से परिवेष्ठित नहीं किया—विचार साक्षात्कार को यथार्थ की जीवन-गरिमा और जीवन-निष्ठा प्रदान की है। जैनेन्द्र का विचार-साक्षात्कार विचारवाद से भिन्न है—विचारवाद में जीवन-निष्ठा का तात्त्विक सौंदर्य नहीं रहता।

जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' मूलप्रवृत्ति, नारीत्व और व्यक्ति-सत्यों की कथा है। 'त्यागपत्र' की मृणाल जैनेन्द्र के नारी-दर्शन को एक बड़ी सीमा तक स्पष्ट करती है। वस्तुतः 'त्यागपत्र' की मृणाल अपने में एक वाद है—जैनेन्द्र की नारी का प्रतिनिधि पात्र। मृणाल में नारी की मूल प्रवृत्तियों और भारतवाद का अस्तित्व-संघर्ष है अर्थात् मृणालवाद है। मृणालवाद को जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' का अस्तित्व-आधार प्रदान किया है। मृणालवाद जैनेन्द्र-चिंतन के मार्ग में है, जैनेन्द्र-चिंतन का चरम लक्ष्य नहीं। जैनेन्द्र के उपन्यासवाद का 'मैनिफेस्टो' अथवा जैनेन्द्र के उपन्यासवाद की आचार संहिता नहीं।

'त्यागपत्र' उपन्यास जैनेन्द्र के व्यक्ति-बोधात्मक उपन्यासवाद का परिचायक है। 'त्यागपत्र' के जागरूक माध्यम से जैनेन्द्र ने साहित्य में एक वाद विशेष का

प्रवर्तन किया जिसे मैं त्यागपत्रवाद कहना चाहूँगा। त्यागपत्रवाद फ्रायड से विशेषतया प्रभावित है। परन्तु त्यागपत्रवाद में भारत-अन्विति अर्थात् भारतीय-संस्कृति के प्रति जीवित जागरूकता और भारतीय मर्यादा उपस्थित है।

प्रमोद 'त्यागपत्र' का नायक है। प्रमोद त्यागपत्र-पुरुष है। मृणाल के प्रति त्यागपत्र-पुरुष का आकर्षण-उत्ताप केवल शिष्ट पारिवारिकता नहीं है। त्यागपत्र-पुरुष के मृणालपरक आकर्षण-उत्ताप में प्रच्छन्न वासना का इंद्रजाल है जिसमें मूल-प्रवृत्तियों का वैभव और पारिवारिकता के रंग हैं। मृणाल प्रमोद की बुआ ही नहीं, प्रमोद के लिए कुछ और भी है। प्रमोद के मृणालपरक "कुछ और" में ही जैनेन्द्र का प्रमोद-निरूपण निहित है। प्रमोद के जीवन का मृणालवाद वस्तुतः व्यक्तिपरक, व्यक्ति-बोधात्मक निष्ठा है, जिस पर मूल-प्रवृत्तियों का भारतवाद चढ़ा हुआ है। प्रमोद का त्यागपत्र मृणालवाद की प्रतिक्रिया है, जीवन के मृणालवाद की प्रतिक्रिया है, मूल-प्रवृत्तियों के मानव और समाज-सत्यों के मानव के अस्तित्व-संघर्ष में मध्यममार्ग का चयन है। 'त्यागपत्र' अपनी आकार-लघुता के बावजूद भी, जैनेन्द्र के उपलब्धि-सान्निध्य का परिचायक है। क्रांतिकारीदल आदि से सम्बंध रखने वाली जैनेन्द्र की बहुविज्ञापित कथावस्तु से बिल्कुल भिन्न 'त्यागपत्र' की कथावस्तु है। 'त्यागपत्र' में 'विवर्त', 'सुनीता,' 'सुखदा', 'तपोभूमि' आदि का क्रांतिवाद नहीं है। जैनेन्द्रपरक क्रांति-वाद की एकरूपता के कारण जैनेन्द्र के उपन्यास कथावस्तु-वैभिन्य उपस्थित नहीं करते, प्रत्युक्त एक अत्यंत सीमित क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का कथावस्तुवाद का परिचय देते हैं। 'त्यागपत्र' में जैनेंद्र का कथावस्तुवाद नहीं, कथावस्तु है। कथावस्तु है, इस-लिए सप्राण है, जीवन के विशेष निकट हैं। लोकवाद अथवा सामाजिकता का ज्वर साहित्य को जीवनमय नहीं बना देता। प्रचलित अर्थों में जैनेंद्र लोकवादी नहीं, लोक-वाद के ज्वर से पीड़ित नहीं। जैनेन्द्र में समाज-बोध का सत्य है, सामाजिकता का ज्वर नहीं।

कथावस्तुवाद कथावस्तु को पंगु बना देता है। अभिव्यक्त कर चुका हूँ कि 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र का कथावस्तुवाद नहीं है। इसलिए, 'त्याग पत्र' में मार्मिकता की धूप है, जैनेन्द्र का विवर्तवाद नहीं। 'विवर्त'—कथानक को जैनेन्द्र ने रेवेन्यू टिकट की तरह अपने उपन्यासों में चिपकाया है। विवर्त—कथानक को जैनेन्द्र ने हस्तगत कर लिया है, जैनेन्द्र उपन्यासवाद में विवर्त-कथानक के माध्यम बन गए। जैनेन्द्र विवर्त-कथानक के बंदी हैं। विवर्त कथानक ने जैनेन्द्र को उपयोग में लाया है। विवर्त-कथानक को ही मैं विवर्तवाद कहता हूँ। विवर्तवाद के प्रति जैनेन्द्र का पूर्वाग्रह अनामंत्रित अतिथि की तरह प्रवेश करता रहा है। 'त्यागपत्र' का विवर्त-

पृथकत्व 'त्यागपत्र' को विशिष्टता का महिमामय आलोक प्रदान करता है।

'विवर्त' अथवा विर्वत-भूमि से मेरा विरोध नहीं : जीवन का लेखक विर्वत की अवहेलना नहीं करेगा, क्रान्ति को वह विराट अर्थों में अवश्य स्वीकार करेगा, किन्तु जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासो में विवर्त को एक सम्प्रदाय का रूप दिया है, जो मुझे विशेष पसन्द नहीं। साहित्य सम्प्रदाय का सेवक नहीं होता। वह जीवन शासित है, जीवन सम्प्रदाय नहीं होता। विवर्त भूमि तथाकथित क्रान्ति की उग्र भूमि है, किन्तु क्रान्ति को जीवन के विराट् अर्थों में स्वीकार करना चाहिये, सम्प्रदाय के रूप में नहीं। खेद है कि जैनेन्द्र की क्रान्ति-कथा-भूमि क्रान्ति को 'वाद' का रूप देती है—क्रान्तिवाद, जिसे जैनेन्द्र के विवर्त के आधार पर विवर्तवाद मैंने कहा है। जैनेन्द्र के कथानक का विवर्तवाद 'त्यागपत्र' में नहीं है। इसलिए भी, मैं 'त्यागपत्र' को जैनेन्द्र-साहित्य का मील स्तम्भ मानता हूं।

'त्यागपत्र' की मृणाल में जैनेन्द्र का व्यक्तिबोध मूलप्रवृत्ति के आलोक में प्रकाशान्वित है। 'व्यतीत' की नारी से भिन्न मृणाल है। 'व्यतीत' की अनिता और चन्द्रकला मृणाल नहीं है। 'व्यतीत' में जैनेन्द्र का व्यक्ति-दर्शन भ्रष्ट हो गया है। 'व्यतीत' का व्यक्ति-दर्शन एक सम्प्रदाय के रूप में आया है, जिस पर व्यक्ति-वास्तव अथवा व्यक्ति-बोध से बहुत ज्यादा व्यक्ति-रिक्तता और समाज-पृथकत्व हावी है। जैनेन्द्र का व्यतीत-दर्शन अर्थात् व्यतीतवाद व्यक्तिबोधात्मकता के प्रति व्यक्ति का विश्वास समाप्त कर देता है, व्यक्ति के विश्वास का बलात्कार करता है। व्यक्ति सत्यों के साथ जैनेन्द्र ने 'व्यतीत' के अनेक स्थलों पर बलात्कार किया है। 'व्यतीत' का जयन्तवाद इस तथ्य का साक्षी है कि जैनेन्द्र तथाकथित व्यक्तिवाद के समाज में व्यक्ति-सत्य के साथ बलात्कार भी कर सकते हैं। जैनेन्द्र का जयन्त व्यक्ति-तथ्य के प्रति अपराधी है। जयन्त होरीवाद नहीं, वह होरी-पृथकता का जन्मजात रोगी है। किन्तु प्रबुद्ध पाठक इसलिये जयन्त के प्रति अनास्था नहीं पालित करता। पात्रों का होरीवादी होना आवश्यक नही। जयन्त के प्रति अनास्था के अन्य कारण हैं।

'त्यागपत्र' में प्रमोद जयन्तवाद से पीड़ित नहीं है। त्यागपत्र-पुरुष व्यक्ति-दर्शन के आधार पर समाज-पृथकत्व और सामाजिक रिक्तता का पोषक नहीं। प्रमोद के त्यागपत्र में जयन्त-उत्तरार्द्ध नहीं है, प्रमोद के अन्दर पल रहे मृणालवाद की प्रतिक्रिया है। प्रमोद का मृणाल-आकर्षण व्यक्ति-तथ्यों के प्रति आस्था का आलोक प्रदान करता है, व्यक्ति को व्यक्ति-सत्यों और व्यक्ति तथ्यों के धरातल पर रखता है, व्यतीतवाद का व्यामोह नहीं रचता। प्रमोदपरक मृणाल-आकर्षण वस्तुतः मूलप्रवृत्ति

की आदि गरिमा में प्रज्वलित है। प्रमोदवादी मृणाल-आकर्षण की बहुविज्ञापित पारिवारिकता में सामाजिक श्लीलता का आवरण है, केवल शुद्ध पारिवारिकता नहीं। उसमें प्रच्छन्न वासना का इन्द्र-धनुष है। प्रमोद का मृणाल-आकर्षण वस्तुतः व्यक्ति सत्य का प्रकाशस्तम्भ है, व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों में ही शामिल है। प्रत्येक व्यक्ति प्रमोद की ही तरह किसी मृणाल के प्रति प्रच्छन्न वासना की पंखड़ियां लेकर आकर्षित होता है, मूल प्रवृत्ति की गरिमा व्यक्ति को मूल रूप से हस्तगत करती है। वह समाज के बाह्य आवरण को विशेष महत्ता नहीं प्रदान करती। मृणाल प्रमोद की बुआ है, पर प्रमोद की हम-उम्र भी है; प्रमोद उसके रूप की ज्वाला के दाह को मूल भूत अनुभूति की मार्मिक गम्भीरता में अनुभूत करता है—

"बुआ का तब का रूप सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसको विधाता देता है। जब देता है, तब कदाचित उसकी कीमत भी वसूल कर लेने की मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है।"

रूप को जैनेन्द्र ने, प्रमोद-अभिव्यक्ति के शब्दों में, विधाता का वरदान माना है। रूप पर विधातावाद का आरोप जैनेन्द्र की आस्तिकता का परिचायक है। रूप की "कीमत वसूल कर लेने की-मन-ही मन नीयत" विधाता की रहती है। इस पंक्ति में जैनेन्द्र के रूप-दर्शन का रहस्य है।

प्रमोद की मृणाल प्रवणता को प्रचलित अर्थों में पाप की संज्ञा दे देना शायद उचित नहीं होगा। 'त्यागपत्र' की प्रथम पंक्ति यह है। "नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी ·····" प्रमोदपरक मृणालप्रवणता में पाप-पुण्य का समीक्षात्मक दृष्टिकोण नहीं है। पाप-पुण्य को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से प्रमोद ग्रहण नहीं करता। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास का पाप-पुण्य विवेचन 'त्यागपत्र' में नहीं है, क्योंकि व्यक्ति को जैनेन्द्र ने आधारभूत सत्यों में रखकर देखने का प्रयत्न किया है। प्रमोदपरक मृणाल प्रवणता, मृणाल-प्रवृत्ति अर्थात् व्यक्ति के त्यागपत्र-पुरुष का मृणाल-वृत्तवाद व्यक्ति का व्यक्ति सत्य है। यह व्यक्ति-सत्य मृणालवाद-अभिव्यक्त व्यक्ति सत्य है। व्यक्ति प्रमोद का आधारभूत मृणालवाद है। प्रमोद का त्यागपत्र यद्यपि भावुकता से दूर नहीं है, किन्तु वह व्यक्ति और प्रमोद के व्यक्ति-सत्य के मृणालवाद की मौन प्रतिक्रिया भी है।

'त्यागपत्र' पढ़कर अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' की याद करने को जी चाहता है।

'त्यागपत्र' के प्रारम्भ में मास्टर जी का प्रसंग अंग्रेजी उपन्यासकार-चार्ल्स डिकेन्स (Charles Dickens) का उपन्यास 'हार्ड टाइम्स' (Hard Times) की याद ताजा करता है। पर, 'हार्ड टाइम्स' के प्रारम्भ में दर्शित ग्रैडग्रिड-शिक्षण और त्याग-

पत्र के प्रारम्भ में वर्णित मास्टर जी के प्रसंग में विपुल अन्तर है।

'त्यागपत्र' में बाल-मनोविज्ञान का अच्छा चित्रण है। 'त्यागपत्र' मूलतः मनोविज्ञान से ज्यादा-से ज्यादा सम्बन्ध रखने वाली हिन्दी की बहुमूल्य कृति है। प्रमोद का मृणाल-आकर्षण और मृणाल का प्रमोद-आकर्षण ! 'त्यागपत्र' के द्विमुखी आकर्षण का जीवन है—समाज-सम्बन्ध का वर्गीकरण मूलप्रवृत्तिवाद की अवहेलना नहीं कर सकता। 'त्यागपत्र' वर्णित मृणालपरक प्रमोद-आकर्षण प्रच्छन्न वासना का इन्द्र धनुष है।

"......उस रोज रात को वह मुझे बहुत देर तक अपने से चिपटाये रहीं। पूछने लगीं—'-प्रमोद ! तू मुझे प्यार करता है ?" सुनकर बिना कुछ बोले मैंने अपना मुँह उनकी छाती के घोंसले में और दुबका लिया। इस पर वह बोलीं—'प्रमोद, मैं तुझे बहुत प्यार करती हूँ।"

यह प्यार नहीं, मृणाल की कामुकता है। यहाँ पर भारतीय मर्यादावाद का उल्लंघन हुआ है। अपने भाई के ही पुत्र, जो उसका हमउम्र है, के साथ यह व्यवहार मर्यादावादियों को निस्सन्देह मान्य नहीं होगा, नहीं होगा।

बहुधा पति के नेतृत्व में जैनेन्द्र की नारी का अंध-विश्वास होता है। 'सुखदा' इस क्षेत्र में एक स्पष्ट अपवाद अवश्य है। मृणाल को विश्वास है कि पति का घर स्वर्ग होता है, किन्तु पति का घर उसके लिए स्वर्ग नहीं सिद्ध हो पाता। 'कल्याणी' की नायिका को विश्वास है कि पति का घर स्वर्ग होता है, किन्तु पति का घर उसके लिए भी स्वर्ग सिद्ध नहीं हो पाता। 'सुखदा' की नायिका के लिए पति का घर स्वर्ग नहीं सिद्ध हो पाता। 'सुनीता' अपवाद अवश्य है।

'त्यागपत्र' की नारी वेश्या नहीं, उसने वेश्यावृत्ति नहीं की। त्यागपत्र-नारी के अभिव्यक्तिवाद के शब्दों में "......जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे ? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है ? उससे मन माँगा जायगा, तन भी मांगा जायगा। सती का आदर्श और क्या है ? पर उसकी बिक्री—न, न, यह न होगा।" त्यागपत्र-नारी का जीवन-दर्शन त्यागपत्र नारी के ही शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है।

मृणाल भ्रम के प्रति सदय है। भ्रम के प्रति मृणाल का सदय होना शायद दायित्व-कृतज्ञता है।

पति-भ्रम के व्यक्ति के लिए मृणाल का यह कथन है—"मैं उसे उसके परिवार को लौटा कर ही मानूंगी। अब समय आया है......" इसी व्यक्ति पर मृणाल आश्रित

है। मृणाल का गर्भ इसी पुरुष का है। तब मृणाल की यह उक्ति मृणाल की उज्ज्वलता का परिचय देती है। इस व्यक्ति के प्रति मृणाल का तथाकथित पतिव्रत धर्म मृणाल की नारीत्व-संश्लिष्टता को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

दुर्जन लोगों की सद्भावना ही बाद में मृणाल की पूँजी बन जाती है। दुर्जन कहे जाने वाले लोगों के बहुत अन्दर वह प्रवेश करती है, तब अनुभूति वह प्राप्त करती है कि "सब के अभ्यन्तर में परमात्मा है। वह सर्वान्तिर्यामी है, सर्वव्यापी है।"

मृणाल के भीतर की श्रद्धा टूटती नहीं, उसके भीतर की श्रद्धा उस पर घिरी रहती है। श्रद्धा के टूटने पर ही वह पुरुष-आह्वान कर सकती है। और, वह अवसर नहीं आया। वह समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के निष्ठापूर्वक कल्याण की प्राथिनी है। तभी वह प्रमोद से कह सकी—"खूब कमा और कमाकर सब इस गड्ढे में ला पटका कर। सुना कि नहीं। रुपये के जोर से यह नरक-कुण्ड स्वर्ग बन सकता है, ऐसा तो मैं नहीं मानती। फिर भी रुपया कुछ-न-कुछ काम आ सकता है।"

सही अर्थों में, पूँजी की जीवन-सार्थकता का भाव यहां निवेदित है, पैसे की जीवनपरक कृतार्थता से वंचित नहीं। और, यह प्रमोद यह नहीं कर सका। इसी की प्रतिक्रिया प्रमोद का त्यागपत्र है, शीर्षक में कथा की सार्थकता है।

जैनेन्द्र ने सृष्टि-लीला के सम्पूर्णत्व को जगत्पिता की छाया में देखा है। जैनेन्द्र के अनुसार परम कल्याणमय का अपनी लीला का विस्तृतीकरण सृष्टि का रहस्य-दर्शन है। परम कल्याणमय जगत्पिता है, जगत्पिता परम कल्याणमय है। जैनेन्द्र का आस्तिकता से परिपूर्ण जागरूक चेतनावाद चिन्तन-मुद्रा में है—

"परम-कल्याणमय, तेरी कल्याणीय लीला को मैं नहीं जानता हूँ। फिर भी रोने-बिलखने की आवाज़ तो चारों ओर से मेरे कानों में भरी आ रही है। यह क्या है, ओ जगत्पिता! तेरी लीला के नीचे यह सब आर्तनाद क्या है?"

जैनेन्द्र का चिन्तक सृष्टि के आर्तनाद का मूल कारण जानना चाहता है, जीवन और सृष्टि में परिव्याप्त रुदन और आर्तनाद भाव को समझना चाहता है। वह जगत्पिता से कल्याण की ही आशा रखता है, इसीलिए वह उसे परम कल्याणमय के रूप में सम्बोधित करता है। पिता अपनी संतानों का अकल्याण कैसे कर सकता है? और, ईश्वर तो पिता ही नहीं, जगत्पिता है।

जगत्पिता से हमारा सम्बन्ध जीवन-ग्रहण और जीवन-विसर्जन का सम्बन्ध है। लीला जगत्पिता की है, परम-कल्याणमय की है; जीते-मरते हम हैं। जैनेन्द्र का चिन्तन-घनत्व सृष्टि के रहस्योद्घाटन में जागरूक है, जीवनयापन और मरण के क्या कारण हैं? जीवन-चेष्टा और जीवन-प्रयत्न क्या हैं? क्यों हैं? अनुत्तरित प्रश्नों

की सदाऋतु ! प्रश्नों का मौन हिमाचल, समुज्ज्वल हिमाचल ! किन्तु, जैनेन्द्र का तत्वकथन है – "भीतर उत्तर है, बाहर भी सब कहीं वही वह लिखा है। जो जानता है, पढ़े। जो जैसा जानता है, वैसा ही पढ़े। वह उत्तर कभी-नहीं चुकता है। अखिल सृष्टि स्वयं में उत्तर ही तो है। अपने प्रश्न का वह आप ही उत्तर है।"

तत्त्वदर्शी जैनेन्द्र का तत्त्व-दर्शन यहाँ अभिव्यक्त हुआ है। जैनेन्द्र गीतावादी हैं। कर्म-फल को ही जीवन का जीवन-सारांश मानते हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन पुरुष के शब्दों में, "कहो कि जो है, कर्मफल है।" कर्म-फल ही प्रमुख है।

तात्विक त्रास-प्लावन जैनेन्द्र के चिन्तक और कथाकार की विशेषता है। जैनेन्द्र के चिन्तन में समाज-पृथक्त्व नहीं, समाज-चिन्तन है, समाज का आधार चिंतन अस्तित्व-चिन्तन है। जैनेन्द्र बोध का समाज-आधार चिन्तन अपने निजत्व के प्रति जागरूक है। अपने को समाज की जड़ों में सींच देना समाज के फलने-फूलने का उपाय है। यह जैनेन्द्र का मार्ग है। आत्मा को खोकर साम्राज्य प्राप्ति की आकांक्षा जैनेन्द्र की नहीं रही। किसी भी परिस्थिति में आत्मा के बिना साम्राज्य जैनेन्द्र मार्ग में ग्राह्य नहीं। आत्मा सृष्टि का तात्विक रत्न है, शेष धूल का ढेर है। रत्न-ढेर खोकर धूल के ढ़ेर की आकांक्षा करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

जैनेन्द्र ने जीवन और सृष्टि, पुरुष और नारी के अनेक प्रश्नों और व्यक्ति तथा व्यक्ति-सत्य की आन्तरिकता को अपने चिन्तन का आधार बनाया है।

मानव-जीवन की गति, जैनेन्द्र के अनुसार, अप्रतिरोध है, अंधी नहीं। मानव जीवन परिभ्रमण नहीं, परिक्रमा है। जीवन मनुष्य का परिक्रमावादी होता है—परिभ्रमण होता नहीं। सीमाएँ बड़ी हैं, सीमाओं का हिमालय बड़ा है।

मूल जीवन को जैनेन्द्र ने ध्यानपूर्वक देखा है, जागरूकता की स्थिति में देखा है। जीवन-बहिरन्तर के अंगारों को जैनेन्द्र ने चिमटे से पकड़ कर देखा है। जीवन की आन्तरिकता में जैनेन्द्र ने प्रवेश करने के दृढ़ प्रयत्न किए हैं। प्रवेश किया भी है।

परिक्रमा परिभ्रमण का भ्रम है, परिभ्रमण का सत्य नहीं। गति सत्य है। गति परिक्रमा की भी होती है, होती ही है। बन्दिनी गति। जीवन और सृष्टि का सार है—वेदना।

जैनेन्द्र के शब्दों में, "मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असल में वह

कहीं नहीं जाता; एक ही जगह पर अपने ही जुए में बंधा हुआ कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है ।"

यहाँ जैनेन्द्र का तत्त्व दर्शन अभिव्यक्त हुआ है । अपने भीतर बूँद-बूँद इकट्ठा हुआ दर्द ही जीवन का सार है, शेष सब छिलके हैं। छिलकों के लिए जीवन का बलिदान नहीं किया जा सकता । छिलकों का मूल्य ही कितना हो सकता है ?

भीतर का दर्द जैनेन्द्र का इष्ट है । धन नहीं, मन चाहिये । क्योंकि, जैनेन्द्र आत्मदर्शी हैं, तत्त्वदर्शी हैं, जीवनदर्शी हैं। जैनेन्द्र पूँजीवादी लेखक नहीं, जैनेन्द्र-कथन है—'धन मैल है ।' दर्द की कृतज्ञतापूर्ण स्वीकृति में से सत्य निकलेगा, प्रकाश अवतरित होगा । अंधकार की खाल ओढ़कर हम मानव-संस्कृति की विपरीत दिशा में जा रहे हैं । उस दिशा में समुज्ज्वल पीड़ा की जीवन-सार्थकता नहीं, भ्रम का चक्रव्यूह है ।

विधाता से जैनेन्द्र ने मानव-निजता का सम्बन्ध प्राणप्रतिष्ठित किया है । मनुष्य का दुःख विधाता का ही दुःख है । मनुष्य का मूलभूत निजत्व अर्थात् आधार-निजत्व विधाता का ही निजत्व है । निजत्व के मार्ग और रूप भिन्न होते हैं, बस । भ्रम जीवन के लिए अनिवार्य नहीं । भ्रम की आवश्यकता जीवन में नहीं पड़नी चाहिए । भ्रम के बिना भी हम जी सकते हैं । सचमुच में, भ्रम के बिना ही हमें जी लेना चाहिए ।

'त्यागपत्र' दर्शन और मनोविज्ञान की सामंजस्य-भूमि है, आलोक-भूमि है । दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा 'त्यागपत्र' की कहानी नियंत्रित है ।

'तपोभूमि' में लेखक के स्थान पर जैनेन्द्रकुमार और ऋषभचरण के नाम हैं । स्वयं जैनेन्द्र ने १३-१२-१९६२ ई० के एक पत्र में मुझे लिखा था—"तपोभूमि का लगभग दो तिहाई अंश मेरा है । लिखे पृष्ठ मेरी ओर से रद्द हो चुके थे । ऋषभचरण ने उन रद्दी कागजों को लिया और कहा कि वह खुद कहानी पूरी बना देना चाहता है । मैंने जेल से लिख दिया कि मेरी बला से, जो चाहे करो; मैं उस लिखे को भूल गया हूँ ।"

'तपोभूमि' का धरिणी-प्रसंग अंग्रेजी उपन्यासकार फील्डिंग (John Fielding) के उपन्यास 'टोम जोन्स' (Tom Jones) से प्रभावित है । किन्तु 'तपोभूमि' का कितना अंश जैनेन्द्र का है और कितना अंश ऋषभचरण का, यह स्पष्ट नहीं होता ।

'सुखदा' में सुखदा की कथा सुखदा स्वयं कहती है । सुखदा की नायिका स्वयं सुखदा है, जैसे 'सुनीता' की नायिका सुनीता और 'कल्याणी' की नायिका स्वयं

कल्याणी।

सुखदा की कथा का ढंग अंग्रेजी उपन्यासकार डेनियल डिफी (Daniel Dofoe) के मॉल फ्लैन्डर्स (Moll Flanders) उपन्यास के ढंग का है। सुखदा में वास्तव में जैनेन्द्र ने जीवन का सुखदा—सत्य स्पष्ट किया है। रीतापन का धुँधला ठहराव उसके अन्दर है। सुखदा के ही शब्दों में, "चारों ओर से काट-काटकर अपने को अलग करती गई, और एकाकी बनकर जिधर भागती हुई चली आई हूँ, वहाँ देखती हूँ—रेत, रेत, रेत! केवल मृगतृष्णिका। जल वहाँ नहीं है, रेत ही लहलहाती मालूम होती रही है। अब थक रही हूँ। दम बाकी नहीं रह गया है। भीतर का नेह इस भागदौड़ में सुखाती रही हूँ। अब सब चुक गया मालूम होता है। ऐसे समय इस अपार रेगिस्तान के बीच आ पड़ी हूँ—ऊपर तपती घाम, नीचे जलती बालू, चारों ओर विजनता। लौटने तक का उपाय नहीं। दम कब टूटकर साथ छोड़ता है, यही एक बाट है।"

जीवन की यह सुखदा-स्थिति है—सुखदावाद। जीवन का सुखदा-ग्रन्थि से पीड़ित वातावरण—दम टूट जाने का काला-काला इन्तज़ार। किन्तु, अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'कल्याणी' में जैनेन्द्र मृत्यु को अनागत का विषय मानते हैं और अनागत जानने का अधिकार स्वीकार नहीं कर पाते।

सुखदा व्यष्टि-संश्लिष्टता के अन्तर्जीवन से परिपूर्ण है। सुखदा-स्थिति में दिशा-समाप्ति नहीं है। मरणोत्तर गति में आस्था उसे है। जीवन को परिभ्रमण के महाचक्र में संचालित वह परिलक्षित करती है। परलोक की तथाकथित पूँजी धर्म-ग्रन्थि अथवा धार्मिक जड़ता से उसने अपने को वंचित रखा है। इस पार की करुणा को उस पार भी कार्यान्वित करना उसकी इच्छा रही है।

एकाकीवाद की उत्तरकालीन स्थिति से परिपूर्ण आत्म-पीड़न और त्रास में सुखदा केवल रेत ही पाती है—मृगतृष्णिका। जल नहीं, रेत का सूखा सागर। थकावट का गहन अन्धकार।

सुखदा के अनुसार, "स्त्री के भी हृदय होता है, और वह भी कुछ दायित्व रखती है। उसके बुद्धि भी होती है और वह निर्णय कर सकती है।" यह ठीक है, किन्तु स्वयं सुखदा ने स्त्रीत्व का समुचित उपयोग नहीं किया, स्त्रीत्व का एकपक्षीय और एकांगी प्रतिपादन किया। और, परिणाम? रेत का समुद्र—बस। जिन्दगी का उखड़ गया धरातल—हाँ।

जैनेन्द्र का त्रासवाद मन की भाव-ग्रंथियों का सतही त्रास है। सुखदा के पति ने सुखदा से कहा—

"जो तुम्हारी ज़िन्दगी है, उसे पूरी तरह स्वीकार करो······तुमको तुम न रहने देकर मैं क्या पाऊँगा ? तुमको पाऊँगा तो तभी, जब तुम हो।"

किन्तु सुखदा की जीवन-पराजय के क्या कारण है ? सुनीता पलायन-स्वीकृति का अन्धकार ग्रहण नहीं करती, जीवन-पराजय उससे डरती है।

सुनीता और सुखदा में मौलिक अन्तर है—सुनीता बस गई, सुखदा उखड़ गई। जीवन की दो विभिन्न स्थितियों का प्रतीकात्मक प्रतिपादन सुनीता और सुखदा करती हैं।

सुनीता--चिन्तन अभिव्यक्त होता है— "किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है ? क्या मैं इसी में बीतूँ ? क्या इसे तोड़कर, लाँघकर एक बड़े हित में खो जाने को मैं आगे बढ़ूँ ? उस विस्तृत हित के लिये जिऊँ, उसी के लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है ?·········मैं इस घर से टूटकर जाऊँगी तो जिऊँगी नहीं।·········इसी घर की दीवारों के भीतर मेरा स्थान है। घर बन्धन है, तो हो; लेकिन मुझे तो मोक्ष भी यहाँ ही पाना है।"

और सुखदा सोचती है कि "घर में स्त्री कितनी पराधीन है। वहाँ उसकी उन्नति के मार्ग प्रायः बन्द ही हैं।·········यह एक चक्कर है, जिसमें जीवन की स्फूर्ति नहीं है। सिर्फ एक क्रम है, और हर व्यतिक्रम अपराध।"

इसीलिए, सुनीता और सुखदा की परिसमाप्ति में गहरा अन्तर है।

'सुनीता' में श्रीकान्त और हरिप्रसन्न मित्र हैं, मित्रता की ऊँची परिभाषा के मित्र। 'सुखदा' में सुखदा का पति और हरीश एक दूसरे के बालसखा हैं। सुनीता—कथा—सामीप्य 'सुखदा' में है। स्त्रीत्व के आवरणवाद में सुखदा ने पत्नीत्व का दुरुपयोग किया। क्रान्ति, देश की स्वतंत्रता आदि पर लेखक ने 'सुखदा' के माध्यम से विचार किया है। 'सुखदा' में लेखक ने यह कहने का अवसर लिया—"हमको आर्थिक कार्यक्रम चाहिए। राजनीतिक पहला कदम है, असली काम आर्थिक है।"

'सुखदा' में लाल ने कहा—"बच्चे को दूध नहीं मिले, शिक्षा नहीं मिले, खुद पूरी खुराक न ली जाए, और—कोशिश हो कि सन्तोष रखें। यह इतना बड़ा झूठ विचार समाज में चला दिया गया है जो हमारी मध्यम श्रेणी को भीतर से खाए जा रहा है। ऊपर से इज्जत रखनी पड़ती है। भीतर से सन्तोष रखना पड़ता है। इस द्वन्द्व से ज़िन्दगी फटी जा रही है।"

पारिवारिक नहीं, सामाजिक संस्कृति का नारा जैनेन्द्र ने 'सुखदा' में बुलन्द किया है।

'सुखदा' में हरीश, लाल, प्रभात आदि चरित्र जैनेन्द्र के व्यक्तिबोधवाद की

अवहेलना करते हैं। किन्तु प्रेमचन्द का वर्गवाद यहाँ नहीं, उसमें राजनीतिक दलवाद प्रमुख है। सुखदा को अश्रद्धा हो आती है "उस पद्धति के प्रति जहाँ व्यक्ति का मानव कुचल दिया जाता है और वह किन्हीं बाहरी आदेशों के हाथों जड़-यंत्र की भाँति व्यवहार करता है।" व्यक्ति में मानव सर्वोपरि है, इसे हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं?

जैनेन्द्र जीवन में आतंक नहीं, जीवनमयी व्यवस्था के पोषक हैं। आतंक के समक्ष जैनेन्द्र और जैनेन्द्र के पात्र घुटने नहीं टेकते।

सुखदा में त्रास और आत्म-पीड़न है। आत्म-पीड़न की गंगा है। स्त्रीत्व के मूल्य-निर्धारण में सुखदा ने त्रुटि की है, इसलिए जीवन ने उसके आगे, अन्त में, 'पराजयवाद' रख दिया—पराजय का तुषार-क्षेत्र! वर्ना, जीवन से सुखदा का विरोध नहीं था। जीवन ने सुखदा का विरोध नहीं किया था।

हरीश क्रान्ति दल का नायक है। किन्तु ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि दल भंग कर देना पड़ता है। हरीश के ही शब्दों में, "मेरा विचार है कि दल भंग कर देना चाहिए। मतलब यह नहीं कि सब आराम से बैठें। बल्कि यह कि अपनी-अपनी जगह अपनी बुद्धि से काम लेकर अपनी परिस्थितियों में राह निकालें और जो एक राष्ट्रीय आन्दोलन हमारे बीच धीरे-धीरे उठकर प्रबल हो रहा है, उसमें अपनी जगह लें।"......क्योंकि, "एक लक्ष्य और एक नीति अब हमें सहज भाव से जुटाये नहीं रखती। भीतर भेद पड़ रहा है। इससे मैं कहता हूँ कि आप लोग जायें। हलके होकर नहीं, क्योंकि काम बहुत पड़ा है और देश पराधीन है। लेकिन दल का रूप अब नहीं रहेगा।"

जैनेन्द्र के हरीश की इन पंक्तियों का विशेष रूप से अध्ययन होना चाहिए। दल भंग क्या इसीलिए हुआ कि भीतर भेद पड़ रहा था? भेद क्यों पड़ रहा था? क्या लाल जैसा जीवनोचित व्यक्ति दल के अनुरूप सिद्ध नहीं हो सकता? दल में व्यक्ति का मानव समाप्त हो जाता है। बाहरी आदर्शों पर यंत्र की भांति वह व्यवहृत होता है। क्या व्यक्तिबोधी जैनेन्द्र ने दल भंग कर व्यक्ति बोधवाद का प्रतिपादन किया है? दल को विलीन कर जनता में खो जाने का आवाहन सुखदा-वृत में हरीश ने किया। जनता में खो जाना दलवाद अथवा वर्गवाद नहीं है। हम जीवन में अपनी परिस्थितियों से राह निकालें। दलवाद का बुद्धत्व जनता में खो जाना है।

विदेशी शासन अर्थात् परतंत्रता के तथाकथित न्याय के समक्ष उग्र-क्रान्ति के नायक का आत्मसमर्पण जैनेन्द्र का प्रतिक्रियावाद मालूम पड़ता है।

हरीश द्वारा जिस राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति संकेत है, वह गांधी-नेतृत्व

से सम्बन्ध रखता है। लेखक गाँधीवादी नहीं, किंतु 'सुखदा' में गांधी-संरक्षणत्व में संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन का अव्यक्त रूप से महत्व प्रतिपादन करता है, क्योंकि सुखदा-अभिव्यंजन में क्रान्ति का दल सफल नहीं हो पाता। वह मूलतः स्वयं गांधी-वाद स्वीकार नहीं करता। हरीश का आत्मसमर्पण हरीश का उज्ज्वल बलिदान नहीं, उसकी कालिमामयी पराजय है, अपने प्रति छद्मवेशी प्रतिक्रियावाद है।

'गाँधी की आँधी' शब्दावली का प्रयोग कर देने से ही कोई लेखक गाँधीवादी नहीं हो जाता। 'सुखदा' में 'गाँधी की आँधी' शब्दावली, 'परख' की प्रथम पंक्ति और 'कल्याणी' में गाँधी शब्द प्रयुक्त हैं। गाँधी जैसी महान सत्ता के प्रति इतना अभिव्यक्त कर देना ही लेखक को गाँधीवादी नहीं बना देता।

जैनेन्द्र-शिल्प-अभिव्यंजन में 'सुखदा' आत्मचरित के रूप में लिखा गया उपन्यास है। 'सुखदा' उपन्यास सुखदा का उपन्यास तो है ही, राजनीतिक क्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले उग्र दल के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया है, जो जैनेन्द्र की पुरानी आदत रही है। क्योंकि, जैनेन्द्र कथात्मकता के क्षेत्र में एक सीमावादी लेखक हैं।

विवर्तवादी उपन्यास 'विवर्त' जैनेन्द्र का एक ऐसा उपन्यास है, जो उग्रपंथी तथाकथित क्रान्तिकारियों की सजग पृष्ठ-भूमि में पुरुष और नारी के कुछ भाग को जाहिर करता है। भुवनमोहिनी नायिका है—'विवर्त' की, विवर्तवाद की, विवर्त वृत की। जितेन भुवनमोहिनी का प्रतिक्रियावादी आकर्षण-पुरुष है। नरेश भुवनमोहिनी का पति है। मुख्यतः इन्हीं तीन पात्रों के इर्द-गिर्द यह उपन्यास घूमता रहा है।

'विवर्त' जीवन के उग्र-पंथ को प्रतिपादित करता है—जीवन में तोड़-फोड़ और तब उसकी प्रतिक्रिया जैनेन्द्रमार्गी प्रतिक्रिया—आत्मसमर्पण, जानबूझ कर किया गया आत्मसमर्पण, मुक्ति का आत्म-समर्पण! उग्रवादी जीवन-पुरुष के मुक्ति-समर्पण के द्वारा किस जीवन-सौष्ठव का मार्ग-दर्शन जैनेन्द्र ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, मैं कह नहीं सकता।

भुवनमोहिनी जितेन पर खुल गई—"मैं सब कुछ हूँ तुम्हारी।"

जितेन ने पूछा—"और पति की ?"

"पत्नी ....।"

यह जैनेन्द्र के पुरुष और नारी का मार्ग-दर्शन है, जिसका प्रतिपादन जैनेन्द्र ने विवर्त वृत में किया है। जाहिर है, इस प्रकार के चरित्रों को पूर्णता में समझने के लिए उनके पूर्व इतिहास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना अनिवार्य है।

जितेन तिरेसठ व्यक्तियों की मौत और दो सौ पन्द्रह व्यक्तियों के आहत

समाज वर्ग-भेद के रोग से पीड़ित है। जितेन का रास्ता—तोड़फोड़ का रास्ता —क्या समाज का वर्ग-वैषम्य मिटा सकेगा ? नहीं। जितेन का उपसंहार इसका साक्षी है।

समाज के आधार-वर्ग के जागरण का आकांक्षी जितेन है। उसके अनुसार, जागरण शास्त्र-उपदेश से नहीं, उग्र पंथ से आयेगा। चीटियों को बूरा खिलाने से समाज-कल्याण नहीं होगा। अहिंसावाद पर उसे आस्था नहीं। अहिंसा का मार्ग सम्पूर्ण नहीं, किन्तु शासन-यन्त्र को जितेन का आत्मसमर्पण क्या उग्र-पंथ का आत्मसमर्पण है, उग्र पंथ की पराजय है ?

जितेन तथाकथित क्रान्तिकारियों का सरदार है। वह कहता है "जेवर घर-गृहस्थी की चीज़ है। दुश्मनी हमारी सिक्के से है। क्यों एक जगह धन इकट्ठा हो जाता है, जबकि सब जगह उसकी जरूरत है ? उसके फैलाने की कोशिश को चोरी कहा जाए कि डकैती—उस कोशिश से हम बाज नहीं आ सकते। इकट्ठा हुआ धन फटेगा......" इकट्ठा हुआ धन फटना चाहिए। ठीक है, किन्तु किस तरह ? धन फैलाने का जितेन-मार्ग क्या स्वस्थ मार्ग है ? क्या विवर्त-वृत में जितेनमार्गियों को-विवर्तवादियों को सफलता मिली ? नहीं। क्यों ? क्या जितेन के भीतर में दबाव हुआ ? जितेन के भीतर के दबाव पर सहसा विश्वास नहीं होता।

धन फैलाने का रास्ता सर्वमान्य और स्वस्थ होना चाहिए, जितेनमार्गियों का रास्ता धन को स्वस्थ ढंग से फैलाने का नहीं। समाज-कल्याणपरक सिद्धान्त अथवा समाज-कल्याणवादी सिद्धान्तवाद का मार्ग जितेन-मार्ग नहीं।

जितेन के शब्दों में, "कैसे पेट भरेगा ? मैं तो कुछ करता नहीं, कमाता नहीं। हममें से कोई कुछ और नहीं करता, ऐसा ही काम-धाम हम करते हैं। क्रान्ति का यही करना कहाता है। दुनिया छीन-झपट की है। झपट कर जो लिये बैठे हैं, हम उनसे छीनते हैं .....।"

पेट भरने का गलत रास्ता अख्तियार करना क्रान्ति में शामिल नहीं है। पंजाब मेल दुर्घटना जितेन के कुकृत्यों के कारण हुई, यह जितेन स्वयं स्वीकार करता है। दुर्घटना में तिरेसठ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और दो सौ पन्द्रह व्यक्ति आहत हुए। जितेन तथाकथित क्रान्तिकारियों का सरदार है। क्या यह क्रान्ति-मार्ग है ? क्रान्ति-मार्ग का चरम लक्ष्य सम्यक् कल्याण होता है—समष्टि-कल्याण ! जितेन के कारण अथवा जितेनमार्गियों के द्वारा समाज-कल्याण अथवा समष्टि-कल्याण नहीं हुआ। हाँ, अनेक निरपराध व्यक्तियों की मृत्यु अवश्य हुई। अनेक निरपराध व्यक्ति हताहत अवश्य हुए। और, इसके लिए दर्शन का अनुचित आश्रय जितेन ने ग्रहण किया कि "मरना किसको नहीं है ? क्या सबको मारने का पाप हमेशा भगवान् को ही उठाते

रहना होगा ? तुम्हारे उस भगवान् की कभी हमें भी तो सहायता करनी चाहिए।"

और भी "होता होनहार है और सब काल कराता है।" यह भुवनमोहिनी अभिव्यक्त होती है। होनहार और काल आदि शब्दों का आयश्र लेकर बेफिक्र हो जाने का भुवनमोहिनी-सन्देश भुवनमोहिनी की पक्षपातरहित सात्विकता के प्रति हमारा आस्था-घनत्व समाप्त हो जाता है। निरपराध व्यक्तियों की हत्या क्रान्ति-मार्ग नहीं है। निरपराध व्यक्तियों के हत्यारे के लिए घृणा नहीं, क्षमा नहीं, आदर नहीं, प्रेम है, सामाजिक वैधता से वंचित प्रेम है।

विवर्त-पुरुष के अनुसार, 'पैसे के बगैर कुछ नहीं होता। सरकार पैसा छाप कर बनाती है, हम लूट कर लाते हैं। छपा पैसा बांटकर वह सिपाही और मेम्बर और नौकर जमा करती है। लाखों सिपाही और लाखों नौकर और हजारों मेम्बर। नौकर अफसर होते हैं, मेम्बर नेता होते हैं। अब हम क्रान्ति करेंगे और उसके लिए रुपया लूटेंगे, बना-बनाया रुपया। बनायेंगे नहीं, लूटेंगे। क्यों जी, बनाने वाला इससे लुट सकता है, टूट सकता है ?......"

अर्थात् लूटना क्रान्ति करना हुआ। सरकार लूटपाट से टूट जायगी। लूटना सरकार को तोड़ने का रास्ता है। पैसा ही सब कुछ है। उसके बिना कुछ नहीं होता। हमारी कृपा है कि हम पैसे बनाते नहीं, लूटते हैं। यही जितेन का क्रान्ति-दर्शन है। यह क्रान्ति का सबसे बड़ा अपमान है। क्रान्ति का कार्यान्वियन नहीं। क्रान्ति का बलात्कार जितेन का क्रान्ति-दर्शन करता है। जितेन के तथाकथित क्रान्ति वाद में निर्माण का आलोक नहीं, विध्वंस का अन्धकार है। जितेन का तथाकथित क्रान्तिवाद क्रान्ति के प्रति श्रद्धा और आस्था के हमारे सम्पूर्णत्व और सम्पूर्ण घनत्व को समाप्त करने में यथेष्ठ सहायक होता है।

जितेन के शब्दों में जैनेन्द्र ने चोरी और सीनाजोरी में कार्य-अन्तर शब्द-आवरण में प्रदर्शित किया है।

जाली रुपया बनाने के परिणाम को जितेन ने आदमी का सस्ता होना बतलाया है। जाली रुपये से "पैसा सस्ता बनता है, पर आदमी नहीं बनता है। आदमी सस्ते पैसे से नीच बनता है।"

और लूट से क्या आदमी मंहगा होता है ? आदमी के सस्ता और मंहगा होने से जैनेन्द्र का क्या तात्पर्य है ? यह विवर्तवृत अथवा जैनेन्द्र-उपन्यास-वृत में स्पष्ट नहीं।

जितेन कहता है—"हम सामान पैसे से लेते हैं। आदमी पैसे से जुटाते हैं, उस पैसे से जिस पर छाप सरकारी है। ऐसे हम सरकार को हटाते नहीं, जमाते हैं ?"

अर्थात् यह सरकार पर कृपा हुई कि तथाकथित क्रान्तिकारीगण सरकारी छाप के पैसे का व्यवहार और उपयोग करते हैं। विवर्त-पुरुष बना-बनाया रुपया लूटने और सरकार के टूटने में सामंजस्य, समभाव और एकत्व स्थापित कर रहा था, किन्तु अब वह सरकार को सुदृढ़ करने का तथ्य-निरूपण कर रहा है। यह सब क्या है ? क्रान्तिकारी के पास कम-से-कम स्वस्थ और सुलझा हुआ क्रान्ति-दर्शन तो अवश्य रहना चाहिए। जितेन द्वारा क्रान्ति का मार्ग-चिन्तन है—

"पैसे के बग़ैर हमारा काम हो सकता है ? या पैसा हो सकता है, जो हमारा हो, सरकार का न भी हो ? हमारा सिक्का, हमारी साख।...............असल क्रान्ति वह है। तमंचा तोप का सामना न कर पाएगा। चलेगा वह जिसके आगे तोप न चले।"

किन्तु रुपये लूटकर जितेन क्या धन को ईश्वर नहीं बनाना चाहता ? उसने तो स्वयं कहा है—"धन लूटकर सिवा इसके क्या होता है कि धन ईश्वर बनता है।' तब धन को ईश्वर बनाने से लाभ ?

जितेन के अनुसार, "सिक्के के हाथ नहीं, श्रम के हाथ सत्ता होनी चाहिए। दाम सिक्का हो और सिक्का मिट्टी हो, तब है क्रान्ति। बाकी तमाशा है, बाकी सब सरकार की पूजा है —।" क्रान्ति कहते हैं, पर करते पूजा हैं।

यही एक भाव और विचार-स्थल है, जहाँ पर मैं जितेन का साथ दूँगा। किन्तु जितेन का यह श्रम-सिद्धान्त केवल शब्द-निरूपण में सीमित है, कार्यान्वियन में नहीं। कार्य के रूप में यह सिद्धान्त 'विवर्त' में अनुवादित नहीं हो पाता। सुनीता-वर्णित हरिप्रसन्न श्रम सिद्धान्त और श्रीकान्त श्रम-सिद्धान्त के आलोक में जितेन के दाम-सिद्धांत का अध्ययन और मूल्यांकन अनिवार्य है।

'विवर्त' का क्रान्तिवाद क्रान्ति नहीं, समाज को दुर्घटनाग्रस्त रेलगाड़ी की स्थिति में लाने का कुकृत्य है।

भुवनमोहिनी जितेन के प्रति अपने प्रच्छन्न वासनात्मक प्यार के कारण व्यक्ति के रूप में अपना समष्टि-आदर्श विस्मृत कर देती है। व्यष्टि-कोमलता की अवैध रक्षा के लिए भुवनमोहिनी का समष्टि-विस्मरण नारी-मापदंड के समुचित आदर्श का स्खलन है।

मोहिनी को यदि जितेन के तथाकथित क्रान्तिवाद में विश्वास नहीं है, तो वह जितेन के प्रति अनावश्यक रूप से सदय क्यों है ?

अपहृता मोहिनी के प्रति जितेन का दुर्व्यवहार 'व्यतीत' में चन्द्रकला के प्रति जयन्त के दुर्व्यवहार के समकक्ष है।

जितेन के पैरों पर माथा टेक कर मोहिनी बोली—"मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, इतने निर्दय न बनो।"

जितेन ने अपना पैर झिटक कर अपने अनुयायियों से कहा कि वे उसे उससे दूर हटा ले जायें। मोहिनी ने बाहों की लपेट से कसकर जितेन की टाँगों को पकड़ लिया। पुनः, मोहिनी जितेन के बूट के तस्मों से ऊपर पाँव के मोजों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी और जितेन अर्थात् विवर्त वृत का प्रधान पुरुष तात्त्विक नारी की इस संवेदनात्मक प्रार्थना पर भीग नहीं पाता। क्योंकि वह अपने अंदर के अमानव को क्रान्ति के पर्दे पर ज्यादा-से-ज्यादा उभारने का कुकृत्य करता है।

औंधी पड़ी सिर को धीमे-धीमे फर्श की कालीन पर पटकती और रह-रहकर फफक उठती चन्द्री के प्रति जयन्त-स्थिति और अपहृता मोहिनी के प्रति जितेन-व्यवहार में समत्व है।

सम्यक् सुनीता की तरह ही, मोहिनी ने कहा—"मुझे सचमुच मार क्यों नहीं देते हो, जितेन? क्यों त्रास पाते हो?" आँसुओं के बीच में से वह अभिव्यक्त हो गई थी।

विवर्तवाद के प्रधान प्रवक्ता ने बेहद तेज होकर जवाब दिया था—"आंसू से बात न कर औरत। सीधी बात कर।"

"कहती तो हूँ जितेन, सीधे मुझे मार दो। टेढ़े से अपने को न मारो।"

नग्न आत्मसमर्पण की स्थिति में सुनीता ने भी हरिप्रसन्न को कहा था—"अपने को मारो मत। हरिबाबू, मरो मत, कर्म करो।"

सुनीता मंडल में पुरुष को सम्यक् निष्ठा की परिपूर्णता में अभिव्यक्त होना ही पड़ा—

"नहीं मारूँगा........."

किन्तु विवर्तवाद पुरुष ने कहा—"मुझे रुपया चाहिए।"

यह उक्ति विवर्तवादी पुरुष के पुरुष वृत के प्रति हमारा सम्पूर्ण विश्वास समाप्त कर देती है। हाँ, वह कहता है, "मुझे रुपया चाहिए।" और, वह मोहिनी को 'बेहया' कहता है और उसके साथ अमानुषिक व्यवहार करने की आज्ञा दे देता है! तब मोहिनी के चेहरे पर गहरी विषादभरी मुस्कराहट आ गई। और.........विवर्त-व्यक्ति पत्थर का आदमी बन जाता है। पत्थर का आदमी—जो आदमी के शब्दों को लेकर बातें करता है, आदमी की तरह मालूम पड़ता है, परन्तु आदमी नहीं है।

किन्तु मोहिनी के अनुसार जितेन उसे अमीरी का दण्ड देता है। यह विवर्त की नायिका के अन्दर का शायद मधुचक्र है जो शब्द-मधुमक्षिकाओं से घिरा है।

किन्तु प्रश्न है कि रुपये रहते हुए भी मोहिनी अर्थात् 'विवर्त' की नायिका 'विवर्त' के नायक को रुपये क्यों नहीं देती ? और विवर्त-उपसंहार में वह रुपये देती है जितेन अर्थात् विवर्त-शासन सूत्रधार के ही कारण ! क्या वह 'गोदान' की मालती की तरह बर्बर प्रेम की आकांक्षिणी है ?

'त्यागपत्र' की मृणाल समाज के तथाकथित निम्नवर्ग के निष्ठापूर्वक कल्याण की प्रार्थिनी है। वह नरक कुण्ड को स्वर्ग बनाने की आकांक्षा करती है। वह इस क्षेत्र में रुपये की स्वस्थ और उचित उपयोगिता समझती है, किन्तु रुपया ही सब कुछ है, ऐसा स्वीकार वह नहीं करती। 'विवर्त' ऐसा स्वीकार करता है।

'व्यतीत' जीवन का स्वस्थ दर्शन नहीं उपस्थित करता। 'व्यतीत' में जीवन का जीवनोचित निर्माण अथवा जीवनोचित प्रतिपादन, अंकन और विश्लेषण नहीं है। 'व्यतीत' मौलिक नकारात्मक से परिपूर्ण है—नकारात्मक उपन्यास है। 'व्यतीत' की विशेषता जीवन में जीवन के लिए नहीं है, यह बहुत बड़ा एक 'नहीं' है। 'व्यतीत' जीवन के प्रति विरोधात्मक प्रतिक्रिया ही अभिव्यक्त करता है। व्यतीतमार्गी दर्शन जीवन के प्रति पीठ दिखलाता है। 'व्यतीत' जीवन के प्रति दायित्व-बोध नहीं व्यक्त करता। 'व्यतीत' में जीवनपरक दायित्व विमुखता है, जीवन-निष्ठा से परिपूर्ण कर्त्तव्यवाद की आत्मघाती अवहेलना।

कह चुका हूँ कि जैनेन्द्र चिन्तन के चित्रकार हैं। व्यतीत-स्थलों पर भी यत्र-तत्र जैनेन्द्र-चिन्तन के जीवित चित्र अवश्य मिल जाते हैं। जैसे,

"कुछ होता है जिसमें हम नहीं होते। सिर्फ वह होता हमसे है। उस पर से आदमी को परखना भ्रम है।"

जयन्त 'व्यतीत' उपन्यास का नायक है। अनिता 'व्यतीत' की नायिका है।

जयन्त के शब्दों में, "नहीं ही तो बना बैठा हूँ। कुछ हाँ की तलाश करनी पड़ेगी।"

सच पूछा जाय तो जयन्त एक नहींवादी पात्र है। हाँ की सार्थकता उसके जीवन में नहीं है। हाँ की तलाश की उसकी इच्छा वाकई हाँ की तलाश नहीं है—नारी के हाँ से भागने की प्रक्रिया है। जयन्त ने जीवन के हाँ को ठुकराया है। जीवन का हाँ जयन्त ने नहीं कहा। व्यतीत-संयोजन में हाँ की जीवन-सार्थकता नहीं है। जयंत का नहींमार्गी जीवन हाँवाद की प्रतिक्रिया है, हाँवाद अथवा हाँ का पूरक नहीं। हाँ के क्षेत्र से मुँह मोड़कर हाँमार्गी चिन्तन का अभिनय जीवन के नहींवाद की ही परिपुष्टता है—अर्थात् जीवनपरक हाँ के विरुद्ध सेना का घनत्व है। जयन्त में जीवनपरक नहींवाद है और अनिता में जीवनपरक हाँ की सार्थकता।

जयन्त की तथाकथित हाँ-अन्वेषण-योजना में जयंत की नकारात्मकता छिपी है, जीवन-अस्वीकृति के प्रति उसका सम्मोहन भी। जयंत का हाँ, नहीं का रूप है। जयन्त में जीवन का नहींवाद है। जैनेन्द्र का सर्वप्रमुख नहींवादी पात्र जयन्त ने अपने जीवन में जीवन की हाँ-सार्थकता ग्रहण करने का उद्योग नहीं किया। जीवन के सम्पूर्णत्व और जीवन के सम्पूर्ण घनत्व को जयन्त ने 'नहीं' के अंधकार में लिया। अतएव जीवन के हाँ का आलोक उसमें खिल नहीं सका। जीवन केवल नहीं का नकली नशा नहीं, तात्विक हाँ की सात्त्विक सार्थकता है। 'नहीं-नहीं' के प्रति जयंत की अतिशय आसक्ति जयंत को केवल एक 'नहीं' ही बना देती है। जयंत-बोध अपने नहींवाद से परिचित है। जयन्त के जीवन और निजत्व का नहींवाद जयंत का सुपरिचित सत्य है। जयंत का नहींमार्गी रूपवाद व्यक्ति-वास्तव, व्यक्ति-बोध और व्यक्ति-सत्य की अमानुषिक अवहेलना करता है। जयंत एक विशेष प्रकार की व्यतीतमार्गी ग्रन्थि से पीड़ित है। इस ग्रंथि को मैं जयंत-ग्रन्थि कहूँगा। यह व्यतीत-ग्रंथि है।

जैनेन्द्र के पात्र भाग्य के प्रति आस्थावादी होते हैं, यद्यपि जैनेन्द्र-पात्र गोदान-वादी होरी नहीं होते। जयंत भाग्य पर आस्था रखता है। 'व्यतीत' में भाग्य-प्रतिपादन है।

जयन्त सत्य-सम्भाषण में अपनी सम्पूर्णता के साथ विश्वास करता है। जैनेन्द्र के पात्र सत्यवादी होते हैं। सत्य-सम्भाषण करते हैं।

जयन्त विवाह से भागता है। विवाह को अनिता धर्म का निर्वाह मानती है। विवाह को जयंत केवल धर्म का निर्वाह नहीं मानता। विवाह पर केवल धर्म की नाटकीयता ही पर्याप्त नहीं है। इसीलिए जयंत का पुरुष अभिव्यक्त होता है—'इससे क्या होगा?'

अनिता ने कहा, अनिता की नारी ने कहा और नारी की अनिता ने भी कहा—"घर बँधकर बैठते तुम, जयंत, तो मेरा भी घर बना रहता। नहीं तो ज्वालामुखी पर बैठी हूँ। कब सब जल जायगा, कह नहीं सकती।"

व्यतीत का व्यतीत-बोधात्मक वृत्तवाद इन तीन पंक्तियों के नेपथ्य में निहित है।

और भी, अनिता ने कहा, अपने पूरे रूप में अनिता ने कहा—"मेरा घर बना रहा तो तुम होगे, उजड़ गया तो भी तुम होगे।"

वह अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण स्पष्टता ले अपने को सुरक्षित रखना चाहती है। क्योंकि, नारी अभिव्यक्त हो जाती है, अभिव्यक्ति सम्पूर्णत्व से वह यथासाध्य अपने को सुरक्षित रखना चाहती है। नारी जितना प्रकट होती है, उससे ज्यादा अप्रकट

रहती है। इसीलिए तो अनिता ने कहा—"खोलकर और क्या कहना है।"

अनिता के अन्दर कुछ मीठा-मीठा ज़रूर है, जिसे लेकर वह जयंत की ओर हमेशा बढ़ती रही है। अपने अन्दर का वह मीठा-मीठा खुद चाट कर वह बीतती जाती है। जयन्त 'व्यतीत' वातावरण का पात्र है, रोग भी। अनिता जयन्त के प्रति आत्मपीड़ित है। जयन्त रोग से पीड़ित है वह।

जयन्त चन्द्रकला से विवाह कर लेता है। चंद्रकला के विषय में स्वयं जयंत के जयंत-व्यक्तित्व की ओर से यह कहा गया है—"चन्द्रकला को देखा है। जीवन वहाँ ज्वार पर है। ठाठ पर ठाठ देकर लहरें आती हैं और उस पर फेन-सा बखेर जाती हैं। बड़ी कमनीय है।" किंतु इसके बावजूद भी चंद्रकला और चंद्रकला की सम्पूर्ण नारी की अमानुषिक अवहेलना जयंत और जयंत-व्यक्ति की ओर से होती है।

जैनेन्द्र का 'व्यतीत' जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न करने का साधक है। जीवन से भागना ज़िंदगी नहीं है। जयत सच्चे अर्थों में जीवन को स्वीकार नहीं करता। जीवन के प्रति जयंत-प्रयत्न अनास्थावाद का पोषक है। 'व्यतीत' का पुरुष-दर्शन अनास्था का दर्शन है। जीवन के प्रति आस्था जयंत में नहीं है। 'कल्याणी' की अंतिम पंक्ति—"मुझे रहने दो। मैं रहना चाहता हूँ—" का जीवनवाद भी 'व्यतीत' में नहीं है। कल्याणी की मृत्यु पर जैनेन्द्र ने जीवन के विपरीत जीवनवाद को ग्रहण किया, किंतु वह जीवनवाद, जीवित रहने का आकांक्षा-वृत्त भी व्यतीत में हम नहीं पाते। व्यतीत-दर्शन अनास्था का विषय है। अनास्था को मैं नास्तिकता नहीं मानता। जैनेन्द्र ने कहीं भी नास्तिकता नहीं प्रकट की। यत्र-तत्र अनास्था अवश्य प्रकट कर दी है। 'व्यतीत' में, व्यतीत वृत्त में अनिता की जयत-लिप्सा के मूल और उसके आधार-व्यक्तित्व में नारी-हृदय का कौन-सा रहस्य सूत्र है—यह एक पंक्ति में नहीं कहा जा सकता, किंतु जयंत का नारी-विकर्षण पुरुषत्व नहीं घोषित करता। व्यतीत दर्शन का पुरुष निर्माणात्मक वैभव से वंचित है। व्यतीतवादी पुरुष में जीवन-प्रयत्न नहीं है। अनिता की जयंत-लिप्सा में 'त्यागपत्र' की मृणाल नहीं बोलती।

विवाद-वैभव 'व्यतीत' की विशेषता है—अर्थात् प्रबुद्ध पाठक एक लम्बे अर्से तक व्यतीतवाद पर तर्क अवश्य कर सकता है। व्यतीतवाद में प्रबुद्ध स्वीकृति का अभाव है। 'व्यतीत' का मार्ग-दर्शन जीवन का अवमूल्यन करता है।

आदमी और घटनाओं में आत्मा का सम्बन्ध है। जैनेन्द्र के शब्दों में, "आदमी घटनाओं में से होता है और उन घटनाओं के सूत्र किस अलक्ष्य में से आते हैं कि पता ही नहीं चलता।" घटनाओं से अलग आदमी को हम कर नहीं सकते। आदमी

में से घटनाएँ भी होंगी ।

जैनेन्द्र के अनुसार "अनश्वर शान्ति.........आध्यात्मिक शांति, पारमात्मिक शान्ति ! उसी के लिए तो विधाता की ओर से अकुंठित यह मृत्यु का दान है ।" जैनेन्द्र मरण का अपमान नहीं करते । मरण की आवश्यकता की पूर्ति में जैनेन्द्र की आस्था है । महादेवी वर्मा मृत्यु को जीवन का चरम विकास मानती हैं । वेदना और मृत्यु के संबंध में जैनेन्द्र और महादेवी एक ही धरातल पर हैं । वेदना और मृत्यु के भाव-संदर्भ में जैनेन्द्र और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन विचार-विश्लेषण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा । स्थानाभाव यहाँ मेरा बाधक है ।

जैनेन्द्र ने शान्ति को स्वाहा के बाद की स्थिति स्वीकार की है ।

जैनेन्द्र पाप-पुण्य का चित्रलेखावादी विवेचन नहीं करते । 'त्यागपत्र' के प्रारम्भ में प्रमोद के शब्दों में जैनेन्द्र ने कहा—"पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी ।" किन्तु व्यतीतमार्गी जयन्त पाप के प्रति 'त्यागपत्र' के प्रमोद की तरह नहीं सोचता । ऐसा क्यों ? जैनेन्द्र 'व्यतीत' के आधार पर व्यक्ति को रूप और दिशा का कौन मार्ग प्रदान करना चाहते हैं ? क्या जैनेन्द्र जीवन में व्यतीत-व्यक्ति-दर्शन कार्यान्वित करना चाहते हैं ? जैनेन्द्र ने विवाह के प्रश्न पर काफी विचार किया है । 'व्यतीत' के शब्दों में, "कहते हैं, विवाह करते हम हैं, होता भगवान के यहाँ है । यह भी सुनता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर तक विवाह की व्याप्ति है । दो एक-दूसरे में एक इस भव में ही नहीं होते, पहले से चले आते हैं । इससे यह काम कर्त्तव्यता से नहीं होता, भवितव्यता से होता है । सचमुच ऐसा ही लगता है ।.........और विवाह सामाजिक है ।"

'परख' में जैनेन्द्र ने कहा था—"विवाह बिल्कुल एक सामाजिक समस्या है, सामाजिक तत्त्व है । तुम भूलते हो, अगर तुम उसे और कुछ समझो । उन कुछ उत्तरदायित्वों से जो जीवन के साथ बँधे हैं, उऋण होने के लिये यह विवाह का विधान है । दुनिया में क्या करना है, उसकी दृष्टि से लाभ क्या पूर्ण होगा, क्या नहीं, कुटुम्बियों की प्रसन्नता किस ओर है और अपना स्वार्थ किस ओर है—ये सभी बातें विवाह के प्रश्न में संश्लिष्ट हैं ।"

'परख' में थोड़ा आगे चलकर जैनेन्द्र ने कहा—"जीवन तो दायित्व है, और विवाह वास्तव में उसकी पूर्णता की राह,—उसकी शर्त ।......प्रेम को इस दायित्व-पूर्ण विवाह में कैसे दखल देने दिया जाय ?"

'सुनीता' और विवर्त' में भी विवाह के प्रश्न पर जैनेन्द्र ने विचार किया है । 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने कहा—

"विवाह की ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही क्या वह टूटती है ? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है ? वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है ? वह गाँठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाय। लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है ?"

और, 'कल्याणी' के लेखक जैनेन्द्र के अनुसार, कल्याणीवाद के अनुसार, "समाज का सत्य वह है जो दो को एक करता है—वह विवाह है, जो दो की दुई को अलग-अलग पुष्ट करती है, ऐसी प्रेम की स्वतंत्रता अनिष्ट है।"

उद्बोधन की रस दृष्टि में भीगी ये पंक्तियाँ स्वयं बोलती हैं, किन्तु विवाह के प्रति जैनेन्द्र-जागरूकता के क्या कारण हैं ?

पुनः जयन्त की याद आती है। हाँ, जयन्त यह स्वीकार कर लेता है कि उसके भीतर बरफ की सिल का आसन डाले कोई अमानव था। जयन्त का बहुत बड़ा हिस्सा इसी अमानव के शासन में रहा है।

विवस्त्र होने में क्या सुख है ? आनन्द है ? दाँत मिसमिसाकर झटके से तन के अंतिम वस्त्र को भी उतार कर पति कहलाने वाले व्यक्ति के मुँह पर जोर से फेंकने में क्या नारी को सुख मिल सकेगा ? चन्द्रकला व्यतीत में ऐसा करती है और पति के नाम से सम्बोधित व्यक्ति ने वस्त्र को जल्दी से हाथों में रोककर आगे बढ़कर चन्द्री अर्थात् चन्द्रकला को हाथों में उठाया और हठात् बिस्तर में दुबका दिया। चन्द्री ने प्रतिरोध किया—कोमल प्रतिरोध। और पति कहलाने वाला व्यक्ति बाहर निकल पड़ता है—चाँद का सेवन करने।

व्यक्ति की किस अवस्था को यह इतिवृत सूचित करता है, सहसा कहा नहीं जा सकता।

चन्द्री अर्थात् चन्द्रकला का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जयन्त के प्रति निर्दोष है। निर्दोषिता ही उसका दोष है। जैनेन्द्र की नारी पुरुष का बोझ नहीं होती। उसमें आत्म-पीड़न और स्वाभिमान है।

जयन्त की युद्ध-स्वीकृति कर्मठता नहीं, पलायन है, कर्त्तव्यता के अर्थ का बलात्कार है। जयन्त केवल एक व्यक्ति कहा जा सकता है। सम्यक् मनुष्य के नाम से सम्बोधित होने का अधिकार क्या उसे दिया जाय—यह प्रश्न विद्वानों का है।

उत्तरार्द्ध जयन्त का युद्ध के प्रति जागरूकता वस्तुतः उसके नारी-विकर्षण और निष्क्रिय पलायनवाद की प्रतिक्रिया है, जिसका परिणाम जयन्त का साधुवेश ग्रहण कर लेना हुआ। जयन्त ने कर्म का गीतावाद नहीं कार्यान्वित किया। जयन्त ने जीवन-प्रयत्न नहीं किया। जयन्त व्यक्तिमत्ता की दिशाहीनता से पीड़ित है, व्यक्ति-

विकास का दिशा-सौष्ठव वह ग्रहण नहीं करता। जयन्त का व्यतीतवाद व्यक्तिमत्ता-प्रसूत दिशाहीनता है, व्यक्तिमत्ताप्रसूत दिशाहीनता का व्यतीतवाद है। जयंत में व्यक्ति-सत्य से ज्यादा पौरुषहीन व्यक्ति के परिधिवाद की दिशाहीनता का सत्य है, व्यक्ति का दिशा-लघुत्व है, दिशा-बोध का आलोक दर्शन नहीं, व्यक्ति का जयंत है।

जैनेन्द्र का दिशा-बोध 'व्यतीत' में स्खलित हो गया है। जैनेन्द्र के दिशा-बोध ने व्यक्ति-सत्य के साथ 'व्यतीत' में विश्वासघात किया है। व्यक्ति का जयन्तवाद 'त्यागपत्र' उपन्यास के प्रमोद से भिन्न है। जयन्त के विपरीत प्रमोद में व्यक्तिमत्ता की एकान्त और जीवनमयी मार्मिकता है। जयन्त में प्रमोद की मार्मिकता नहीं है। 'व्यतीत' की चारित्रिकता की जयन्त-परिसमाप्ति और 'त्याग-पत्र' के प्रमोद त्यागपत्र में भिन्नता है।

प्रमोद के त्यागपत्र में मृणाल के प्रति उसकी पारिवारिक सामाजिकता से प्रच्छन्न कामजन्य पिपासा की प्रतिक्रिया है। प्रमोद की मृणाल ग्रन्थि की प्रतिक्रिया है। जयन्त की जयन्त-परिसमाप्ति में व्यक्ति और समष्टि की सम्पूर्ण व्यक्तिमत्ता का असामाजिक संकलन है। मैं व्यक्तिमत्ता की अवहेलना नहीं करता। करनी भी नहीं चाहिये। किन्तु व्यक्तिमत्ता का जयन्तवाद किसी की सुविधा के हेतु नहीं रहना चाहता। व्यक्तिमत्ता को जैनेन्द्र ने 'व्यतीत' में स्खलनोपरान्त शैथिल्य के वातावरण में आरोपित किया है। जयन्त-शैथिल्य के मूल में जैनेन्द्र के व्यक्तिबोध की मुद्रा-स्फीति है। मैं इसे व्यक्ति-स्फीति कहूँगा। 'व्यतीत' की व्यक्ति-स्फीति में व्यक्तिमत्ता का व्यतीतवाद है। भ्रष्ट व्यक्तिमत्ता है। 'व्यतीत' का व्यक्ति शैथिल्य नारी के प्रति अपराधी है। अनिता, चन्द्रकला आदि के प्रति व्यक्तिपरक अपराध व्यतीतवाद और जैनेन्द्रवादी 'व्यतीत' के प्रति हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति खो देता है। 'व्यतीत' जैनेन्द्र के दिवालियापन का सबूत है। जयन्त के प्रति अनिता-संवेदन नारी के व्यक्ति-प्रवृति प्रवण परिग्रह का परिचायक है। जयन्त की अनिता-अबला व्यक्ति शैथिल्य, व्यक्तिमत्ता की व्यक्तिहीनता, व्यक्तिमत्ता की व्यक्तिहीन असामाजिकता, व्यक्ति-संवेदन के स्खलन-शैथिल्य का परिचायक है। जयन्त में व्यक्ति नहीं रहता। व्यक्ति के रहने का अभिनय होता है।

जयन्त में समाज नहीं है। समाज जयन्त में नहीं है।

जयन्त में व्यक्ति का समाज नहीं होता, व्यक्ति के समाज का सम्मोहन का विसर्जन होता है। व्यक्ति के समाज-सम्मोहन के जयन्तपरक प्रस्तुतीकरण द्वारा जैनेन्द्र ने व्यक्ति को एक अस्वाभाविक वातावरण में, जयन्त-वातावरण में, आरोपित किया है।

'व्यतीत' के जयन्त अथवा व्यतीत-चिन्तन में व्यक्तिबोध-सौष्ठव, व्यक्ति बोध-

वैशिष्ट्य अथवा व्यक्ति बोध तटस्थ वर्गबद्ध सामाजिकता नहीं है; व्यक्ति बोधात्मक सामाजिकता अथवा सामाजिक संश्लिष्टता नहीं है, व्यक्ति का व्यतीतवाद है। व्यक्ति का व्यतीतवाद व्यक्ति का जयन्त-बोध है। व्यक्ति का व्यतीतवाद व्यक्तिमत्ता को विशिष्टता से वंचित करता है।

जयन्त क्लीव, असामाजिक और पलायनवादी है। वह जिन्दगी से भागता है। जयन्त कर्मठ नहीं है। जिन्दगी के अंगारों से वह डरता है। वह अंगारों के समीप जा नहीं सकता। जीवन की युद्ध कर्मठता जयन्त ने उत्पादित नहीं की। जयन्त में जीवनपरक दायित्व-चिन्तन नहीं है। जीवनपरक दायित्व-विमुखता व्यतीतवाद में है। व्यतीतवाद दायित्व विमुखता का निराकरण जैनेन्द्र ने नहीं किया।

जैनेन्द्र को 'कल्याणी' का सृष्टा होने का गर्व होने का अधिकार है। 'कल्याणी' उपन्यास जैनेन्द्र चिन्तन को बड़े अर्थों में अभिव्यक्त करता है।

नायिका के आधार पर उपन्यास का नामकरण हुआ है। कल्याणी का आधार-व्यक्तित्व-जीवन-संश्लिष्टता में है।

कल्याणी जैनेन्द्र की नारी है। जीवन के प्रश्नों की मूर्तिपरकता है। जीवन-संश्लिष्टता की सृष्टिबोधिनी मूर्तिमत्ता है। वह जीवन-प्रश्नों के ॠतु-नीड़ में निवास करती है। वह आन्तरिकता की ग्रन्थियों से घिरी है। ग्रंथियों की एक महाग्रंथि है। वह मृत्यु जागरूक आकृतिवाद है। यद्यपि कल्याणी ईश्वर, ईश्वरत्व और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करती है, किन्तु ईश्वर के शब्दोच्चारण से उसके चेहरे की हंसी गायब हो जाती है और वहाँ एक त्रास लिख जाता है।

कल्याणी के अनुसार एक का सब कुछ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि सब तो ईश्वर के ही ज्ञान में है। सच है कि नारी जितना बाहर है, उससे ज्यादा अन्दर में वह है। नारी जितनी खुली है, उससे बहुत ज्यादा बंद ही है।

कल्याणी में अन्तमुर्खता की सनातन निष्ठा है, किन्तु वह लोकविमुख नहीं है। वह नारीत्व की मीमांसा है। कल्याणी में पलायनवाद नहीं है। जीवन और सृष्टि के सम्बन्ध में कल्याणी में सप्रश्नता है—कल्याणवादी जिज्ञासा।

कल्याणी नारी है, नारीत्व की सांस्कृतिक निष्ठा से परिपूर्ण, नारीत्व के आलोक-भारत से प्रकाशान्वित भी।

प्रत्येक नारी के अन्दर कल्याणी का निवास है, अन्दर की कल्याणी को विकसित करने की सम्यक् आवश्यकता है।

कल्याणी ने त्रास को हँसी के छिलकों में छिपा दिया है। कल्याणी का त्रास जीवन का त्रास है। वह स्त्री है और "स्त्री का पहला दोष तो यही है कि वह स्त्री है।"

कल्याणी के मन का बोझ उसके आत्मपीड़न का बोझ है। मन को वह खोलती है। मन ही यत्र-तत्र उसे अनजाने में खोल देता है। हँसी की साड़ी पहनकर उसकी पीड़ा सृष्टि की आधारभूत पीड़ा बन गई है। कल्याणी कहती है—— 'सिर का बोझ संभल भी जाए, पर मन का यह बोझ कब तक सहारा जा सकता है ! और मैं किसी से उस मन को खोल नहीं सकती। ....अपना बोझ बाँट भी तो नहीं सकती। समझती हूँ कि बाँटने से चित्त हल्का हो जाता होगा। पर और भी तो अपने को लेकर व्यस्त हैं। सबको संभालने को अपनापन है।''

सभी अपने-अपने अस्तित्व नीर में दुबके हुए हैं। अपने को लेकर व्यस्त, सँभालने को अपनापन। वह चित्र को बाँट भी नहीं पाती। चित्र-ग्रंथियों का दिशा-निरूपण वह नहीं करती और भाग्य को सर्वोपरि मान लेती है।

कल्याणी-दर्शन के अनुसार, ''सब भाग्य है, और क्या !'' वह भाग्य से शायद इसलिये नाराज नहीं ! वह तो अपने से ही नाराज है। कल्याणी की कहनी में उसकी अनकहनी का समुद्र है। निजत्व-रक्षा के जीवन-पर्यन्त ज्वर के कारण वह अपने पति से भी अपने को खोल नहीं पाती। पति के कारण उसके आत्म-पीड़न को बल मिला है, किंतु सीधे रूप से नहीं।

आर्थिक-अवलम्बन-स्वातंत्र्य के बावजूद भी पति के प्रति जड़ता के संस्कार भारतीय मर्यादा और स्त्रीत्व के नाम पर वह पालित करती रही है। वह कुछ-की-कुछ समझी जाती रही है, पति के द्वारा और अन्यों के द्वारा। किंतु, यह कल्याणी-सुख का मार्ग नहीं है।

कल्याणी में पत्नीत्व और स्त्री के निजत्व का अस्तित्त्व-संघर्ष है।

पैसा क्या है ? ''वह जगन्नाथ जी का है, जो जगत भर के हैं। उनका प्रतिनिधि बन कर ही कोई धन का स्वामी हो सकता है ('कल्याणी')'' और भी ''ईश्वर दीनानाथ हैं। इससे जो दीनों के हित में किया जाए, ऐसे किसी खर्च में तुम मेरा हाथ नहीं रोक सकोगे। उसके सेवक की हैसियत से अपने लिए अधिक खर्च नहीं करोगे।''

विनोबा जी के अनुसार भी, 'सबै भूमि गोपाल की।' विनोबा जी कल्याणी के पूँजी-उत्सर्ग से अवश्य सहमत होंगे।

जैनेन्द्र को एक गांधीवादी लेखक के रूप में कुछ लोगों ने घोषित कर दिया है। सच कहा जाय तो जैनेन्द्र गांधीवादी नहीं हैं। 'कल्याणी' में गांधीवाद के चिह्न मिल जाते हैं। जैनेन्द्र के अन्य चिह्न मिल जाते हैं। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में गांधीवाद नहीं है। जैनेन्द्र को गांधीवाद का पोषक नहीं माना जा सकता। गांधी-

चिन्तन के कतिपय रत्न 'कल्याणी' में हैं, जैसे धन-उत्सर्ग का दिव्य भाव। किन्तु इतने से ही जैनेन्द्र गांधीवादी नहीं हो जाते। स्वयं जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' में ही गांधी-वाद का अवमूल्यन किया है। अपने प्रथम उपन्यास 'परख' के प्रथम परिच्छेद में जैनेन्द्र ने लिखा—

"बी० ए० पास करने के बाद ताल्स्टाय, रस्किन, गांधी या जाने किसका एक 'विचार-स्फुलिंग' इनके जवानी के तेज खून में पड़ गया था।" यदि अपने प्रथम उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही गांधी का नाम ले लेने के कारण जैनेन्द्र गांधीवादी कहे जाते हैं तो वह ताल्स्टायवादी अथवा रस्किनवादी क्यों नहीं कहे जा सकते हैं? क्योंकि उनके प्रथम उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ताल्स्टाय और रस्किन के भी नाम आए हैं।

कल्याणी मृत्यु के प्रति अतिशय जागरूक है; मृत्यु की अनिवार्यता के प्रति नहीं। जैनेन्द्र के अनुसार, "अपने बस से बाहर की बात कहना सदा झूठ कहना है। यहाँ बचना किसको है? लेकिन जीना-मरना जिसके हाथ है; उसी के हाथ है। हम कौन जो उस पर मुँह खोलें?"

मृत्यु पर हमारा अधिकार नहीं। मृत्यु का सम्यक् अधिकार हम पर है। मृत्यु का विरोध या मृत्यु के प्रश्नों का उत्तर देने का प्रश्न नहीं उठता। जीना-मरना हमारे बस की बात नहीं। जीने-मरने का महासूत्र जिस महासूत्रधार के पास है, उसके समक्ष हमारा मूल्य ही कितना है? मृत्यु मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र से बाहर का विषय है। अपने अन्दर से अन्दर का यह प्रश्न कल्याणी करती है— "लेकिन मैं अभी क्यों जी रही हूँ?" इस प्रश्न का उत्तर उसे नहीं मिल पाता।

यद्यपि उपयोगी कर्म में अपने को भूलकर लगे रहना ही धर्म है, किन्तु कल्याणी कहती है—"भूलना कब तक चलेगा? मानिए आप, सब प्रपंच है, सब छलना है।"

कल्याणी की उपयोगी कर्मसम्बद्धता में कल्याणी-चित्र का दिशा-निरूपण है, जीवन-स्थायित्व अथवा जीवन-अमरत्व, जीवन-तुष्टि के भाव नहीं। कल्याणी का अन्दर उसके बाहर की चमक के साथ मिल नहीं पाता। कल्याणी के बाहर में छिलकों पर रंग छिड़ककर उसके अन्दर को छिपा लेने का प्रयास किया जाता है। भड़कदार बाहर को ओढ़कर अन्दर के हर चेहरे को अन्यथा दिखा लेना बहुत दूर तक संभव हो जाता है।

कल्याणी भगवान के मंदिर से मनुष्य की निजत्व-निष्ठा की पावन गरिमा स्थापित करना चाहती है। मंदिर के प्रति निजत्व-व्रत के बिना मंदिर का मूल्य नहीं रहता।

अपने को सँभालने की अपेक्षा जीवन में अपनी तरह रहना विशेष महत्वपूर्ण और आवश्यक है। कल्याणी में अपने को बूंद-बूंद इकट्ठा करना नहीं, अपने को

सँभाल चलने की अपेक्षा अपनी तरह रहने का निष्कर्ष है, निष्ठा है।

कल्याणी-प्रश्नों में ही सृष्टि का रहस्य सूत्र है। "जिन्दगी क्या है ? हम क्यों जीते हैं ? मैं क्यों जीती हूँ ?" आदि कल्याणी पर प्रश्नों के अतिरिक्त जीवन-गरिमा के अनुकूल दूसरे प्रश्न क्या हो सकते हैं ? प्रश्न की अपेक्षा प्रश्नोत्तर ज्यादा-से-ज्यादा क्लिष्ठ हैं। कल्याणी-प्रश्नों के निराकरण में ही सृष्टि की तात्विकता का संक्षिप्त इतिहास है। आवश्यकता है जीवन-दृष्टि की। कल्याणी जीवन-सम्पूर्णत्व की सिद्धि की साधना करती है। "जिन्दगी क्या है" आदि कल्याणी परक प्रश्न जीवन-सम्पूर्णत्व के प्रति उसकी निष्ठा का परिचय देते हैं। कल्याणी जीवन-गरिमा की छात्रा है।

जीवन की अपूर्णता पर कल्याणी का विश्वास नहीं। जीवन को खंडित कर उसे बहिरन्तर के रंगीन छिलकों में कल्याणी नहीं सजाती। जीवन पूर्णता के पथ पर कल्याणी-संकेत चलते हैं।

कल्याणीवर्णित जगन्नाथ धाम की वर्णनात्मकता में प्रतीकत्व का सूत्र जीवन है, चित्रात्मकता का प्रतीक सौन्दर्य है। कल्याणी वर्णित जगन्नाथ धाम सृष्टि और जीवन के विभिन्न सत्यों के इकाई अध्ययन के रूप में है। जैनेन्द्र-दर्शन चित्र शैली में कल्याणीवादी जगन्नाथ धाम में वर्णित है।

चक्कर में भागने को जैनेन्द्र सम्यक् गति नहीं मानते। चक्करवाद अर्थात् चक्कर में भागना जीवन-गति की अभिव्यक्ति नहीं है।

पत्नीत्व को जैनेन्द्र ने अर्थ-संदर्भ और भाव-संदर्भ अर्थात् जीवन-संदर्भ में स्वीकार किया है। पत्नीत्व संभवतः मूल प्रतिवादी दासता है। किन्तु जीवन में हम जीवन-यापन की दासता स्वीकार नहीं करते ? जीवन-संदर्भ में पत्नीत्व साधना है। सुख-निजत्व का प्रकाशान्वित विसर्जन ही विशिष्टता है।'

जैनेन्द्र के शब्दों में, "विश्व के मूल में यज्ञ है। त्याग पर भोग टिका है। सुख की चाहना यहाँ नहीं हो सकती। सबको सुख नहीं मिल सकता। विशिष्ट वे हैं जो अपने सुखों का विसर्जन करेंगे, कि औरों को सुख मिले।"

यहां जैनेन्द्र-चिन्तन का निर्संग-आलोक जागरूक है।

समाज के प्रति व्यक्ति की उत्तरदायित्व-गुरुता है, जैनेन्द्र ने हमेशा यह प्रतिपादित किया है। व्यक्तिवाद के चकमे में जैनेंद्र ने 'व्यतीत'—अपवाद को छोड़ कर, समाज को, विस्मृत नहीं किया। वह व्यक्ति की समाज-गुरुता के प्रति जागरूक है।

किन्तु "यह धरती मुक्त पुरुषों के लिए नहीं बनी है। हम सदोष हैं, यही कारण है कि हम हैं। जीवन की आवश्यकता का समर्थन भी यही है ·······कोई अपने साथ भी अत्याचारी नहीं हो सकता।"

चिन्तन ने जैनेन्द्र को कथाकार का रूप दिया है। जीवन—चिन्तन व कलात्मक और कथात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए ही 'कल्याणी' की सृष्टि हुई है। सप्रश्नता जैनेन्द्र-साहित्य के आधार-व्यक्तित्व में है। जीवन और जीवन से प्रभावित विभिन्न स्थलों और अवयवों के प्रति जैनेन्द्र की सप्रश्नता और सप्रश्नता का समाधान-सौन्दर्य ही जागरूक है। "सच यह कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे संजोने ही रहना चाहिए। यह व्यथा ही है शक्ति। उसमें किसी का साझा नहीं। उसका दान गलत है। संचय ही उसका इष्ट है। उच्छ्वास में भी उसे व्यय करना भूल है। जितना अंश उसका आनन्द बन जाए, उसी में से खर्च कर सकते हो। बाकी को तो आग के रूप में भीतर रखना ही श्रेयस्कर है। भीतर सुलग निरन्तर चाहिए, बाहर झुलस ठीक नहीं।" (कल्याणी)

भीतर-बाहर के पृथक्त्व और विरोध ही क्लेश है। जीवन के प्रतिकूल है। क्लेश व्यथा नहीं है। क्लेश में व्यथा का जीवन अथवा गौरव नहीं है। जीवन में क्लेश बढ़ाने के पक्ष में जैनेन्द्र नहीं रहे, कल्याणी नहीं रही। कल्याणी व्यथा की तात्त्विकता में है। क्लेश की अभिवृद्धि में नहीं।

जैनेन्द्र ने कल्याणी के दृष्टिकोण से जीवन को देखा है। कल्याणी का भारती तपोवनवाद मूलतः जैनेन्द्र की निष्ठा है, कल्याणी की भारती तपोवन-आस्था जैनेन्द्र की आस्था का सौन्दर्य है। भारती तपोवन-आस्था में कर्मविमुखता, लोकनिरपेक्षता, अकर्मण्यता अथवा पलायनवादिता नहीं है। भारती तपोवन-निष्ठा तो भारतीय संस्कृति के पुनर्जीवन, पुनर्जागरण और पुनर्मूल्याँकन का सत्प्रयास है। कल्याणी की भारती तपोवन-निष्ठा पलायनवाद नहीं है।

कल्याणी का अन्त दुखांत मूलक है। कल्याणी दुखांत है, कल्याणी का अंत दुखपूर्ण नहीं। वह 'कल्याणी'—उपसंहार का "मैं रहना चाहता हूँ" सत्य के जीवनवाद से ओतप्रोत है। मुझे रहने दो। मैं रहना चाहता हूँ—यह जीवन-आस्था नहीं, अस्तित्व-मंडूकत्व, जीवनवादी व्यामोह, जीवनवादी अभिनय है, जीवन के प्रति आस्था नहीं। जीवनवाद में जीवन-सामर्थ्य नहीं रहता। जीवनवाद में जीवन की अस्तित्व-निर्मलता अथवा जीवन-सौन्दर्य नहीं।

किन्तु वस्तुतः जैनेन्द्र-साहित्य का एक प्रमुख प्रकाशस्तम्भ अवश्य है।

जैनेन्द्र भावद्रष्टा हैं, तत्व द्रष्टा हैं। जीवनद्रष्टा जैनेन्द्र का वृतवादी कथा-शिल्प पिंड में ब्रह्माण्ड सिद्धान्त पर आधारित है—वह मध्यवर्गीय व्यक्ति के आत्मपीड़नवाद की देन है।

कथात्मकता के क्षेत्र में जैनेन्द्र परिधिवादी हैं। जैनेन्द्र का कथाक्षेत्र अत्यन्त सीमित है। कथा-वैभिन्य पर जैनेन्द्र उतरे नहीं। वह जीवन के आधारभूत प्रश्नों को आन्दोलित करते हैं—प्रचलितवाद के वृतवाद पर उपन्यासकार जैनेन्द्र आधारित

नहीं।

जैनेन्द्र शब्दों का अपव्यय नहीं करते, शब्द-व्यवहार में मितव्ययी हैं। जैनेन्द्र शब्दों में व्यक्तित्व-प्रतिपादन करते हैं—उन्हें भावात्मकता का रश्मि-बोध प्रदान करते हैं। शब्द-चयन परम्परा-शैली में कलापूर्ण नहीं, भाव-गुम्फित हैं। साधारण शब्दों में असाधारण तात्त्विकता गुम्फित करने में जैनेन्द्र कुशल हैं। पद्मभूषण राजा राधिका रमणप्रसाद सिंह की मिश्रित शैली का सौंदर्यवाद जैनेन्द्र ने ग्रहण नहीं किया।

अहं और समर्पण को जैनेन्द्र ने कथा-रूप दिया है।

अन्तर्वृत्ति-निरूपक उपन्यासकार जैनेन्द्र मनोविश्लेषणवादी वृत्त में बंदी बनाए जाने योग्य नहीं। क्योंकि मनोविश्लेषण जैनेन्द्र का साधन है, साध्य नहीं।

जैनेन्द्र-निरूपित मनोविश्लेषण साध्य-सौष्ठव से पूरित नहीं, साधक-निष्ठा से प्रेरित है। जैनेन्द्र पिंड-सत्य-निरूपक कथाकार हैं—स्फुलिङ्ग-सत्य-निरूपक कथाकार!

बौद्धिकता और हार्दिकता अर्थात् हार्दिक श्रद्धावाद में जैनेन्द्र ने अस्तित्त्व-बोध का निष्ठा-संघर्ष प्रदर्शित किया है। सुनीता के वृत-बोध, कल्याणी की भारती तपोवन-निष्ठा और व्यतीत-सम्मोहिता अनिता में हार्दिक श्रद्धा के चक्रव्यूह के क्या सत्य और महत्त्व हैं, इस ओर जैनेन्द्र ने अपनी उपन्यासशाला में शोध-कार्य किया है।

अहं और समर्पण का राज्यविस्तार जैनेन्द्र ने कथा-शिल्प में कुशल मार्मिकता और बौद्धिकता की तटस्थ संश्लिष्टता के साथ किया है। बहिरन्तर के स्थूल-व्यूह को जैनेन्द्र ने अन्तर्जगत-व्यापार के संकेत-संधान में निरूपित किया है।

चारित्रिकता के रहस्य-प्रयत्न जैनेन्द्र-कुशलता में सम्मिलित रहे हैं। जैनेन्द्र ने युगविशेष की औपन्यासिक कथात्मकता को प्रतीक-वैभव प्रदान करने का गौरव प्राप्त किया है। जैनेन्द्र के उपन्यास इसीलिए प्रतीकवादी हैं, ऐसा मैं अनुभव करता हूँ। उनकी औपन्यासिक चारित्रिकता और चारित्रिक औपन्यासिकता प्रतीकात्मकता से परिपूर्ण हैं। जैनेन्द्र-उपन्यासों का प्रतीकाभिव्यंजन मानव को खलता है—जीवन को उसके पिंड-सत्य में देखने का सुप्रयास करता है।

यह संरक्षण-योग्य विश्वास है कि हिन्दी-उपन्यासों के इतिहास में जैनेन्द्र के उपन्यासों का महत्त्व सदा जागरूक रहेगा।